कला, कल्पना और साहित्य

लेखक

सत्येन्द्र ऐम० ए०, पी-ऐच० डी०

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

प्रकाशक

महेन्द्र, सञ्चालक

साहित्य-रत्न-भंडार

गांधी मार्ग, आगरा।

प्रथम संस्करण	मकर संक्रान्ति सं० २००७ 57	मूल्य ४) सजिल्द ४।)

मुद्रक

साहित्य प्रेस

गांधी मार्ग, आगरा।

कृति और कृतज्ञता

यह मेरे निबन्धों का संग्रह है। इस में आरम्भ के एक सौ छ: पृष्ठों में कला और साहित्य से सम्बन्धित विविध-विषयों की सैद्धान्तिक मीमांसा की गयी है। उपरान्त हिन्दी साहित्य के विविध निर्माताओं के मर्म, युगों की प्रवृत्ति तथा युगीन साहित्य के तत्वों को स्पष्ट किया गया है। अन्त में एक निबन्ध भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी, और एक राष्ट्र-भाषा सम्बन्धी है। लेखक यह समझता है कि राष्ट्र-भाषा के विषय में आज भी चर्चा करते रहने की आवश्यकता है, नहीं तो मार्ग के खतरे बढ़ने की ही अधिक सम्भावना है।

साहित्य के विद्यार्थी के नाते साहित्य का अध्ययन और साहित्य की शोध करते समय जो विविध विचार उदय हुए वे ही इन निबन्धों में लिपिबद्ध हुए हैं। यहाँ पर प्रायः वे ही निबन्ध दिये गये हैं जिनका सम्बन्ध आधुनिक युग से पूर्व के युगों से है। इन्हें यहाँ एक ऐसे क्रम से भी प्रस्तुत किया गया है कि इस काल की ऐतिहासिक भूमि पर साहित्यिक सृष्टि का मूल्यांकन किया जा सके। इनमें से अधिकांश निबन्ध विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं, 'ब्रजभाषा कविता', 'अष्टछाप परिचय', 'सूरदास', 'रीतिकालीन कविता की परम्परा', 'ब्रजभाषा माधुरी', हिन्दी कविता में शृङ्गार रस' आदि 'रेडियो' के लिये लिखे गये और वहाँ से प्रसारित हुए भाषण हैं। इन्हें हम 'आल इण्डिया रेडियो, दिल्ली' के सौजन्य से ही दे सके हैं; और इस कृपा के लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

—सत्येन्द्र

लेखक : व्यक्ति और कृति

डा० सत्येन्द्र हिन्दी के प्रथम श्रेणी के समालोचकों में हैं। उनकी प्रत्येक रचना से हिन्दी-साहित्य के भंडार में नवीन रत्नों का संयोजन हुआ है। इनकी 'साहित्य की झांकी' ने साहित्य के गम्भीर और वैज्ञानिक अध्ययन की नूतन परिपाटी का निर्देश किया। 'गुप्तजी की कला' के द्वारा कवियों और लेखकों की कला-कृतियों के मूल्यांकन की प्रथा का सूत्रपात हुआ। 'हिन्दी एकांकी' हिन्दी में एकांकियों के शास्त्र और समालोचना की पहली वैज्ञानिक और प्रामाणिक पुस्तक है। 'प्रेमचन्द और उनकी कहानीकला' में भी कहानियों के गम्भीर अध्ययन की नयी शैली की ओर निर्देश है, जिसका यथार्थ महत्व तभी जाना जा सकता है, जब समालोचना-शास्त्र पर निष्पक्ष विचार किया जायगा। सत्येन्द्र जी ही वह पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने साहित्य में 'लोकवार्त्ता' की देन की ओर सतत ध्यान आकर्षित कराया है, और उनका 'ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन' नामक ग्रन्थ इस क्षेत्र में एक ऐतिहासिक महत्व की रचना है। सत्येन्द्रजी की प्रत्येक कृति ने साहित्य को सदा नयी दृष्टि से देखने की प्रेरणा दी है। इनकी विद्वत्ता, विस्तृत अध्ययन, गम्भीर वैज्ञानिक दृष्टि, ऐतिहासिक प्रज्ञा, और कला-कृतित्व सभी उच्च कोटि का है, हमें उनके साहित्यिक निबन्धों के इस नये संग्रह को प्रस्तुत करते हुए इसीलिए अत्यन्त प्रसन्नता है कि इनमें भी लेखक की मौलिकता की छाप है; कुछ को छोड़कर इसके अधिकांश निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं, पर वे तो स्थायी अध्ययन के योग्य हैं और हमारा विश्वास है कि ये आज के साहित्यकार और साहित्य के विद्यार्थी को प्रभावित करेंगे तथा उनके लिए अच्छा मानसिक भोजन प्रस्तुत करेंगे। सत्येन्द्रजी की अन्य रचनाओं की भाँति इस पुस्तक का भी साहित्य में स्थान बनेगा और मर्मज्ञ तथा विद्वानों द्वारा स्वागत होगा, ऐसी हमें पूर्ण आशा है।

—प्रकाशक

विषय-सूची

कला का मर्म

कुछ लोगों का मत है कि जब क्रान्ति-काल हो, तब 'कला' का सृजन नहीं हो सकता। 'कला' शान्त परिस्थितियाँ चाहती है।* जब मनुष्य पिसा जा रहा हो, भूख से पागल हो रहा हो, राजनीतिक अत्याचारों से व्यग्र हो, तब सब को मानव के कल्याण में लग जाना चाहिए और इन राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का व्रत लेना चाहिए—यह समय कला के संवर्द्धन का नहीं। कला की उपासना करना ऐसे समय मानव की हत्या करना है; बिखरे हुए मानव-मांस के लोथड़ों पर पैर रखकर नृत्य करने के समान है। रूस में ही नहीं, भारत में भी 'कला' के प्रति यह भय हमें कितने ही विद्वानों में दिखलायी पड़ता है। कितने ही व्यक्तियों ने यह कहा है कि 'साहित्य रचने के स्थान पर कुनैन की गोलियाँ बाँटना ही साहित्यकार को शोभा देता है।' जब बड़े-बड़े विचारक ऐसी बातें सामने रखते हैं, तो ठहरकर यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि आखिर ऐसा क्यों? कला से ऐसा भय क्यों? अथवा कला की यह अवहेलना क्यों?

दूसरे देशों की बात छोड़ें, अपनी ही बात करें वह बोधगम्य होगी। वेदों के कवि के समय से लेकर आजतक अनन्त साहित्य की सृष्टि हुई है—प्रश्न है, क्यों हुई है? वेदों के कवि ने प्रकृति के अद्भुत व्यापारों को देखा, पल-पल पर उसके मेधावी मानस में प्रकृति के सहज संपर्क से नव-नव ज्ञान के स्फुलिङ्ग उत्पन्न हुए, वह उस नव-नव भाव-सृष्टि और ज्ञान-विज्ञान को बिना कहे नहीं रह सका।

---

* देखिये 'Lenin on Art & Literature,' में उद्धृत गुस्ताव लैंडउ (Gustav Landauer) के 'भविष्य और कला' विषयक लेख का अंश।

उसका यह स्वोद्भूत साहित्य था। इन वेदों में क्या सुदास के युद्ध का उल्लेख नहीं? क्या विश्वामित्र का भरत जाति के लिए नदियों से मार्ग देने के अनुरोध का वर्णन नहीं? हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित के यज्ञ-विद्रोह की कथा भी वेदों में ही है।

उपनिषदों में ब्रह्म की खोज हो रही है और देवताओं की प्रतिष्ठा। चैतन्य मानस-मौलिक समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त है—मैं कौन हूँ? कौन बोलता है? कौन सुनता है? मृत्यु और प्राण का रहस्य मनीषी को आकर्षित किये हुए हैं यहाँ भी कहीं सत्यकाम जाबालि के दर्शन हमें होते हैं, तो कहीं नासिकेत को पिता का प्रतिरोध करते पाते हैं।

रामायण के कवि ने इन प्राकृतिक दिव्य अमांसल कल्पनाओं से भिन्न मानव के रूप से मानव भाषा के द्वारा बात कहनी आरम्भ की। राम-लक्ष्मण-सीता इस कवि की भाषा के शब्द बन गये हैं। महाभारत में तो यह बात और भी स्पष्ट है। यहाँ तो यह भाषा अत्यन्त जटिल हो गयी है—दोनों ही काव्य घोर संघर्ष से सम्बन्ध रखते हैं। और, प्रत्येक रचना में पूर्व युग के विरुद्ध चीत्कार भरा पड़ा है। प्रत्येक कवि का स्वर विद्रोह का स्वर है—यह विद्रोह पूर्वापर क्रम से विद्यमान है—वेदों का विरोध उपनिषदों में, उपनिषदों का रामायण में, समस्त वैदिक संस्थान का महाभारत में और स्पष्ट शब्दों में गीता में—बौद्धों में, जैनों में। 'इन दोउन राह न पाई' में जिनका विरोध है, वह अत्यन्त प्रकट है। सूर में कबीर और गोरख का विरोध है, तुलसी में इतनी समन्वय भावना का प्राबल्य लगता ही है, अन्यथा उसका एक-एक शब्द अग्नि स्फुलिङ्ग है, सब से अधिक असमन्वय की उग्रता तुलसी में ही मिलती है, जो ढंग से गाली तक देने में नहीं चूके हैं, और जब ऐसे महात्माओं में यह महाविद्रोह का ताण्डव है, तो साहित्य की अन्य सृष्टि में क्या अवस्था होगी?

कालिदास ने 'मेघदूत', भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' और 'मालती माधव' भी यों सहज ही नहीं लिख दिये। इन सबसे मन उपराम की मादकता में बेसुध नहीं हो जाता।

चित्रकला की ओर देखिए : अजंता का गौरव स्थान अभी तक निर्द्वन्द्व है ! उस कलाकार की प्रिय से प्रिय और कोमल से कोमल अनुभूतिमती सजीव तूलिका ने रेखा और रंगों के विविध अनुष्ठानों से क्या अभिव्यक्ति की है ? क्या भारत-व्यापी बौद्ध बौद्धिक क्रान्ति के इतिहास का सबल प्रतिविम्ब उनमें नहीं है ? क्या वे आज भी दर्शक के मन में अपनी शक्ति के आक्षेप से बुद्ध और बौद्धों के प्रति सहानुभूति सजग नहीं कर देते।

बुद्ध में जिस महत्ता और दिव्यता की कल्पना धर्मशील बौद्धों ने की और उन्होंने जिस भाव को मानव में बुद्ध के प्रति प्रकट कराना चाहा, क्या वह सत्य उनके कलाकारों द्वारा पूर्ण महिमा के साथ बुद्ध की प्रस्तर मूर्तियों में प्रकाशित नहीं हो रहा ? इन मूर्तियों के कारण पुरातत्व के संग्रहालयों के वे स्थल एक विशेष श्रद्धा से अभिभूत दिखायी पड़ते हैं - बुद्ध के महिमा मंडित पूर्णकाय विग्रह के पास पहुँचते ही उसकी कलामय अनलंकृत सजीवता में से बुद्ध और उनकी गरिमा ही पहले झाँक पड़ती है, उस कलाकार को तो हम कहीं बहुत पीछे पड़ा पाते हैं।

यहाँ हमें कला मिलती है अपनी पूर्ण शक्ति के साथ, और हम उस कला में विकास, विवर्तन और क्रान्ति भी पाते हैं।

शांतिकाल का शांत कलाकार यथार्थ कला प्रदान नहीं कर सकता —ऐसे ही काल के व्यक्ति शास्त्र-रचना में लगते हैं। सभी जानते हैं, कला कभी परमुखापेक्षी नहीं रहती, जो परमुखापेक्षी कला है, वह कला का निर्जीव शव है। यदि उससे कुछ अधिक है, तो उसकी चित्र-विचित्र ममी है।

पर, कला विषय से, मानव से, मानव-हित से, ज्ञान से, विज्ञान से अपना अस्तित्व भिन्न रखती है, और इन सबसे अनोखी भी है। कला को हम कल्पना में उस अग्नि के समान देख सकते हैं, जिसमें ज्ञान-विज्ञान सब कुछ आहुत होता रहता है, और सब अग्नि-शिखा ही बन कर निकलता है, विविध रंग शिखाओं में प्रकट हो सकते हैं, पर रहेंगी वे शिखाएँ ही।

जिस कला ने बुद्ध की मूर्ति गढ़ी, वह कृष्ण की भी गढ़ सकती है। जिस कविता में पृथ्वीराज के गीत गाये गये, जिसमें ब्रह्म की

व्याख्या हुई, उसी में कृष्ण और राम भी समा गये। नाटक शकुन्तला पर भी लिखा गया, राम पर भी—और तब से अब तक निरन्तर लिखे ही जाते रहे हैं। वस्तु और विषय से भिन्न कला है अवश्य, पर यहाँ भी वह उस सब से अभिन्न ही है। लड्डू की गोलाई में, उसके रूप मात्र में जो कला मानते हैं, वे गोलाई को अलग करके दूकान पर रखें, तो उस गोलाई का न तो अर्थ ही रहेगा, न मूल्य ही। लड्डू की कला गोलाई में कम, उसके वस्तु-विषयक विविध तत्वों की संयोजना में अधिक है, पर वह सब भी उस रूप की अपेक्षा नहीं कर सकते। सब से मिल कर जो है वह लड्डू है, और उस संयोजना की केन्द्रीय शक्ति कला है। लड्डू बनाने का शास्त्र और विज्ञान लड्डू से भिन्न हो सकता है, पर कला तो उसमें व्याप्त है। ताजमहल के स्थापत्य के तत्वों का अलग-अलग अध्ययन कर उसके निर्माण का शास्त्र और विज्ञान सीखा जा सकता है, पर ताजमहल की कला उसकी उस सम्पूर्ण संस्थिति में ही है। कला की दृष्टि से ताजमहल संपूर्णतः और सर्वांशतः केवल एक विचार-विन्दु (An idea) मात्र है, तभी तो कवि ने उसे आँसू की एक बून्द के रूप में ग्रहण किया।

यहीं हमें यह विदित होता है कि वस्तु और विषयों के मान बदल जाने से कला के गुणों में भी अन्तर आ जाता है, और तब कला का, अधिक से अधिक, ऐतिहासिक मूल्य रह जाता है। कभी तो वह पूर्ण-विचार-विन्दु, जो कला में प्रकट हुआ है, निस्सार और मिथ्या हो जाता है, तब कला का कुछ भी मूल्य नहीं रहता और उसकी शक्ति जैसे खो जाती है। धर्म में मुसलमानों के जागरण घोष के समस्त सुन्दर से सुन्दर मूर्तियाँ ढहकर चकनाचूर हो गयीं, यह कला के प्रति क्रूरता का व्यवहार नहीं था, वरन, कला का अर्थ ही बदल जाने का परिणाम था और कुछ शैतान के भय का अर्थात् अपनी मानसिक दुर्बलता का भी। कला में विविध अन्य तत्वों के साथ एक रूप का प्रलोभक तत्व रहता है और जब तक रूप-सौन्दर्य की परिभाषा ही न बदल जाय, कला के प्रदर्शक चित्र, मूर्ति, काव्य आदि अपना प्रभाव रखेंगे ही। रूप-सौंदर्य की परिभाषा आंशिक रूप से यदा-कदा बदलती रही है, पर सर्वथैव नहीं बदल पायी। फिर भी

इस रूप-सौन्दर्य की जो सामग्री है, वह रूप-सौन्दर्य का मान निश्चय करने में बड़ा हाथ रखती है।

'भगति, भूमि, भूसुर और सुरभि' में जिनका विश्वास है, और इस 'भगति, भूमि, भूसुर और सुरभि' की संस्कृति के तत्वों को जो सत्य मान रहे हैं, जो भक्ति और ज्ञान का उपयोग इस लोक से परे के लिए ही करने में आस्था रखते हैं, आचारों की मध्य-कालीन निष्ठा जिनके लिए सार्थक है, उन्हें 'रामायण' नहीं, 'रामचरित मानस' गद्-गद् करेगी और उन्हें उसमें कला का अलौकिक रूप झिलमिलाता मिलेगा। वे तुलसी को कलम चूमेंगे। किन्तु जिनकी दृष्टि से परलोक एकदम ओझल हो गया है, मानव में जो ब्राह्मण का कोई विशेष अर्थ नहीं समझते, गाय जिनके लिए अपनी इस सम्पूर्ण उपयोगिता के साथ 'गाय' ही रहती है, राज्य राम-राज्य के नाते भी जिन्हें अप्रिय है—क्योंकि अधिकार की मौलिक परिभाषा ही बदल गयी है—ऐसे ऐसे व्यक्ति को 'रामचरित मानस' कहाँ सुन्दर लगेगा—आरम्भ से ही उसे कवि और काव्य की विडम्बनाएँ संत्रस्त कर उठेंगी। पति-पत्नी की संस्कृति में विश्वास रखनेवाला, विलास के विलासमय वर्गवादी राजकीय प्रासादों की धवलता पर उनके अपवाद होने के कारण अर्थात् असामान्य, असाधारण और विलक्षण होने के कारण अवाक् और विस्मय-विमुग्ध होने वाला और इन्द्रिय-संयम तथा मन के दमन में कायरता के दर्शन कर, और उन्हें एकदम स्वस्थ जीवन में नितान्त अनहोनी बातें न समझ—क्योंकि स्वस्थ जीवन में, अवर्ग-वादी मानव में असंयम और उच्छृङ्खलता उस अर्थ में कभी विद्यमान ही नहीं रह सकती, जिसमें वे कामुक वर्ग में मिलती है—सरल स्वस्थ जीवन के सरल-सहज सामान्य पुरुष-स्त्री सम्पर्क तक जिसकी कल्पना नहीं पहुँचती, वह वासवदत्ता और उर्वशी वेश्याओं के त्याग को एक अलौकिकता का रूप देगा और उसकी पूजा करेगा और इसे महान् संस्कृति समझेगा—दूसरे को यह महिमामय कला अपदार्थ हो जायगी। यह प्रगति और अप्रगति का झगड़ा नहीं—यह उस यथार्थता का परिणाम है, जो चाहे जब अयथार्थ भी बन जाती है। आवश्यकता केवल इस प्राणवान यथार्थ को समझ लेने की है।

सत्य कब सत्य है, शिव कब शिव है, सुन्दर कब सुन्दर है ? कुछ शाश्वत है भी ? पर हम देखते हैं कि समय ही सबसे बड़ी युक्ति है, आज उसने इन समस्याओं को जैसे अन्यत्र, वैसे ही साहित्य में भी दूर ठेल दिया है। उस ठेलने का अर्थ यह नहीं कि उसने विचार नहीं किया। वस्तुत: युगों से इस विषय पर विचार हुआ है, फिर भी पूर्णता नहीं आयी—और आज जब कि समाज की नयी-व्यवस्था की क्रान्तिकारी व्याख्या सामने आयी है और उसने सभी वस्तुओं के मूल्याङ्कन को एकदम बदल दिया है, तब यह लगता है कि सत्य, शिव और सुन्दर की समस्या नहीं; प्राप्ति और उपभोग के संघर्ष में वह विगत युग की वस्तु हो गयी है। 'कामायनी' में 'प्रसाद' जी ने जिस देव-सृष्टि के नाश की कथा कही है ये सत्य, शिव और सुन्दर जैसे उसी अमर सृष्टि के वैभव-विलास की सामग्री प्रतीत होते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने लिखा है :—

"उपनयन-प्रथा एक समय आर्य-ब्राह्मणों के पक्ष में सत्य वस्तु थी,—उनकी शिक्षा, दीक्षा, ब्रह्मचर्य, गुरु-गृह-वास, सभी उस समय के भारतवर्षीय आर्यों में प्रचलित उच्च आदर्श प्रभृति के ग्रहण करने के पक्ष में उपयोगी थे। परन्तु जो उच्च आदर्श आध्यात्मिक है, जिसके लिये नियत जागरूक चित्-शक्ति की आवश्यकता है, वह मृत वस्तु की तरह कठिन आचार के पैतृक-सन्दूक में बन्द कर रखने का नहीं है, तभी स्वभावत: ही उपनयन प्रथा इस समय प्रहसन बन गयी है। क्योंकि उपनयन जिस आदर्श का वाहन एवं चिह्न है, वही आदर्श लुट चुका है...।"*

वह भी सत्य ही तो था, जिसके लिए हरिश्चन्द्र ने राज्य त्याग किया, और वीभत्स दासता अथवा जड़ दासता भोगी। वह सत्य आज किसी को भी मान्य नहीं हो सकता और उसके लिए दासता के आचार का पोषण, ब्राह्मण का वह अनाचार सब अशिव और असुन्दर लगते हैं। विश्वामित्र को तो पुरानी परिपाटी के कवियों ने भी मूढ़ ही दिखाया है, विश्वेदेवा जैसे सहृदयों की कल्पना वहाँ दीखती है, पर उससे भी अधिक मूढ़ हरिश्चन्द्र प्रतीत होता है—कवि अथवा नाटककार ने अपनी कला का उपयोग कर जिन परि-

---

* रवीन्द्र—शूद्र धर्म

स्थितियों का निर्माण कर हरिश्चन्द्र को चरमोत्कर्ष के बिन्दु तक 'कर्त्तव्य' की धारणा के लिये पहुँचाया है, वह सब एक-दम कवि अथवा नाटककार का पाखण्ड लगने लगता है—मान्यतायें उस समय की, आज अपना मूल्य खो चुकी हैं, आज देव-सृष्टि ध्वस्त हो रही है, देव-कला भी अपना स्थान छोड़ रही है। आज कलाकार को अपनी कल्पना का यथार्थ उपयोग करना होगा; 'सत्य-शिव और सुन्दर' से आगे जो है, उसे ही मूर्त रूप देकर कला सार्थक हो सकती है। उसके लिये कलाकार जैसा जाग्रत-जीव कभी उन क्षणों की अपेक्षा नहीं कर सकता, जो क्षण निर्वीर्य और अवसाद तथा अगति के क्षण होते हैं और जिसे कुछ लोग 'शान्त' विशेषण दिया करते हैं।

कल्पना

एक विद्यार्थी ने अपनी एक पाठ्य-पुस्तक में पढ़ा "कल्पना" मिथ्या का दूसरा नाम है। मिथ्या कवि के पास आकर कल्पना बन जाती है। दूसरे शब्दों में पाठ्य-पुस्तक के उस निबन्ध-लेखक ने यह स्थापित कर दिया कि कल्पना मिथ्या अथवा असत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। और तब आचार-शास्त्री ने यह निर्णय सुनाया कि कवि को कभी स्वर्ग नहीं मिल सकता !

'यह तो कोरी 'कल्पना' है'····यथार्थवादी ने बल-पूर्वक कहा. यथार्थ से परे ही है कल्पना, जब तक कल्पना 'कल्पना' है वह यथार्थ नहीं हो सकती। वह आदर्श हो सकती है—क्योंकि यथार्थ आदर्श से चिढ़ता है, वह आदर्श को ही यह नाम दे सकता है।

एक व्यवसायार्थी को व्यवसाय-पति ने यह कहकर अपने यहाँ से निकाल दिया कि 'तुम में कल्पना का अभाव है। कल्पनाहीन व्यक्ति व्यवसाय के अयोग्य है।"—और वह कल्पनाहीन व्यवसायार्थी अपने अभाव को उन शब्दों में आज तक नहीं समझ सका।

विधायक कल्पना वैज्ञानिक के लिए अनिवार्य है। विधायक कल्पना ने ही समस्त वैज्ञानिक शोधों को अग्रसर किया है और और सफलता दिलायी है।

'कवि, प्रेमी, दार्शनिक और उन्मादी, सभी कल्पना-ग्रसित होते हैं'—ये शब्द शेक्सपीयर ने अपने एक पात्र से कहलाये हैं।

'स्वर्ण पंखो की परी ! आर्य कल्पने !' कवि ने कल्पना के मानसिक सरस और रञ्जित साक्षात्कार से पुलकित और विभोर होकर लिख डाला !

कल्पना
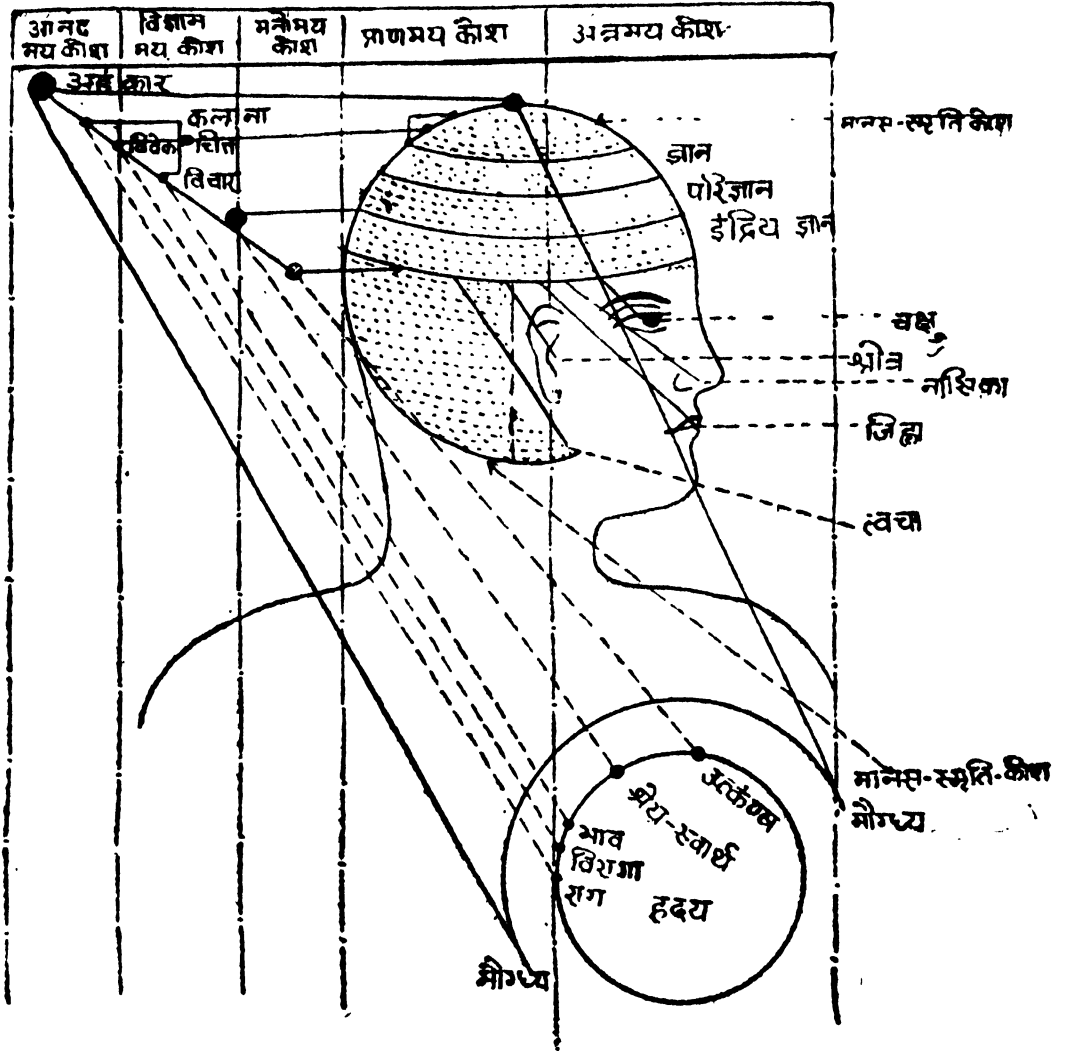
कल्पना का आध्यात्मिक निरूपण। [देखो पृष्ठ ६]

कल्पना का मनोविज्ञान--कल्पना एक मानसिक व्यापार है। मस्तिष्क के द्वारा मन कितने ही व्यापार-सम्पादित करता है जिन्हें हम इस प्रकार समझ सकते हैं।

१—एक ओर यह 'जगत' है; दूसरी ओर मानस है।

२—मानस ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जगत से सम्पर्क प्राप्त करता है।

३—यह प्रथम सम्पर्क 'इन्द्रिय-ज्ञान' होता है। चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिह्वा तथा त्वचा जगत का जो प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते हैं और जिसे पूर्व किसी अनुभव का सहयोग नहीं होता, वह इन्द्रिय-ज्ञान है। इन्द्रिय-ज्ञान वस्तुतः ज्ञान की सीमा को छूता है।

४—इन्द्रिय-ज्ञान मानस के स्मृति कोष में समा जाता है।

५—पुनः इन्द्रिय-ज्ञान होने पर पिछले स्मरण के सहयोग से कुछ समझने योग्य रूप तैयार होता है। यह परिज्ञान है।

६—इस प्रकार का परिज्ञान पुनः पुनः समृद्ध होता जाता है, पुराने अनुभव, नये अनुभव, इनसे बने विविध रूप ये सब 'ज्ञान' हो जाते हैं। मनुष्य जानकार अथवा ज्ञानवान कहा जाने लगता है। प्रत्येक ज्ञान की पृष्ठभूमि स्मृति होती है और नया अनुभव उसे उद्वेलित करता रहता है।

७—ज्ञान-ग्रहण तक शुद्ध 'सत' का भाव रहता है। जो कुछ भी सामने आता है, इन्द्रियाँ ग्रहण करती जाती हैं। वह मानस-कोष में एकत्र होता जाता है।

८—ज्ञान-सम्पादन में मस्तिष्क में तीन प्रक्रियायें होती मिलती हैं।

(अ) इन्द्रिय-ज्ञान से प्राप्त अनुभव सामग्री।

(आ) परिज्ञान से उद्‌मुदित तुलनात्मक चेतना, स्वयं प्रेरित (instinctive) होती है, अतः मात्र 'सत' अथवा 'जड़' की ही एक गति है।

(इ) बोध, सामग्री तथा तुलना से सहज ही कोई निष्कर्ष उपलब्ध हो जाता है। यह रूपात्मक हो सकता है, अथवा केवल सूक्ष्म भाव सम्बन्धी हो सकता है।

९—अतः ज्ञान-सम्पादन की क्रिया से स्वयंमेव एक चेतना तथा बोध उदय होता है। इनसे मनुष्य के 'स्व' का निर्माण होता है, और 'पर' से भेद स्पष्ट होने लगता है।

१०—प्रकृति-दत्त आत्म-निर्माण और आत्म-रक्षा की सहजात प्रवृत्ति इस 'स्व' को और अधिक पुष्ट करती है—तुलना और बोध में 'स्व' का मूल केन्द्र 'स्व' की दृष्टि से ग्राह्य और अग्राह्य की भावना को जन्म देता है—यही भावना विशेष गतिवान होकर 'बुद्धि' का रूप ग्रहण कर लेती है। यह बुद्धि तुलना और बोध से बहुत काम लेती है—और वस्तु के नाम रूप से भी सूक्ष्म भावों को जागृत करने का कारण बन जाती है।

११—बुद्धि की गति को 'विचार' कहते हैं? क्योंकि 'स्व' की दृष्टि से निबद्ध 'बुद्धि' 'स्व' और 'पर' का भेद प्रत्येक ज्ञान में स्थापित करना चाहती है। ये 'स्व' और 'पर' प्रश्न-रूप में उसके समक्ष खड़े होते हैं? प्रश्न अपने साथ 'विचार' लाता है।

१२—मनुष्य में जहाँ आत्म-निर्माण और आत्म-रक्षा की सहजात भावना है, वहीं आत्म-समर्पण अथवा तादात्म्य का भी भाव सहजात है। विचार 'स्व'-'पर' के चिन्तन में मग्न कभी दोनों को भिन्न कभी अभिन्न देखता है। वह यह चाहता है कि दोनों स्वरूप स्थिर रहें—क्या किसका है इसे वह निश्चय नहीं कर सकता, तब विवेक का उद्भव होता है। विचार जहाँ तुलना का चेतन रूप है, विवेक बोध का चेतन रूप है। विचार और विवेक से 'चित्त' अथवा चैतन्य की वृत्ति पूर्ण बलवती होने लगती है।

१३—बलवती चेतना में बड़ी गति और चञ्चलता रहती है। यह उदय होकर मानस और मस्तिष्क की प्रत्येक प्रवृत्ति पर शासन जमाती है और प्रेरणा देती है। यही चेतना इसलिए व्यग्र रहती है कि आत्म-साक्षात्कार किया जाय—यह अपनी गति और व्यग्रता से उपलब्ध सामग्री से अपनी मौलिक चाह के सन्तोष के निमित्त स्वयं कितने ही रूपों का निर्माण करने के लिए प्रवृत्त होती है। यही आनन्द के लिए उत्कण्ठित होती है। चेतना का यह आत्म-रूप उद्योग ही कल्पना कहलाती है. यह कल्पना ही चेतना का यथार्थ लक्षण है।

इसी की जब ऊर्ध्व गति होती है तब आनन्द की अनुभूति हो पाती है। यहीं, इसी के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व को खड़ा कर सकता है, यहीं वह कुछ सृजन करने का दावा कर सकता है।

१४—चित्त की तीसरी वृत्ति कल्पना ही सृजनभाव का उद्रेक कर 'मनुष्य' के अहङ्कार को अवस्थित करती है।

इस विवेचन से 'कल्पना' का मनोवैज्ञानिक रूप स्थिर होता है। भारतीय ऋषियों ने समस्त सृष्टि में तीन स्थितियों की परिकल्पना की। उन्होंने उन तीनों के द्वारा ही ब्रह्म-सृष्टि के विराट तथा सृष्टि के मूल का नामकरण करके उसे 'सच्चिदानन्द' कहा—सत, चित और आनन्द। मानसिक क्षेत्र में शोध से ज्ञात होता है कि कुछ मानसिक वृत्तियाँ केवल सत हैं—मन और बुद्धि तक हम 'सत' मान सकते हैं, कारण यह है कि ये वृत्तियाँ शरीर के अन्य आवश्यक धर्मों की भाँति शारीरिक सत्ता से सम्बद्ध हैं, इनमें स्वयं कर्तृत्व न होकर ग्राहक शक्ति विशेष है। भारतीय दार्शनिकों ने इसीलिए मन तथा बुद्धि के उपरान्त 'चित्त' को माना। 'चित्त' ही मनुष्य की 'चेतन-वृत्ति' है। यही मनुष्य को विचार-विवेक और कल्पना से युक्त करती है, विचार और विवेक तक मनुष्य का चेतन-मानस पदार्थ की जड़ सीमाओं से घिरा रहता है। कल्पना के लिए जड़-जगत से अतिरिक्त चेतन जगत की सत्ता भी है।

और इसी चेतन जगत अथवा सत्ता की शक्ति और कर्तृत्व को कल्पना प्रकट करना चाहती है—वह स्वयं निर्माण में प्रवृत्त होना चाहती है, जो सामग्री ज्ञान-राशि के रूप में उसे प्राप्त है उसका वह स्वच्छन्दता पूर्वक उपयोग करना चाहती है, वह बन्धनों को बन्धन-रूप में ग्रहण नहीं कर सकती। चित्त की यही वृत्ति है जो मानस-क्षेत्र में 'अहंकार' को उभारती है और आध्यात्मिक में आनन्द को शोध करती है और आनन्द को मिलाती है। यहीं हम यह समझ सकते हैं कि मनुष्य के विकास और उसके जीवन को सजीव बनाने के लिए कल्पना अनिवार्य है।

किन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से केवल मानसिक वृत्तियों का निरूपण ही पर्याप्त नहीं होता। भाव भी एक आवश्यक तत्व है, और

उसे मनोविज्ञान में महत्त्व प्राप्त है। भावों में आरम्भिक स्थान औत्सुक्य अथवा उत्कण्ठा का होना चाहिये। ज्ञान अथवा अनुभव सम्पादन के लिए इसके बिना तत्परता नहीं हो सकती। दूसरा स्थान भावों का है। भावोपरान्त 'राग'। यही 'राग' रस और अलौकिक आनन्द में परिणति पा लेता है। मन का सम्बन्ध उत्कण्ठा से होगा; बुद्धि का स्वार्थ-श्रेय से, 'स्व' से; चित्त की 'विचार' वृत्ति का भाव से, विवेक का विराग से और कल्पना का 'राग' से। इस दृष्टि से कल्पना मन और भाव दोनों से 'आनन्द' के लिए मानव को प्रस्तुत कर देती है।

कल्पना और आनन्द—कल्पना मनुष्य के ज्ञान और अनुभव की सामग्री से मन चाहे रूप प्रस्तुत करती है। ऐसा करने में कल्पना एक पावन आध्यात्मिक कर्म करती होती है। वह ऐसे रूप गढ़ती है जो 'स्व' के होते हुए भी 'पर' के हो जाते हैं, और 'पर' के होकर भी 'स्व' के होने का दावा करते हैं। कल्पना ही 'स्व' और 'पर' के बीच की भित्ति को ढहा देती है। यह 'स्व' का 'पर' में और 'पर' का 'स्व' में तादात्म्य और समाहार कर देती है। यही 'साधारणीकरण' का व्यापार है। यह बिना कल्पना के संभव नहीं। 'स्व' और 'पर' के तादात्म्य और समाहार का एक अर्थ है 'अहं' का 'परम' में विलीन हो जाना। कल्पना चित्त अथवा चेतन की सबसे प्रधान और प्रमुख वृत्ति है, सब वृत्तियों से ऊपर, अपने सृजनशील चमत्कार से सभी वृत्तियों को अभिभूत कर लेती है—'कल्पना' में मानव के मानस-व्यक्तित्व का संपूर्णत्व प्रतिष्ठित हो जाता है, और मानव में जो विधायक मौलिक वृत्ति है, उसका उत्कर्ष हो उठता है। इन दोनों से ही मानव का निजी व्यक्तित्व और उसका मोह व्युत्पन्न होता है, यही 'अहं' की स्थिति है और इसकी मानव की अनुभूति 'अहंकार'। 'अहंकार' में समस्त व्यक्ति समा जाता है। उधर 'अहं' से अतिरिक्त, मानव के निजी व्यक्तित्व से बाहर, जो 'पर' की पराकाष्ठा है वह तत्व 'परम-तत्व' है। व्यष्टि का चरम 'अहं'—समष्टि का चरम 'परम'। व्यष्टि का चरम 'अहं' जिस प्रकार मन-बुद्धि के सत् पर आरूढ़ चित्त के उत्कृष्ट करण पर प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार सृष्टि का—समष्टि का 'परम' भी प्रकृति के सत और पुरुष के चित के ऊपर

आनन्द' है, नीचे निरानन्द। सत की भूमि निरानन्द है वह तो मात्र धर्म से धारण की हुई है—कर्तृत्व और निर्माण में जो 'अहं-परं' की अभिव्यक्ति का 'आनन्द' है वहाँ नहीं। अतः 'अहं' व्यष्टि के 'आनन्द' का पर्याय है—जो सत व्यापी मन-बुद्धि उपार्जित संस्कार-परिभाषाओं से आवृत्त है। कल्पना मन और बुद्धि की इस जड़ता को उच्छिन्न करके 'अहं' को 'परम' के 'आनन्द' में, और 'परम' के आनन्द को 'अहं' की पुटी में उँडेल देती है। तभी कवि रहस्य-भेद न करते हुए अवाक् कह उठता है।

'हेरन हार हिरान समुद समानो बुन्द में'—'अहं' से उसमें मुग्धता आती है, पर समष्टि का परम-संपर्क उसे आनन्द विभोर कर देता है। यही कल्पना का यथार्थ पुरुषार्थ है।

साहित्य-चिन्ता

अनादिकाल से साहित्य की सृष्टि होती आयी है, और तब से अब तक का सम्पूर्ण समय विविध युगों में विभाजित करके यह सिद्ध किया जाता रहा है कि जहाँ जगत् में परिवर्त्तन होते हैं वहाँ साहित्य में भी, यद्यपि साहित्यकार समय से बँधा नहीं होता। वह जो लिखता है वह सभी सामयिक मात्र नहीं होता। सामयिकता से भी कुछ अधिक उसकी कृतियों में हमें मिलता है, तभी शताब्दियों पुरानी कृतियों में हमें नवीनता और आनन्द आज भी पढ़ने और देखने पर मिलता है। उसी नवीनता में सार्वभौम सौन्दर्य और सत्य रहता है। अतः साहित्य-स्रष्टा समय का क्रीतदास नहीं। 'समय' से उसे सजग जीवन-तत्त्व प्राप्त होते हैं, और वह भोक्ता की भाँति उन्हें ग्रहण कर रस बना कर सौन्दर्य और शक्ति से परिपूर्ण कर देता है।

राजनीति और समाजनीति, इतिहास-चक्र और अर्थ-चक्र सभी की ओर उसकी दृष्टि रहती है, पर वह वहीं तक न रहकर उस यथार्थ को छोड़ कर उससे आगे के महार्थ को उपस्थित करने में सचेष्ट रहता है। इस प्रकार वह 'समय' को प्रभावित करता है और नव-नव क्रान्तियों का अग्रदूत हो जाता है। जो जातियाँ सदा स्वस्थ रहना चाहती हैं, और अपने गति-अवरोध से पैदा होने वाली दुर्गन्धि तथा सड़ायंद को पसंद नहीं करतीं; जिनको स्फूर्ति और ताजगी में ही जीवन का आनंद मिलता है, ठहर कर कुण्ठित और क्षुब्ध होने में नहीं, वे जाग्रत जातियाँ साहित्यकारों पर कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगातीं। वे उनका आदर करती हैं। वे उन्हें मुक्त वातावरण प्रदान कर मुक्तभाव से मुक्त कथन के लिए प्रोत्साहित करती हैं। इस विधि से वे देश और जाति को नवीन सुन्दर क्षेत्रों में से ले जाती हुई सभ्यता के उत्कर्ष में सहायक होती हैं।

उधर वह साहित्यकार, मुक्त वातावरण में पला साहित्यकार, अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करने लगता है और कभी एक शब्द भी ऐसा नहीं निकालता जो शक्ति-शून्य अथवा अनर्गल हो। वह अपने युग की व्यथा को अपने अन्दर संचित कर शाश्वत वेदना को जन्म देता है । अपने युग का विषपान कर चिरकालीन अमृत उंडेल जाता है। अत: अचिर और चिर का गँठजोड़ा साहित्यकार में मिलता है। तभी साहित्य-चिन्ता भी युगों में विभाजित हो जाती है और तभी उसका कोई भी युग नहीं होता।

भारत की साहित्य-चिन्ता में हमें ऐसे कई युग प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं।

वैदिक काल के साहित्य-चिन्तकों ने मानवातिरिक्त जगत् में दिव्य शक्तियों को 'देव' मानकर उनका अभिनंदन किया। 'स्तुति और प्रार्थना तथा हवि' को उस युग का अस्त्र बनाया। 'यज्ञ' उनका प्रतीक हुआ। वस्तुत: यह शुद्ध धार्मिक काल था। इस जग के जीवन का केन्द्रीय समीकरण यही था।

उपनिषद्-काल में 'देव' 'ब्रह्म' हो गया। 'ब्राह्मण' अस्त्र बना; 'उपासना' प्रतीक हुआ। धार्मिक शुद्धता कम होने लगी।

पुराण-काल में धार्मिक शुद्धता विलुप्त हो गयी। धार्मिक शोषण प्रबल हो उठा। 'मानव' स्वयं शक्तिकेन्द्र बना। 'राजा' और 'वीर' इस युग के मान्य बने। 'पशु-शक्ति' साधन हुआ। समाज के प्रश्न विकट हो उठे।

बौद्ध काल में मानवीय शक्ति-मानवीय दिव्यता में विश्वास होने लगा। 'हृदय'-जगत् का शासन श्रेष्ठ समझा गया। वास्तविक अध्यात्म प्रत्यक्ष हुआ। भाई-चारे का संगठन 'संघ' में हुआ; संघ इस काल का प्रतीक हो गया।

मौलिक युग यहाँ समाप्त हो गये। इसके बाद गुप्त-काल आया। इस काल में 'आदर्श' प्रधान बना। प्राचीनों के प्रति अटूट श्रद्धा को मंत्र बनाया गया। सामाजिक शोषण की नींव पड़ी। धर्म ने तलवार का वरण कर लिया। 'दिग्विजय' प्रतीक बन गया। 'राजभक्ति' में शक्ति समझ पड़ी।

राजपूत-काल में 'दैवकृपा' प्रतीक की भाँति ग्रहण की गई। केन्द्र से शक्ति परिधि की ओर गयी। मनुष्य के 'वचनों' को महत्त्व मिला।

मुसलमानी काल प्रचार-युग हुआ। 'पूजा' इसकाल का प्रतीक बनी; 'धर्म-परिवर्त्तन' साधन।

यहाँ तक का इतिहास हमें यह बताता है कि 'मौलिक युग' और 'अमौलिक युगों' में 'मानव' और उसका 'अध्यात्म' प्रधान रहा। वेदों के साहित्यिक ने मानव के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चार पदार्थों में यथार्थ आदर्श उपस्थित किया। इन सब का मूल 'धर्म' रहा। उपनिषद्‌काल के साहित्यिक ने 'ब्रह्म' ढूँढ़ निकाला और सारे जगत् को उसी के प्रति उन्मुख कर दिया।

महाकाव्य-काल में साहित्य-चिन्तक ने घटनाओं और जगत्-व्यापार को भिन्न दृष्टि से देखना आरंभ किया। एक नयी बात व्याख्या करने के लिए निकाली गयी। महाभारत एक बहुमुखी साहित्यिक क्रान्ति का ग्रंथ है।

रामायण और महाभारत की सभ्यता में लौकिकता को प्रधानता दी गयी। वाल्मीकि से लौकिक काव्य का प्रारम्भ होता है। वाल्मीकि के चरित्रों में स्वाभाविकता है। क्षत्रियत्व का बल बढ़ रहा है। साहित्यकता और दुर्वृत्ति में संघर्ष तो प्रारम्भ हो गया है। फिर भी अर्थ का महत्त्व नहीं है। महाभारतकाल में अर्थ का महत्त्व मान्य हो चला है। राजनीति की प्रधानता प्रारम्भ होती है। वैदिक देवता (इन्द्र) का लौकिकता से संघर्ष हो रहा था। श्रीकृष्ण ने इन्द्र के विरुद्ध गोवरधन की पूजा करायी।

बौद्धकाल ने उस लौकिकता का भी अर्थ बदला, उस काल के साहित्यक ने 'आध्यात्मिक आचार' के स्थान पर 'नैतिक आचार' को प्राधान्य दिया। यहाँ तक नये आदर्शों की सृष्टि की गयी। इससे आगे इन आदर्शों की व्याख्याएँ ही हुईं। यहाँ तक कि हम विविध व्याख्याओं का पठन करते, साहित्यिकों को प्राचीनों का अर्थ लगाते और शोध करते छोड़ एकदम आज के युग में आ गये।

यहाँ एक बात बिल्कुल स्पष्ट दिखायी पड़ती है। अब तक मानव और उसी की दृष्टि से सारा जगत् समझने की चेष्टा थी। मानव का धर्म-अधर्म ही उसके हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश का उत्तरदायी था। साहित्य-चिन्तक यहाँ तक, वैदिक काल के बाद से, राजसिकता और ऐश्वर्य (Oligarchy) को देखता था; ईश्वर-राज्य (Divine Kingdom) का स्वप्न देखता था; उसीके चित्र खींचता था, उसी के आदर्श सामने रखता था।

अब दृष्टि उलटी। अर्थ की दृष्टि से मानव देखा जाने लगा है। मानव ने अपनी दृष्टि से सबको देखते-देखते जगत्-अर्थ को 'स्वार्थ' बना लिया और ईशोपनिषद् का आदेश कि 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्य स्विद्धनं' उसी में लिखा रह गया। इसके प्रति क्रान्ति हो चली है। आज साहित्य-चिन्तक को इस क्रान्ति की ओर दृष्टि डालने के लिए विवश होना पड़ रहा है। इस क्रान्तिकाल में साहित्य-चिन्तक को अधिक से अधिक मौलिक होने की आवश्यकता है, उसे यथार्थ भी होना होगा। सबसे अधिक उसे ईमानदार भी बनना होगा। यथार्थ को भी किन्हीं धारणाओं के कारण आदर्श कहके घृणित और जघन्य अथवा उपेक्षा की वस्तु न बनाना होगा। दो बातों की ओर आधुनिक क्रान्ति जाती दीख रही है: विचारक उन्हें दो मानते हैं। उन्हें, गाँधीवाद और मार्क्सवाद का नाम दिया जाता है। पर वाद व्यर्थ है। गांधीवाद भी यथार्थवाद है और मार्क्सवाद भी यथार्थवाद है। मार्क्सवाद एकदम आदर्शवाद है। भावना स्वर्ग की कल्पना है। गांधीवाद यथार्थ आदर्शवाद है। अर्थ और मानव का सर्वोदय! आज साहित्य-चिन्तक को अपने विचारों और रचनाओं में गहराई में पैठ कर दूर तक देखकर भारत और, भारत ही नहीं, विश्व को देखकर किसी विषय का मूल्य आँकना होगा। हिन्दी साहित्य के मेधावियों को यह दृष्टि मिल रही है, यह दिखाई पड़ रहा है। अतः हमारा भविष्य उज्ज्वल है।

साहित्य-समीक्षा क्या और कैसे ?

अपने लेख के प्राक्कथन में डॉ० अब्दुल अलीम के 'साहित्य-समीक्षा के मूल सिद्धान्त' नाम के लेख में से ये पंक्तियाँ उद्धृत कर देना बस होगा :

'....हर ओर से यह प्रश्न किया जा रहा है कि साहित्य का भवन किस नींव पर खड़ा करना चाहिये। साहित्य का उद्देश्य क्या है ? जीवन से साहित्य का क्या सम्बन्ध होना चाहिये। प्रगतिशील साहित्य के समर्थकों और विरोधियों में कुछ अरसे से तरह तरह के वाद-विवाद हो रहे हैं लेकिन इस प्रकार के अधिकांश लेख देखकर यह प्रतीत होता है कि साहित्य की मौलिक समस्याओं की ओर बहुत कम ध्यान है और अधिकतर हवाई तीरन्दाजी से काम लिया जा रहा है। युवक साहित्यकार पुराने लिखने वालों को प्रतिक्रियावादी की अस्पष्ट उपाधि देकर सन्तुष्ट हो जाते हैं कि उन्होंने अपना साहित्यिक कर्त्तव्य पूरा कर लिया। प्राचीन साहित्य के रसिक नये साहित्यिकों को कामुक, अश्लील लेखक और इसी ढंग के दूसरे नामों से याद करके यह समझते हैं कि उन्होंने नौजवानों की दुखती रग पकड़ ली है। नये साहित्यिक अपने दृष्टिकोण के शास्त्रीय मूल को जानने का प्रयत्न नहीं करते और न प्राचीन साहित्य के पुजारी अपने दृष्टिकोण के अवश्यम्भावी परिणाम को पूरी तरह समझते हैं। इस दशा का कारण यह है कि (वर्त्तमान युग में) हमारे देश में साहित्य-समीक्षा का अभी तक कोई आदर्श नहीं स्थापित हो सका है और न उसके मौलिक सिद्धान्त को तारतम्य देने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है।'

× × ×

साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्त निश्चित न होने के कारण समालोचक की निरंकुश लेखनी अनेकों दुर्घटनाओं का दायी हो जाती है। एक नहीं, साहित्य-संसार में अनेकों ऐसे उदाहरण मिल सकेंगे, जहाँ

साहित्यकार को ऐसे उच्छृङ्खल समालोचकों ने वह धक्का दिया है जो उन्हें सहन नहीं हो सका है जिसने उनके जीवन को व्यर्थ कर दिया है। जैफरे ने 'शेली' के काव्य पर जो टिप्पणी दी थी कि 'This won't do' कितने नहीं जानते कि उसने भी उसकी मृत्यु को बुलाने में सहयोग दिया था। पर, साहित्यकार के निजी प्रश्न को छोड़कर साहित्य-जगत् में भी समालोचना की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति घोर अवसाद और विडम्बना पैदा करती है, साहित्य में ऐसी प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिल सकता है जिनसे साहित्य-कर्म ही विक्षुब्ध हो उठे।

अनुत्तरदायित्व और उच्छृङ्खलता का मार्जन नियमन द्वारा ही हो सकता है। समीक्षा का अपना शास्त्र होता ही है। मनुष्य की कोई भी विचार-प्रणाली कुछ विकसित हो जाने पर अक्रम-असंबद्ध नहीं रह सकती। उसमें स्वतः ही कुछ नियम काम करने लगते हैं और वे नियम सार्वभौम भी होते हैं। यह बात मानवी-प्रक्रियाओं की मौलिक एकता सिद्ध करती है।

भारतीय साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने पर विदित होगा कि उसके मध्यकाल में जब साहित्य कर्म अत्यन्त प्रौढ़ हो गया था, समीक्षा-शास्त्र ने अपना एक प्रमुख-स्थान बना लिया था। वह शास्त्र 'साहित्य-शास्त्र' ही कहलाता था। उस शास्त्र के द्वारा इस बात पर विचार किया गया था कि काव्य क्या है ? उसके लक्षण निश्चित किये गये। उसके गुण और धर्मों का निरूपण हुआ। उसकी आत्मा को पहिचाना गया। रस, ध्वनि, अलंकार पर जो कुछ लिखा गया वह सब समालोचना शास्त्र के नियम निश्चित करने के लिए। अतः पुरानी परिपाटी के समालोचक का मार्ग अत्यन्त निश्चित था। किसी भी रचना को ध्वनि-शास्त्र, रस-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, पिंगल-शास्त्र की दृष्टि से परख कर उसे सही अथवा गलत बता देना उनका काम था। बात-बात के लिए नियम था। या नियम की दुहाई थी, और जो नियम में न मिले—शास्त्र में जिसका उल्लेख न हो, वह जैसे बात ही न थी—शास्त्र की परम्परा का यह परिणाम हुआ कि साहित्य के चारों कोने बाँध दिये गये। व्यक्ति के निजी ज्ञान और अनुभव के लिए इस प्रणाली में स्थान नहीं था।

यह समालोचना-प्रणाली शास्त्रीय थी और जहाँ तक जाती

थी वैज्ञानिक थी। पर ऋषियों में अन्धश्रद्धा के परिणाम-स्वरूप इसमें वैज्ञानिक विकास से होनेवाली ज्ञान वृद्धि के लिए स्थान नहीं रहा—नये युगों की नयी बातों के प्रति इसमें सहिष्णुता नहीं हो सकती थी। यह एकाङ्गी भी थी—साहित्य-कर्म भी एकाङ्गी था। वह प्रणाली जैसे ऊपर से आरोप लेकर चलती थी।

युग पलट गया—बीच के काल में समालोचना का बिलकुल अभाव हो गया। प्राचीन साहित्य-शास्त्र निष्प्राण हो गया। नयी बातें, नये विषय, नये उद्देश्य और नये ध्येय सामने आये। साहित्य के मूल्य में परिवर्त्तन हो गया। समीक्षा को भी नये रूप-रंग ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ी—और आज हम नयी प्रणाली के समीक्षा-शास्त्र की आवश्यकता महसूस करने लगे हैं—तो विचारना यह है कि समीक्षा-शास्त्र के मूल सिद्धान्त क्या हों?

शास्त्र को, जैसे विज्ञान को, किसी 'वाद', 'स्कूल' अथवा 'ध्येय' के लिए नहीं पकड़ा जा सकता। विज्ञान विज्ञान है—वह शुद्ध विज्ञान तभी है जब केवल ज्ञान-वृद्धि के उद्देश्य को पूर्ण करता हो। प्रत्येक शास्त्र भी विज्ञान की कोटि का है। विज्ञान के आविष्कारों को व्यवहारिक रूप में उपयोग में लाने पर कोई उसे नर-संहार का साधन बना सकता है, कोई मानवीय सुख-समृद्धि का, कोई व्यापार वृद्धि का। किन्तु विज्ञान को फल से, उसके उपयोग से दूषित करके देखने पर वह विज्ञान विकृत होगा, अतः हेय होगा। शास्त्र भी उसी प्रकार किसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर बनेगा, उसमें उसकी शास्त्रता-मात्र का ध्यान न रखा जायगा तो शास्त्र-विक्षुब्ध हो जायगा और वह उन अभिप्रायों को ईमानदारी से कभी पूरा नहीं कर सकेगा जिनके लिए उसका निर्माण किया गया है, अथवा शास्त्रों के वाद-भेद और दृष्टि-भेद खड़े होंगे कि हम एक ही जगह पर खड़े होकर उन बातों के लिए झगड़ते दिखायी पड़ेंगे जिन पर कभी एक हाथी को देखने वाले चार अन्धे लड़े थे, और जिन पर हम आज हँस लेते हैं। यानी एक आदर्शवादी समीक्षा-शास्त्र बनेगा, दूसरा यथार्थवादी समीक्षा-शास्त्र, तीसरा छायावादी समीक्षा-शास्त्र, चौथा प्रगतिवादी समीक्षा-शास्त्र, इतिहासवादी, भविष्यवादी; न जाने कितने समीक्षा-शास्त्र बनेंगे, और उनमें शास्त्रीयता न होकर अहंता होगी, तर्क होगा जिसे वितंडा कहा गया

है। तो समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तों का निर्णय करने के लिए जब हम आगे बढ़ें तो वाद और प्रवाद की कालोंच न लगी हो—हाथ रँगे न हों, स्वच्छ हाथ हों। नहीं तो फल कुछ ऐसा ही होगा जैसा पक्षपात रखनेवाले विद्वानों में मिलने लगता कि वे, जैसे उदाहरणार्थ, आदर्श चाहते हुए भी आदर्शवाद का विरोध करेंगे—निश्चय ही वे वह चीज न दे सकेंगे जिसे देने के लिए आगे बढ़े हैं।

तो हम अब देखें कि साहित्य-समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तों का निर्णय कैसे किया जाय ?

प्रश्न यह है 'साहित्य' में समीक्षा किसकी होगी ? साहित्य को देखने पर हमें विदित होता है वह एक वस्तु है—ए थिंग। वस्तु इसलिये कि उसमें लेखक-कवि-साहित्यकार कुछ देता है, जो वह दे रहा है वह वस्तु ही हो सकती है, नहीं तो उसे खोखला कहा जायगा। यानी साहित्य शून्य को घेरे हुए मात्र ढोल नहीं जो गूँजता ही गूँजता है। वह लड्डू है, जिसमें लड्डूपन तो बनानेवाले के कारण है और जिस वस्तु से वह बना है वह वस्तु मूलतः बनानेवाले के लिए भले हो हो उसके कारण नहीं। तो साहित्यकार जो देता है वह वस्तु है—

कुछ कहेंगे कि वस्तु मात्र ही साहित्य है। इसका अर्थ हुआ कि, लड्डू का ही उदाहरण लें, बेसन, बस यही वस्तु अभीष्ट है। उसकी गोलाई पीलाई हमारे लिए व्यर्थ है। हम यह क्यों देखें कि वह कैसा गोल, कैसा रंगीन, छोटा अथवा बड़ा—कैसा है। हम तो यही जान लें कि बेसन ठीक है, वह योग्य है। उसी से हमें सम्बन्ध है कि वह खाया जा सकता है, उससे भूख बुझती है, जीवन के लिए वह ही नितान्त आवश्यक है, जीवन का उससे हो सम्बन्ध है—गोलाई-पीलाई छोटाई-बड़ाई, उन्हें इनकी इस रूप में समझने का आवश्यकता ही क्या है।

कुछ कहेंगे साहित्य वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति-प्रणाली दोनों हैं। दोनों के संयोग बिना काम नहीं चल सकता। बेसन मात्र नहीं,—और उसको गोल-पीला जैसा भी होना होगा। वह भी एक आवश्यकता है। जीवन में रुचि का स्थान है तो इन चीजों को होना होगा। ढेर बेसन, शक्कर, घी वस्तु हों बिना रूप धारण किये हमारे

जीवन में सुपाच्य नहीं हो सकते । यानी एक शैली ही और है और साहित्य में वस्तु के साथ शैली का भी संयोग है, चोली-दामन का-सा नहीं, प्राण और शरीर का-सा ।

और तीसरा व्यक्ति वह हो सकता है जो कहे कि साहित्य में वस्तु नहीं शैली ही प्रधान है। वह अभिव्यक्ति है। वस्तु साहित्य नहीं, वह तो वस्तु ही है, और मूल में वह जैसी है उस रूप में वह हमारे साहित्यकार के लिये कच्चे माल ही की भाँति है, उस पर साहित्यकार का दावा नहीं तो वह साहित्यकार का कर्म भी नहीं हो सकती। वह तो उसका मात्र स्रोत है, भण्डार है, उसकी निजी चीज जिसे साहित्य कहा जाता है वह अभिव्यक्ति है। यदि अभिव्यक्ति साहित्य नहीं तो वस्तु कभी साहित्य नहीं हो सकती। अतः मूलतः अभिव्यक्ति ही साहित्य है ।

दूसरा दृष्टिकोण ग्रहण करके चलने में साहित्य-समीक्षा-शास्त्र का कल्याण है। तब उसे एकांगी न होना पड़ेगा, और दोनों पहलुओं पर विचार हो सकेगा ।

इस दृष्टि से समीक्षा-शास्त्र को साहित्य की वस्तु और साहित्य की शैली दोनों पर विचार करना होगा और दोनों के लिए सिद्धान्त निश्चित करने होंगे ।

पहले वस्तु की दृष्टि से देखें। समीक्षा-शास्त्र को किस प्रकार वस्तु परीक्षा के लिए बढ़ना होगा ? इस सम्बन्ध में विचारना यही है कि समीक्षा का कर्म क्या है ? यदि यह स्पष्ट हो जाय तो वस्तु की परख के सिद्धान्तों पर पहुँचना सहज होगा। समीक्षा का कर्म परख करना है, मूल्य बताना है, अभिमत प्रकट करना है, किसी वस्तु की कार्य-कारण परम्परा का उद्घाटन करना है, गुण-दोषों का निर्णय करना है, अभावों की पूर्ति का परामर्श देना है, किसी रचना के लिए मार्ग निर्देश करना है, विश्लेषण करना है, वर्गीकरण करना है, संज्ञा देना है, व्याख्या करना है, स्पष्टीकरण करना है, रचना और रचनाकार के अभिप्रायों के मूल-स्रोतों का अनुसन्धान और अन्वेषण करना है, रचना के सम्बन्ध में रचनाकार की ईमानदारी की माप करना है, परिचय कराना है— या क्या ? अथवा यह पूछा जाय कि किसी रचना के सम्बन्ध में समालोचना अथवा समीक्षा को किन

प्रश्नों का उत्तर देना है—क्यों है ? क्या है ? कैसी है ? किसलिए है ? या रही है, या होनी चाहिये ? और भी छोटे शब्दों में यह जानना काम है समीक्षा-शास्त्र का कि रचना क्या 'है', अथवा 'होनी चाहिए'। विज्ञान की दृष्टि से समीक्षा-शास्त्र को किस वर्ग में बिठाया जाय। वह Positive Science है—'है' का विज्ञान है—Science of 'is' है, या Normative Science—Science of ought, 'चाहिए' का विज्ञान या शास्त्र है ?

और यहीं यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जो कुछ और जैसी कुछ भी समीक्षा हो, वह है किसके लिए। क्या, जैसा कला के लिए कह दिया जाता है, कभी समालोचना के लिए भी कहा जा सकता है कि वह 'स्वान्तः सुखाय' है ? कला तो अन्तरानुभूति का उद्गार कही जाती रही है, और उसे व्यक्त करने में मनुष्य की अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति की मूल मानवी प्रेरणा ही प्रधान हो सकती है—उस अवस्था में काव्य 'स्वान्तः सुखाय' हो सकता है— केवल 'स्वार्थ' प्रेरणा से उद्भूत। समालोचना—समीक्षा किसलिए का एक उत्तर तो बहुत स्पष्ट और सहज यह विदित हो सकता है कि रचना की वस्तु को ठीक-ठीक समझना। इस दृष्टि से समालोचना अथवा समीक्षा चाहे स्वान्तः सुखाय न हो, वह 'स्व अध्ययनाय' तो हो ही सकती है। मैं 'स्वयं' वस्तु को समझना चाहता हूँ, और इसके लिए जो प्रयत्न किया है, वही उसकी समीक्षा है। पर 'समीक्षा' यहीं पर समाप्त नहीं हो लेती। समीक्षाकार का वह 'स्व' पाठक का 'स्व' है—वह स्वयं समझना चाहता है और इसका एक अर्थ यह भी है कि वह पाठकों को भी समझाना चाहता है। इसलिए समीक्षाएँ प्रकाशित होती हैं। तो क्या समीक्षा का सम्बन्ध रचना और पाठक से ही है, लेखक से नहीं ; यानी क्या समीक्षाकार लेखक को कुछ नहीं बना सकता ? जहाँ तक 'समझना' भर है, पाठक तक ही समीक्षा रहेगी, लेखक तक पहुँच नहीं सकती। ऐसी दशा में समीक्षा केवल इतना भर कह सकती है कि वह कैसी है, क्या है, क्यों है ?—'है' विज्ञान के अन्तर्गत ही तब समीक्षा-शास्त्र को रहना होगा। पर, विदित यह होता है कि चीज यहीं तक नहीं रहती। पाठक से अध्ययन करने के उपरान्त उसके सम्बन्ध में चाहना भी उत्पन्न हो सकता है। वह जो

चाहता है वह भी तो कह सकता है—लेखक जाति से वह कुछ आशा भी कर सकता है, और यदि लेखक केवल लेखनी ही पकड़ जानता है, पाठकों की मेधा उसके पास नहीं है तो लेखक को उसका कर्तव्य भी तो पाठक बता सकता है। यह सब उसी अध्ययन का परिणाम है। तो क्या इस 'चाहिये' के परामर्श को समीक्षा का अंग समझा जा सकता है? या नहीं?

'चाहिए' शब्द थोड़ा अनेकार्थी है। यह 'चाहिए' हमारी चाह Want, आवश्यकता need or necessity का भी द्योतक है, 'अभाव' की पूर्ति की माँग भी है। यह 'चाहिये' कर्तव्य के अभाव को न बताकर उसके 'आदर्श' की कल्पना के अर्थ में भी आ सकता है—तब वह 'Ought' से सम्बन्ध रखेगा, तब वह Normative Science का अङ्ग बनेगा। अभाव का पता तो साधारण पाठक को भी लग सकता है—हमें जो आवश्यक है उसमें क्या नहीं है यह जानना कठिन नहीं यदि हम जानते हैं कि क्या आवश्यकता है हमें? वस्तुतः इस आवश्यकता का जानना जहाँ आवश्यक है वहाँ कठिन भी बड़ा है, क्योंकि साहित्य की आवश्यकता, वह भी लिखित साहित्य की आवश्यकता ठीक-ठीक शारीरिक आवश्यकता (Physical needs) की भाँति नहीं—Physical needs क्या हैं?—भूख, प्यास, काम, शरीर को सुख पहुँचाने की चाह। इनके अभाव में शारीरिक क्लान्ति बढ़ जाती है, प्राण-रक्षा कठिन प्रतीत होती है—इनके अभाव सबको सम भाव से सताते हैं—इनके लिए उपयोगी पदार्थ के अभाव को भी हम तुरन्त जान लेते हैं। संसार का कोई भी मनुष्य बिना भोजन और पेय के नहीं रहा। पर साहित्य की कितनों को आवश्यकता है। वस्तुतः साहित्य कोई आवश्यकता ही नहीं। अर्थशास्त्र के शब्दों में वह मात्र Luxury है, Comfort भी नहीं। अतिरिक्त शक्ति (Surplus energy जिनके पास है, जो अपनी दैनिक शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद बच रहती है, उसीमें साहित्य का बीज और उपयोग तथा उपभोग है। वह शारीरिक आवश्यकता नहीं सांस्कृतिक आवश्यकता भले ही हो। Culrural necessity हो सकती है। जहाँ प्रश्न प्रगति और उन्नति का है, वहाँ मनुष्य इसी Culture—संस्कृति के क्षेत्र में उन्नति कर पाता है। भूख-प्यास, काम

शरीर-सुखों के विषयों में उन्नति और प्रगति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता—इन मूल-तत्त्वों में विकास नहीं। वहाँ सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रतिदिन ऊँचाई-नीचाई का प्रश्न है। अतः इस क्षेत्र की आवश्यकताएँ शारीरिक चाहों को भाँति अनुभव नहीं होतीं, ये परिस्थिति और प्रतिभा का फल होती हैं। इनमें विकास और आदर्श दोनों का भाव मिलता है। आदर्श तो विकास का मार्ग निश्चित करता है, दिशा बनाता है और विकास प्रस्तुत परिस्थितियों के आगे का व्यवहारिक द्वार है। परिस्थितियों से कल्पना जागृत होकर आदर्श की सृष्टि करती है। परिस्थितियों के सङ्घटन में अभाव और उत्पीड़न दोनों ही हैं—इनके इलाज में विकास और उन्नति है। डार्विन के सिद्धान्त का यदि इतना ही अर्थ ग्रहण किया जाय कि 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' और 'योग्यतम की विजय' ही सृष्टि में विकास के कारण हैं और ये दोनों केवल भौतिक-भर हैं, इनमें मानसिक प्रक्रिया का कोई भाग नहीं तो क्या भीषण भूल न होगी ? अस्तित्व बनाये रखने के सङ्घर्ष में, जीवित रहने (सरवाइवल) में अपने को जयी बनाने की भावना निहित है—और 'योग्यतम' सर्वोच्च कोटि का शब्द है। जिसका उपयोग आप क्या जड़ जगत की भाँति मानसिक जगत में भी हो चुकने के बाद, ऐतिहासिक निर्णय देने के समय ही कर सकते हैं ? मानव-कल्पना और मानव-मन तो इस 'योग्यतम' का रूप उसके घटित होने से पूर्व भी खड़ा कर सकता है, और किसी विगत योग्यतम को देखकर उसे अनुकरणीय समझकर उसी का भी परामर्श दे सकता है। आदर्श 'Ideal' के सदा ह् दो रूप हो सकते हैं। एक तो अपने लिए कोई अकल्पनीय-असम्भव जैसी आदर्श की कल्पना की जा सकती है। स्वर्ग-नरक को ऐसी ही कल्पना कही जा सकती है। इसमें भी दो प्रकार हो सकते हैं—एक तो संसार के सङ्घर्षों से बचकर एक मधुर गगन में विचरण करने के लिए बनाया हुआ आदर्श ideal. स्वर्ग-कल्पना (Utopia) जैसी कही जायगी कल्पना की यह प्रवृत्ति; और आदर्श-निर्माण में केवल यह प्रवृत्ति escapist पलायनवादियों की रचना में हो सकती है, या होती है। दूसरा, सङ्घर्ष में अपने अभावों को देखकर पूर्णता की भावना का चित्र खड़ा कर लेना—इसमें पलायन नहीं, प्रगति है। यह आदर्श प्रेरणा देने के लिये, उत्तेजित कर आगे बढ़ाने के लिए होता है।

लेखक जब इस प्रकार के आदर्श की अवतारणा करता है तो वास्तविक रचनात्मक कार्य करता होता है। यह उसके कर्म का (Constructive) रचनात्मक प्रोग्राम होता है। परा-पुरुष (Super-man) का भाव इसी रचनात्मक मेधा का परिणाम हैं, (Social order) समाज-विधान के सम्बन्ध में मार्क्स का सुझाव भी इसी का फल है। Socialism समाजवाद आज real वास्तविक नहीं, ideal आदर्श ही है। कोई भी (idea) भाव और भाव-सिद्धान्त (ideology) जबतक (realisation) संप्राप्ति की हद तक नहीं पहुँचता (ideal) आदर्श ही रहता है।

दूसरा प्रकार आदर्श-निर्माण का वह है जहाँ कि व्यक्ति, ऐतिहासिक व्यक्ति की परा-शक्तियों, अलौकिक शक्तियों को देखकर, उनमें पूर्णता का अनुभव कर अनुकरणीय आदर्श मान लिया जाता है। राम को छोड़ दीजिए, उसे पौराणिक कहकर सम्भवत: केवल कवि-कल्पना माना जा सके, पर प्रताप ऐतिहासिक व्यक्ति है, वैसे ही सिकन्दर, बुद्ध, अशोक—और आज ये सभी हमारे आदर्श हैं विभिन्न भागों में। उनमें किसी दिशा में एक में पूर्णता (Perfection) थी—वह हममें नहीं; अत: हम उन्हें (ideal) आदर्श समझते हैं। ऐसे आदर्श सदा शक्ति देने वाले, अपने मार्ग में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करने वाले, पलायन के भाव को चूर करनेवाले होते हैं। इससे हमारे व्यवहारों की डगमगाहट दूर होती है, उनमें दृढ़ता और साहस भरता है। व्यवहार-दर्शन को डग बढ़ाने का मार्ग मिलता है। अत: योग्यतम को भूत में जानकर उसके अनुकूल बने रहकर अपनी (existence) सत्ता को न मिटाने देना, अथवा मानस के योग द्वारा वर्त्तमान के अभावों का अनुमान और हिसाब लगाकर उनकी पूर्त्ति की, उनकी पूर्णता की कल्पना का चित्र उपस्थित कर लेना, जीवित रहने के लिए, योग्यतम बनाने के लिए है और मानव के लिए है—और मानव के लिए, चेतन के लिए यह (evolution) विकास के उतने ही आवश्यक भाग हैं जितने कि जड़ जगत में केवल सङ्घर्ष और विजय की शाब्दिक अर्थ से द्योतित होनेवाली शक्तियाँ। अत: आदर्श विकास-सिद्धान्त का आवश्यक प्रतिफलन है। मानव-जगत् के लिए, मानव के विकास में अन्ध-प्रकृति की शक्ति के साथ

इच्छा-शक्ति भी काम करती है। उसके साथ केवल being का प्रश्न नहीं becoming का प्रश्न है। अतः साहित्य 'आदर्श' की अवहेलना न करे तो ठीक होगा।

यह जो व्यवहार और आदर्श में खाई पड़ जाने का तर्क दिया जाता है उसे खाई न कहकर मार्ग का फासला कहा जाय तो बात सम्भवतः कुछ ठीक हो। आदर्शवादी व्यक्ति आदर्श को सामने रख-कर आदर्श के पीछे यदि अपनी कमजोरियों को छिपाता है, अथवा उसे व्यवहार के लिए आदर्श-भिन्न अलग दर्शन की शरण लेनी पड़ती है तो इसके लिए क्या कहा जाय ? गदहा शेर की खाल ओढ़ ले रौब दिखाने को, तो क्या शेर या गदहे को, किसे कुछ कहा जाय ? छल, बनावट, कपट ही त्याज्य है।

Transcendentalism, Spiritualism, Mysticism, Phaenomenalism सबको प्रत्यक्ष सत्य और वास्तविक परोक्ष सत्य के भेद को ग्रहण करनेवाला मान कर कुछ व्यक्ति एक नया आदर्श-वाद, 'Idealism' ही देते हैं। यह आदर्शवाद का दार्शनिक रूप है—और उसके अध्यात्म पक्ष से सम्बन्ध रखता है। जो इस आदर्शवाद का विरोध करता है वह प्रत्यक्षवादी होता है—दर्शन की पुस्तकों में इन विषयों की पर्याप्त चर्चा है। वास्तविक और पदार्थवादी या यथार्थवादी दार्शनिक प्रणालियों पर हाल ही में बहुत विचार हो चुका है। और समीक्षा-शास्त्री को इस दार्शनिक विचार से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। इतना दार्शनिक विवेचन तो हमें 'चाहिए' के स्वभाव को समझने के लिए ही अपेक्षित हुआ। समीक्षा-शास्त्री को तो यही देखना है कि समीक्षा के आदर्श उसे रखने हैं। वे आदर्श लेखक को परामर्श-स्वरूप, पाठक के मानसिक क्षितिज को बढ़ाने, और उसके भ्रम और संकीर्णता को निवारण करने के लिए चाहिये ही। समीक्षा-शास्त्र यह बात कहेगा ही कि वस्तु क्या अथवा कैसी होनी चाहिये। उस 'चाहिये' में उस आदर्श-वाद के अध्यात्म-पक्ष से सीधा सम्बन्ध नहीं। समीक्षा-शास्त्र, अतः, क्या है के साथ क्या होना चाहिये से भी सम्बन्ध रखता है। वह लेखक के लिए भी है।

ता समीक्षा-शास्त्री रचना के सम्बन्ध में यह भी कहेगा कि वह क्या है, कैसी है, किसलिए है, और इससे आगे यह भी कि वह

क्या होनी चाहिये। यहीं रचना में वस्तु आती है।

वस्तु, साहित्य की वस्तु क्या है? मात्र विषय, वस्तु-दृष्टि से, ज्ञान-विज्ञान की वस्तु हो सकता है, साहित्य में विषय-मात्र का प्रतिपादन नहीं आ सकता। भूगोल, इतिहास, गणित ये विषय-मात्र 'साहित्य' की सीमा में नहीं आ सकेंगे। 'मानव' की इनमें प्रधानता होगी तभी ये 'साहित्य' होंगे। भूगोल के सम्बन्ध में; इतिहास के सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि अधिकाधिक 'मानव' के दृष्टिकोण से इन विज्ञानों का अध्ययन होना चाहिये, वस्तुतः 'साहित्य' 'अध्ययन' नहीं और साहित्य के अतिरिक्त शेष सभी 'अध्ययन' है। साहित्य में मानव के 'जीवन' की अनुभूतियाँ होती हैं। समीक्षा में साहित्य की इसी वस्तु 'अनुभूति' की विवेचना होगी।

समीक्षा-शास्त्री को यह देखना होगा कि अनुभूति कैसी है? अनूभूति, अनुभूतिकार और साहित्यकार के व्यक्तित्त्व से उसके संस्कार (संस्कृति का परिणाम), उसकी परिस्थितियाँ और उसके भाव-मंडल (Complexes) घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। विभिन्न मनुष्यों का मनोजगत् विभिन्न होता है। पूँजीवादी और साम्राज्यवादी प्रणाली में तो इस विभिन्नता को प्रतिभा-अप्रतिभा के नाम से, सामन्तशाही में शक्ति-अशक्ति के नाम से, स्मार्त-प्रणाली में कर्म-अकर्म, भाग्य-अभाग्य के नाम से, भक्ति-वादी प्रणाली में ईश्वर कृपा-अकृपा के नाम से समझाया जाता रहा है। वैज्ञानिक युग में इनके शून्य हो जाने पर, आर्थिक-स्थिति सम हो जाने पर भी मानव मनोजगत् में समत्त्व नहीं आ सकता—क्योंकि मानव ज्ञान और भावों के अतिरिक्त 'आवेगों' से भी बना हुआ है। ये 'आवेग' विद्युत-शक्ति जैसा ही बल रखते हैं। चित्त-विश्लेषण शास्त्री (Psycho-analysist) ने जो विविध यन्त्र तत्पर किये हैं उनसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि विविध प्रकार के शब्दों का भी मानव मन पर गहरा-हलका विविध प्रभाव पड़ता है। यह दृश्य-जगत् विविधतापूर्ण है, उसकी प्रतिक्रियाएँ विविध होती हैं, रक्त और मज्जा का संयोग भी भिन्नता रखता है—सब कुछ समान होने पर भी मानव के मौलिक वैभिन्न्य को एक नहीं किया जा सकता। यह मौलिक विभिन्नता अध्यात्म-पक्ष की नहीं, मानव-मन की है। इन्हीं के फल-स्वरूप अनुभूतियों में

अन्तर होगा। समीक्षाकार को इन अनुभूतियों की परख करनी है। यही साहित्य की वह वस्तु है जिस पर उसे अपनी शक्तियों को सिद्ध करना है।

विभिन्नता होते हुए भी, इसमें सन्देह नहीं कि समीक्षाकार को उन अनुभूतियों से यह जानना आवश्यक होगा कि वे अनुभूतियाँ स्वस्थ मानव की हैं; अथवा अस्वस्थ मानव की। अस्वस्थ मानव की अनुभूतियों में सु-साहित्य और पुष्ट-साहित्य का मिलना कम सम्भव है। उसे यहाँ चीर-फाड़कर अनुभूति की असलियत प्रकट कर देना है। समीक्षाकार वस्तुतः प्रशंसा अथवा अप्रशंसा करने के लिए नहीं—उसका कर्म वस्तु का विश्लेषण और चीर-फाड़कर जो है उसे दिखाने के उपरान्त उचित परामर्श, जो है उसमें अभावों की ओर संकेत कर, मार्ग-प्रदर्शन के लिए आदर्श की चेतना उत्पन्न करना है। वह जहाँ तक सम्भव हो अपना मत न दे, निष्कर्ष दे। उन बातों को जो साहित्य में मिलती हैं एक ढंग से उपस्थितकर उनसे निष्कर्ष निकाले, अन्वय-व्यतिरेक से परीक्षा करे और तब जो निगमन हो उसे निष्कर्ष की भाँति उपस्थित करे। इस प्रणाली से वस्तु की ठीक रूप-रेखा उपस्थित हो जायगी और पाठक को तथा लेखक को भी यह जानने का अवसर रहेगा कि जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे मान्य ही होने चाहिए।

यहाँ अनुभूति के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। अनुभूति विषय की नहीं हुआ करती, विषय के द्वारा होती है। अनुभूति एक प्रकार का revelation उद्घाटन-सा है। एक ज्ञान है, जो किसी विषय के सम्पर्क में आने से मानव प्रतिक्रिया के रूप में, मानव के द्वारा मानव के लिए सहज ही प्रकाशित हो उठता है। विज्ञान का शुद्ध ज्ञान भी ऐसे ही होता है, जैसे सेव के गिरने पर आकर्षण-शक्ति का ज्ञान हुआ। यह शुद्ध ज्ञान—अभिप्राय वस्तुगत ज्ञान से है, साहित्य की वस्तु नहीं। पर जब ऐसा ही शुद्ध ज्ञान मानव और उसके जीवन से संपर्कित हो तो वह सहज ज्ञान साहित्यिक अनुभूति होगी। साहित्यकार की इस अनुभूति को केवल तीन बड़े भागों में अब तक बाँटा जाता रहा है—१ सत्य, २ शिव, ३ सुन्दर। जब साहित्यक की अनुभूति 'दर्शन' के लिए उत्सुक है तो वह 'सत्य' का ज्ञान प्राप्त करेगी। दर्शन में प्रत्यक्ष और

परोक्ष 'सत्य' का उल्लेख होता है। दर्शन अखंड और शाश्वत सत्य की तलाश करना चाहता है, और वह यह पाता है कि हम जो देखते हैं जिसे प्रत्यक्ष समझते हैं वह विनश्वर में भी एक अविनश्वर है—वही अखंड सत्य है। दर्शनकार इस विनश्वर की परीक्षा कर जिस अविनश्वर की रूपरेखा तत्पर करता है, वह परोक्ष कहने भर के लिए है। उसके बिना प्रत्यक्ष अपना अर्थ छोड़ बैठता है। उपनिषदों में इस बात पर विचार कर विद्या-अविद्या, सत्-असत् दोनों का अस्तित्व माना गया है, और जो एक को मानता है दूसरे को नहीं वह सत्य से दूर समझा गया है। प्रत्यक्ष के बाद परोक्ष नहीं तो भविष्य का अभाव माना जायगा। प्रत्यक्ष की प्रगति इसी विश्वास पर है कि परोक्ष में भविष्य भी है, और वह अतीत से एक सूत्र में आबद्ध है। इस परोक्ष-चित्रण में ही अनुभूति-कल्पना 'आदर्श' खड़ा करती है। समीक्षाकार को आदर्श को घृणा करना और उसे केवल पलायनवाद बताकर ठुकरा देना उचित न होगा—यह असत्याचरण होगा, साहित्य के साथ अन्याय होगा। उसे तो अपनी शक्ति और वैज्ञानिक प्रणाली से यही देखना अभीष्ट होगा कि वह 'आदर्श' केवल पलायन है, मिथ्या है, प्रगति और विकास के विरुद्ध और विपरीत अतः असत्य, वास्तविक सत्य से दूर है। यदि ऐसा नहीं तो 'आदर्श' कितनी ही पूर्णता का चित्र क्यों न उपस्थित करे, वह श्लाघ्य होगा। और ऐसा स्वस्थ 'आदर्श' रखने में दर्शन से साहित्य धर्म पर पहुँच जायगा, 'शिव' उसका अभिप्राय हो जायगा :

The escape of thought from the imperfections of the actual into a thought organised ideal is Art ; its projection, dragging present action with it into a more perfect future, is true Religion.'

from Julian Huxley's' 'An Hour's Psychology'.

सत्य-शिव के साथ सौन्दर्य भी आता है। कोई कोई तो साहित्य की अनुभूति का विषय केवल सौन्दर्य ही मानते हैं। सौन्दर्य का हमारी रागात्मिका-वृत्ति से सम्बन्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रश्न यह है कि जिधर रागात्मिकावृत्ति प्रधावित हो जाय, उधर ही सौन्दर्य मान लिया जायगा। अथवा जहाँ सौन्दर्य है वहीं रागात्मिक-

तृप्ति आयगी। यह अनुभूत सत्य माना जायगा कि लड्डू में स्वाद प्रतीत होने लगने पर ही मन के भी लड्डू खाये जा सकते हैं। राग को जागृत करने के लिए सौन्दर्य की चकमक चाहिये। वह जितना बाहर है उतना ही भीतर भी। 'स्वर' कान से सुनते हैं पर उसका उद्भव बाहर होता है। कान नहीं तो बात का स्वर अर्थ-रहित। बाहर न हो तो कान कुछ 'स्वर' का ज्ञान नहीं पा सकते। subject बिना obieot के और obiect बिना subject के अस्तित्व भले ही रखे अर्थ नहीं रख सकते। गुलाब के पुष्प को देखकर उसके सौन्दर्य को सभी अनुभव करते हैं। इस सौन्दर्य के परिज्ञान perception के विषय (content) से अन्य गुलाबी रँग की वस्तुएँ भी सुन्दर कही जा सकेंगी। 'सौन्दर्य' का बाहरी अस्तित्व भी मानना होगा। अनुभूति से वह हमें प्राप्त होता है अतः हम उसे अनुभूति ही मानें और उसका अनुभूति से पृथक् अस्तित्व न पावें तो यह बात बुद्धि-सङ्गत नहीं होगी। बृहत्तर मानव की गतिमत सङ्गत कल्पना में आये सौन्दर्य को भी यदि आप अननुभूत मानकर उससे दूर रहने का आदेश करेंगे तो संस्कृति का विकास रुक जायगा। सौन्दर्य का ज्ञान हमें यदि मानव अनुभूति के द्वारा हो लेता है, अपने से एक पृथक् सत्ता की भाँति जैसे वैज्ञानिक को Electrons की Energy का हो लेता है प्रयोगशाला में बैठकर, तो इसलिए कि उस सौन्दर्य की अनुभूति प्रत्येक साधारण को सम्भव नहीं हम उसे असंभव मानकर मानव की महान-शक्तियों और उन शक्तियों से अभिषिक्त महानों का हम अनादर करें! समीक्षा-शास्त्री को इसे भली प्रकार समझकर चलना होगा।

पंजाब का एक ग्राम्यगीत है, सत्यार्थीजी ने एक बार बताया था, उसमें ग्राम बालाएँ अपनी भैंसों को हूर जैसी सुन्दर समझती हैं। उन पर मुग्ध होती हैं। यह बात उपयोगिता में ही सौन्दर्य का ज्ञान कराती है। जो उपयोगी है, वही सुन्दर है। या जो जितना उपयोगी है वह उतना ही सुन्दर है। इस प्रकार सम्बन्ध-अनुपात के गणितीय सूत्रों द्वारा सौन्दर्य और उपयोगिता का सम्बन्ध-निदर्शन उतना ही भ्रमपूर्ण है जितना यह कि जिसमें जितनी ही उपयोगिता कम उतना ही सुन्दर। सौन्दर्य निश्चय ही भाव-जगत् की वस्तु है,

और उपयोगिता भूत-जगत् की। उपयोगिता भौतिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने वाले गुणों में है। तो क्या अधिकाधिक गुणों का होना ही सुन्दरता है, या सुन्दरता भी एक गुण है। यह माना जायगा, और अनुभव ही इसे सिद्ध करेगा कि अन्य अनेक गुणों की भाँति सुन्दरता भी एक गुण है—और अन्य गुणों का जैसे परस्पर का नित्य सम्बन्ध नहीं, उसी प्रकार सुन्दरता का भी नहीं, अतः सौन्दर्य की अनुभूति तभी हो सकती है जब अन्य गुणों के साथ सौन्दर्य का गुण भी वर्त्तमान हो। अत्यधिक उपयोगी वस्तु में भी बहुत सौन्दर्य हो सकता है और नहीं भी हो सकता, और नितान्त अनुपयोगी वस्तुओं में भी सौन्दर्य हो सकता है। अतः किसी भी समीक्षक को किसी पक्षपात में फँसकर यदि कहीं सौन्दर्य ही सौन्दर्य है, उपयोगिता नहीं तो उसे फेंककर उसकी अवहेलना करना उचित न होगा। ऐसा करेगा तो समीक्षक के पद से वह च्युत हो जायगा। वस्तु में यदि सौन्दर्य है तो उसे कहना ही होगा कि है, वह उसमें उपयोगिता का अभाव बतला सकता है, उपयोगिता का परामर्श दे सकता है। एक स्त्री को चित्र में विचित्र देखकर वह उसके सौन्दर्य की चर्चा कर सकता है, उस सौन्दर्य से प्राप्त आनन्द और आकर्षण का लाभ उठा सकता है, इसी के लिए साहित्य और कला मानी गई है, वह उस चित्र से प्रकट अन्य बातों पर भी चाहे तो विचार कर सकता है—उस स्त्री की नस्ल, रंगों का प्रयोग, वह उस चित्र के प्रभाव पर भी बात कर सकता है। पर यदि वह कला की उपयोगिता का अर्थ यह लगाता है कि उस चित्र को छाती से लगाकर 'हाय-हाय' भी करने लगे तो चित्रकला पर रोक लगानी पड़ेगी और पति के लिए पत्नी और पत्नी के लिए पति ही अपने चित्र बनवा सकेंगे—समीक्षाकार उसके सौन्दर्य की चर्चा करे, वह क्या है, कैसा है, इसका उल्लेख करे—पर इससे आगे वह उसकी 'उपयोगिता' को किस रूप में समझेगा? यही साहित्य में चित्रित किसी स्त्री के सम्बन्ध में है। कलाकार ने वह जो बनाई है, वही अनुभूति पाये, उससे आगे वह किसी अन्य उपयोगिता को कैसे पा सकेगा?

इस प्रकार उसे अनुभूति का, उसके सत्य-शिव-सुन्दर का, विचार करना होगा। उनका ऐतिहासिक मूल्य लगाना होगा, उनकी

शक्ति और प्रभाव को भी उसे समझना पड़ेगा पर सब वैज्ञानिक ढंग से induction द्वारा। मान्यता से निष्कर्ष नहीं, तथ्य और वस्तु के अन्वय-व्यतिरेक और विश्लेषण से उसे अनुभूति और अनुभूतिकार और उसके क्षेत्र पर कुछ कहना होगा।

इस प्रकार वस्तु को परख कर उसे शैली पर आना होगा। यह बात सत्य है कि 'शैली' में भी निजी शक्ति होती है, पर जहाँ शैली मात्र से शक्ति प्राप्त करने की बात है वह गदहे को सिंह की खाल से मढ़कर भैंसों का सामना करने को कहने की बात है। पर समीक्षक को इस खाल को उधेड़कर फेंकना पड़ेगा। उसे तो यह देखना होगा कि जो सौंदर्य शैली से प्राप्त है वह वस्तु से नित्य सम्बन्धित है, उसके लिए सहज है। वस्तु की शक्ति को बढ़ाने के लिए ही शैली का स्वभावतः आगमन हुआ है। शैली के सौन्दर्य के तत्त्वों का विवेचन कर उसे यह देखना होगा कि वह जो मूर्ति कलाकार ने साहित्य में अनुभूत की है उसके सर्वथा योग्य है।

साहित्यकार और निर्माण

हम जिस युग में हैं, उसमें हमारे सामने तीनों काल की समस्यायें हैं—भूतकाल की समस्यायें बड़ी गहरी हैं। राजनीतिक आन्दोलन का आरम्भ जिस समय से हुआ, उसी समय से देश-प्रेम के साथ देश-गौरव का भाव उदय हुआ। कितनी ही संस्थाओं ने प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का महत्त्व और उनके स्थायी मूल्यों को प्रकाश में लाने की चेष्टा की—इतिहास के क्षेत्र में नयी-नयी शोधों ने हमें नयी-नयी भावनाएँ दीं—भूतकाल के अपने अध्ययन के आधार पर विविध व्यक्तियों ने विविध समस्याओं को विविध रूप से हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। एक चित्र हमें राहुल जी के द्वारा उनके उपन्यासों और कहानियों में मिलता है, जिसमें अबतक गौरव-मय मानी जाने वाली आर्य-सभ्यता को अत्यन्त क्षुद्र दिखाने का भरसक तीव्र उद्योग किया गया है। उन्हीं घटनाओं से दूसरे व्यक्तियों ने कुछ और ही निष्कर्ष निकाले हैं। उदाहरण के लिये 'सत्यकाम जाबालि' की कहानी से राहुलजी ने यह सिद्ध करना चाहा है कि उस काल में पुंश्चली वृत्ति विशेष थी, और इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि उसके समक्ष भी विद्यार्थियों को सत्यकाम का वह कथन उपहासास्पद प्रतीत हुआ, जिससे स्पष्ट है कि पुंश्चली कर्म उपनिषद् काल में श्लाध्य किसी प्रकार नहीं माना जाता था। उस समय उतने विद्यार्थियों में वही एक पुंश्चली पुत्र था, इससे भी दूसरी ही बात सिद्ध होती है। उसी कथा से विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यह अभि-व्यक्ति करनी चाही है कि उस समय सत्य का बड़ा सम्मान था। ऐसे अपवाद वाली बात को भी निःसङ्कोच सबके सम्मुख प्रकट कर देने के कारण ही सत्यकाम में शिष्य बनने की योग्यता सिद्ध हुई। तो यह भूतकाल सम्बन्धी समस्या हमारे समक्ष है—इसलिए और भी कि

रूस की नकल के साम्यवाद को यहाँ प्रबल करने में बड़े उद्योग हो रहे हैं—और उसमें हमें अपनी अपनी संस्कृति की सुरक्षा करनी होगी। रक्त और भाषायें और संस्कृतियाँ अलग-अलग बांटी जायँगी। जिसका रक्त दूसरे से मिलता नहीं होगा, उसे अलग जाति बनाया जायगा, उसे कहा जायगा कि रूस में छोटी-छोटी जातियों को बड़े-बड़े अधिकार मिले हैं, तुम तो संख्या में इतने हो तुम्हें उच्चवर्ग ने बहका रखा है, वह तुम पर अत्याचार कर रहा है—अतः भूतकाल को अब केवल इतिहासकार के ऊपर ही नहीं छोड़ना होगा, अपने-अपने रक्त की परीक्षा, संस्कृति की व्यवस्था प्रत्येक को करनी होगी—ये तो भूतकाल की समस्यायें हैं।

वर्तमान की समस्या तो सदा ही महान् रहती है, भूत की समस्यायें भी वर्तमान को सुलझाने और भविष्य का निर्देश करने को होती हैं। आज की हमारी कितनी महान् समस्यायें हैं? लड़ाई के लिये सामान जुटाना है। बंगाल में भुखमरी है, उसके लिए लिखना लिखाना है, युवकों को और बुजुर्गों को भी साम्यवाद का सिद्धान्त समझाना है। प्रगतिवाद को आगे बढ़ाना है, प्रत्येक व्यक्ति की रोटी की समस्या है। प्रत्येक व्यक्ति की अपने अधिकार की समस्या है। और एक नहीं, अनेक समस्यायें हैं—तभी हिन्दी साहित्य सम्मेलन में एक साहित्य-जीवी से जब मैंने कहा कि एक परिषद इस विषय पर करना चाते हैं—'हिन्दी साहित्य—युद्ध के बाद' तो उन्हें यह बात कुछ पसन्द न आयी। आपने वहीं कहा—'भई, अभी यही विचारते कि आज क्या—तो ठीक रहता।' निस्संदेह आज ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। हम सुनते आये हैं कि यदि हमने आज की पूरी और ठीक चिन्ता कर ली, तो भविष्य अपने आप बन जायगा। मैं समझता हूँ, आज के यथार्थ महत्व को हम सभी मानते हैं, पर क्या हम आज को ही कल का आधार मानते हैं—उसे कल का साधन समझते हैं? यह भी हम मानते हैं कि हमारे कल का विकास आज में से होगा, जो हम भविष्य में चाहते हैं, आज बनाना पड़ेगा—भविष्य की तैयारी करने का स्थल भी आज ही है। हमें उचित है कि हम आज की चिन्ता इस ढङ्ग से करें कि इसमें से कल की तैयारी हो जाय।

आज हमें युद्ध की तैयारी करनी पड़ रही है, पर इससे क्या

हम कल भी युद्ध ही चाहते हैं। कल युद्ध को रोकने और विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिये हम क्या कर रहे हैं? 'वर्ल्ड डाइजेस्ट, के अगस्त के अंक में डा० हक्सले के एक लेख का सारांश दिया गया है। उसमें बड़ी योग्यता से इस महान् प्राणि-विज्ञानवेत्ता ने बताया है कि यह धारणा भ्रमात्मक है कि मनुष्य के अन्दर युद्ध करने की प्रवृत्ति प्राकृतिक है, और प्रकृति को ये युद्ध इसलिए लाने पड़ते हैं कि योग्यतम की छाँट हो सके तथा युद्ध के बिना शौर्य गुण का अभाव हो जाता है; बिना युद्ध के संभवतः कोई भी जाति न महान् हो सकती है, न सफल। उसने उदाहरण पूर्वक यह सिद्ध किया है कि युद्ध से कोई भी लाभ नहीं हो पाता। और तब यह परामर्श दिया है कि इस युद्ध काल में ही हमें खुले मन से इस बात की चेष्टा करनी होगी कि ऐसे युद्धों को भविष्य में रोक सकें। इन्होंने युद्ध का एक भारी खतरा यह बताया है कि प्राणि-जगत में केवल मनुष्य जाति ही ऐसी जाति शेष है, जो विकास की सर्वोच्च श्रेणी पर तो है ही, जिसमें ही केवल भावी विकास की सामर्थ्य है। इस दृष्टि से यदि मनुष्य अपनी शक्तियाँ युद्ध में ही लगाता रहा, तो विकास की क्षमता मन्द हो जायगी। विचारकों को समय रहते चेतना चाहिए।

इसी दृष्टि से ये परामर्श दिये जा रहे हैं कि भावी इतिहास में इतिहासकारों को बहुत ही सुधरी दृष्टि से इतिहास लिखना चाहिए। यदि बच्चों को आरम्भ से ही यह नहीं सिखाया जाता कि ऐसे बहुत से मनुष्य जो 'महान्' कहे गये हैं यथार्थ में मानव जाति के शत्रु थे, तो युद्ध और रक्त बहाने के लिए प्रेरणा बनी रहेगी और युद्ध नहीं बन्द हो सकेंगे—और मनुष्य जाति का ह्रास होता चला जायगा। प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में अभी तक सत्य प्रकट नहीं किया गया है—सिकन्दर, नेपोलियन जैसे व्यक्तियों को महान् बताया गया है और अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध की प्रवृत्ति को उभाड़ा गया है। यदि इतिहासकार कल के लिए आज से तैयारी नहीं करेगा तो मानव जाति के कल्याण का निर्माण कैसे होगा?

हम युद्ध को रोकना चाहते हैं, पर यह क्या केवल चाहने भर से हो जायगा। जिन सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक

कारणों से युद्ध सम्भव होता है, उन्हें एक दम पलट देने की आवश्यकता है। आज से जब विचारक साहित्यकार इस ओर जुटेगा, तो वह उन तत्वों का दर्शन कर सकेगा जिनसे मानव के योग्य जगत बन सके। तब वह उसे प्रकट करेगा इस क्षेत्र में। क्या विज्ञान में, क्या कला में, क्या साहित्य में, वह मानव की मनोवृत्ति उसी कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर करायेगा। इस प्रकार हर दिशा में बल संचय करेगा और अन्त में विषमय संस्थान को पलट कर रख देगा।

आज ही कितनी आवश्यकता है कि कल के निर्माण के तत्व के सम्बन्ध में साहित्यकार सचेष्ट हो उठे।

युग और साहित्य

एक युग और दूसरा साहित्य, पर इससे संख्या पूर्ण नहीं होती। एक तीसरा और है 'मानव'। यह त्रयी है। पर कुछ केवल द्वैत को ही मानेंगे वे कहेंगे—मानव का क्या? मानव में जो स्थूल भूत-तत्त्व परम्परा से विकास प्राप्त करता हुआ आज प्राप्त हुआ है वह 'युग' है। इसमें उस स्थूल के कारण-कार्य घात-प्रतिघातों को निहित किए हुए समग्र सूक्ष्म भी है। यह हुआ एक युग। और, मानव में जो 'मनसतत्त्व' है, उसका अव्यक्त रूप कारण है अपने ही अभिव्यक्त रूप 'साहित्य' का। पर, यहीं 'अद्वैत' भी है। या तो यह 'मनसतत्व' ही जमकर 'भूत-तत्त्व' हो गया है, या यह भूत-तत्व ही वाष्पित होकर 'मनसतत्व' हो गया है, [1] किन्तु हमें इन मूल-तत्वों पर विचार करने की अथवा रुकने की आवश्यकता नहीं। हमारे लिये 'युग' और 'साहित्य' का विचार हमारे अपने लिये ही करना आवश्यक होगया है। 'मानव' के द्वारा ही युग है, उसी के द्वारा साहित्य है। उससे निरपेक्ष जगत तथा भाव क्या आकार और रूप रखेंगे इस सम्बन्ध में कुछ कहना असम्भव न भी हो, पर अनावश्यक अवश्य है। सृष्टि चलती रह सकती है, उसमें घात-प्रतिघात—कर्म का सञ्चार रह सकता है। पर इनका अर्थ मानव के द्वारा ही लग सकता है। मानव के द्वारा ही सृष्टि की यथार्थ सार्थकता है।

१—'The palpable (Stafflich) world which we perceive with our senses, to which we belong ourselves, is the only real world," "Our consciousness and thought, however super sense like they may seem, and the product of matter this is pure matrialism."
[Engel as qusted by Lenin

सृष्टि ने अपना इतिहास 'मानव' के जन्म से पूर्व ही आरम्भ कर दिया था, पर वह 'इतिहास' का अर्थ कब पा सका ? तभी जब 'मानव' ने अपने द्वारा उसे जाना। सृष्टि की रचना का क्रम भूततत्वों में परिणति पाये हुए व्यापारों, घटनाओं, उथल-पुथलों के स्थूल प्रतीक शब्दों से प्रकट होता रहा और आज भी होता है, पर इन 'शब्दों' की और 'प्रतीकों' की सङ्गति और अर्थ जहाँ उद्भासित होते हैं—वह मानव है।

युग क्या है ?—मानव एक माध्यम भी है, निर्माता भी है, और निर्मित भी है। मानव युग का माध्यम भी है, पर युग मानव से पृथक भी कोई रूप रखता है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यही पदार्थ और युग में अन्तर है। पदार्थ—पर नहीं यह पदार्थ, पद + अर्थ नहीं, जो युग की परिभाषा में नहीं आ सकता, क्योंकि पदार्थ अपने अर्थ के अथवा उपयोग के लिये मानव की अपेक्षा रखता है। पदार्थ यथार्थ में भारतीय उपनिषदों का 'रयि' है। यह वह आबजैक्ट है जिसके आधार पर आबजैक्टिविज्म का मत खड़ा होता है। किन्तु वह है वस्तु-तत्व—जो निरपेक्ष भी हो सकता है। यह वस्तु-तत्व मानव से अलग होकर क्या युग बना सकता है ? वस्तु-तत्व को स्थूल रूप में 'लॉ आव नेचर'—प्रकृति का नियम कह सकते हैं। प्रकृति के नियमों में भी युग-परिवर्तन की बात सुनते तो हैं, वैज्ञानिकों का विकास-वाद इसीका परिणाम है। सृष्टि का निर्माण और अवसान, पुनः नव-निर्माण—ये सब प्रकृति के विकास के द्योतक हैं, पर इन समस्त परिवर्तनों का मूल्य क्या ठहरता है ? प्रकृति में स्वयं एक शक्ति है यह तो विदित हो सकता है, पर किसलिए ? इस किसलिए के लिये ही प्रकृति में मानव की सार्थकता प्रकट होती है। प्रकृति के मानवपूर्व के जड़ परिवर्तनों का भी अर्थ मानव के द्वारा ही लगाया जा सका है। मानव के साथ युग का क्या सम्बन्ध है ? युग मानव का निर्माण करता है ? या मानव भी युग का निर्माण कर सकता है ? फिर भी किसकी शक्ति कितनी है ? वस्तु-तत्व का जब उसी अपने एक अङ्ग मानव से सम्पर्क होता है तभी युग का निर्माण होता है।

युग की वैज्ञानिक परिभाषा कठिन है यों किसी एक विशेष

काल में व्याप्त और प्राप्त जड़-जङ्गम सीमित स्थिति युग है। युग में वह 'आज' होता है, जो विगत 'कल' का परिणाम और आगामी का 'सूत्र' धर होता है, जिसमें वह संघर्ष उद्वेलित रहता है, जो किसी भी वैज्ञानिक विकास को उत्तेजित करता है। उत्पादक-साधनों की ऐतिहासिक 'अथ' और 'इति' में युग प्रतिबन्धित रहता है। किसी विकास की विविधि श्रेणियों में से कोई भी एक अवस्था युग है। भावलोक में जबतक कोई दूसरी क्रान्तिकारी भावना नवीन भाववर्ग स्थापित नहीं कर देती एक युग रहता है।

युग पहचाना कैसे जाय ?—'कौनसा युग है ?' यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन लोग कहते थे एक सतयुग था, फिर त्रेता आया, फिर द्वापर और अब कलयुग है। उन्होंने युग की पहचान 'ऋजुता' और 'सात्विकता' मानी थी। ऋग्वेद ने युग की परिभाषा 'चरैवेति' मन्त्र में की है। चलने वाला सतयुग है। खड़ा हुआ त्रेता, बैठा हुआ द्वापर और सोता हुआ कलियुग। ऋग्वेद के ऋषि ने 'गति' को युग का माध्यम माना है। किन्तु इन परिभाषाओं से काम नहीं चल सकता। हम यह जानना भी नहीं चाहते कि सत-त्रेता-द्वापर-कलि में से कौनसा युग है ? साहित्यकार को युग पहचानने के लिए उन शक्तियों का परिचय और इतिहास पाना होगा जो आज या किसी भी समय मानव और उसके सामाजिक तत्वों को प्रकृति की जड़ अथवा जङ्गम प्रवृत्तियों की प्रेरणात्मक अथवा अवरोधात्मक भूमिका पर किसी विशेष रासायनिक स्थिति के सङ्घात में उपस्थित कर देती हैं।

युग आये हैं और गये हैं। आज भी एक युग चल रहा है। प्रत्येक युग में साहित्य लिखा गया है, लिखा जाता रहा है। आज भी लिखा ही जा रहा है। युग बीत जाने पर भी उस युग का निर्मित साहित्य—उसका कुछ अंश तो अवश्य ही किसी न किसी रूप में आज तक उत्तराधिकार की भाँति अथवा अनायास प्राप्त कोष की भाँति उपलब्ध प्रतीत होता है। इस साहित्य के द्वारा आज सहस्राब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी मानव जाति का भूत जीवित है। विनश्वर युग का, और क्षणभंगुर मानव का उत्पादित यह साहित्य उन विनिष्ट आत्माओं की देन को नहीं तो उनके नाम को अवश्य

अमर कर रहा है। इसके साथ ही उस काल की समस्याओं को भी हमारे सामने उपस्थित करके भूत को वर्त्तमान से उलझा कर कितनी ही जटिलताओं की सृष्टि कर रहा है। उधर यह भी कहा जा सकता है कि वर्त्तमान की प्रगति के अन्धकाराच्छन्न मार्ग को प्रकाश भी देता ही है। कितने ही विद्वानों की भूत के प्रति एक धार्मिक श्रद्धा रही है और उन्होंने पूरे विश्वास के साथ यह माना है कि पुरातन काल में जो लिखा गया, वह भले ही पुरुषों ने लिखा हो, है अपौरुषेय ही। उसमें जो है वह उसके बाद नहीं आ सका है। उन्होंने माना है कि 'साहित्य' युग-युग का होता है। आज जितने भी धर्म प्रचलित हैं, उनकी वह श्रद्धा अपने धार्मिक ग्रन्थों में अपरिमेय है। इसी श्रद्धा के कारण वे अपने धर्म के आधार ग्रन्थों की अपौरुषेय रूप में व्याख्या करते हुए उन्हें 'ईश्वर' कृत मानने लगते हैं। और इसी बात से सिद्ध है कि युग में परिवर्त्तन हुआ। जो कल था वह आज नहीं—तो परिवर्त्तन सिद्ध है।

युग परिवर्तन के सम्बन्ध में एक मत तो यह है कि विधाता के अथवा प्रकृति के नियमानुसार समय पाकर मानव के यथार्थ गुणों का और शक्ति का ह्रास होता चला जाता है। सतयुग से त्रेता द्वापर होता हुआ कलियुग आ जाता है। इस मत का आधार चारित्रिक सहजता है। काल के व्यतीत होने के साथ-साथ समाज जटिल होता चला जाता है, जटिलता के लिए बौद्धिक कौशल की अपेक्षा होने लगती है। 'सात्विकता' नष्ट होती चली जाती है। सात्विकता हृदय-पक्ष के सहज और निर्मल रहने से होती है। जब हृदय-पक्ष जितना ही सहज और निर्मल होगा, उसका प्रभाव जब जितना विशेष होगा, उतना ही युग महान् होगा। इस सिद्धान्त के पीछे यह मान्यता है कि जो हमें दिखाई पड़ता है और जो है उसके अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति है जो समाज में जटिलता ला देती है, क्योंकि मनुष्य में पाप-प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। इस दृष्टि से युग के बाद युग आते हैं, प्रत्येक युग पहले से गिरा हुआ, निकृष्टतर। इतिहास में युग-परिवर्त्तन का कारण माना जाता था कोई महान् पुरुष या राजा या सिद्ध। इन सब मतों से इतिहास एक घटनाचक्रों का विवरण मात्र माना जायगा। इसमें विविध उत्थान-पतन मात्र आकस्मिक हैं। भारत में आर्यों का आगमन एक आकस्मिक घटना है, इसी प्रकार सिकन्दर

का आक्रमण भी, तैमूर का भी। राज्य में उथल-पुथल भी समुद्र में तूफ़ान की भाँति है, जिनकी कोई विशेष परम्परा नहीं मानी जा सकती। मार्क्स ने एक नई व्याख्या दी, उससे इतिहास भी वैज्ञानिक धरातल पर पहुँच गया है। उसने यह सिद्ध किया है कि यह कोई अन्तर्भुक्त चेतना विधाता, विश्वात्मा अथवा प्राकृतिक बुद्धि नहीं है, जो इन परिवर्तनों के लिये उत्तरदायी है।[१] परिवर्तन तो पदार्थ या वस्तु का स्वाभाविक धर्म है। जीवन की पदार्थवर्तिनी परिस्थितियाँ मनुष्य के विचारों में परिवर्त्तन प्रस्तुत करती हैं। मनुष्य की परिस्थितियाँ ही इतिहास-निर्माण और युग-परिवर्तन के लिए मनुष्य को प्रेरित करती हैं। मार्क्स ने कहा है : "अपना इतिहास स्वयं मनुष्य ही बनाता है, किन्तु वे ऐसा अपनी स्वनिर्वाचित स्थितियों में स्वेच्छा से नहीं करता। किंबहुना, वे उसका निर्माण उन शर्तों पर करते हैं जो उन्हें हस्तान्तरित की गयी हैं, और निर्दिष्ट हैं।" एक युग का मनुष्य विगत युग से आने वाली परिस्थितियों को ग्रहण करके उसीमें से नये युग की प्रेरणा प्राप्त करता है। यह प्रेरणा मूलत: आर्थिक प्रेरणा होती है। उत्पादन के साधनों के आधार पर ही युग का रूप और स्वभाव निश्चित होता है। एक वह युग था जब मनुष्य उत्पादन करना नहीं जानता था। जहाँ उसकी आवश्यकता की वस्तुएँ प्रकृति से मिल जाती थीं वहीं वह चल पड़ता था—एक आज का युग है कि मनुष्य ने दानवीय यन्त्रों की रचना कर डाली है, प्रकृति पर उसने पूरा शासन कर रखा है और छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु का भी वह उत्पादन स्वयं कर लेता है। इन दोनों अवस्थाओं के बीच में अनेकों युग बने हैं, और बीते हैं।

साहित्य का युग से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। युग की प्रवृत्ति और प्रक्रिया की प्रतिक्रिया साहित्य पर बड़े वेग से होती है। अत: युग का प्रतिबिम्ब भी साहित्य में मिलता है। साहित्यकार के मानस में युग के अभाव भी स्पष्ट हो उठते हैं। युग जो है, वह पूर्ण नहीं है, उसके समस्त प्राकृतिक उपादान भी उसकी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पाते। यही आवश्यकताएँ युग के आदर्श के रूप में साहित्य

१ लास्की : कम्यूनिज्म पृ० ५८।

में विविध रूप धारण कर लेती हैं। साहित्यकार अपने चारों ओर की परिस्थिति को देखता है, वह सब उसके लिये हस्तामलकवत् हो जाती हैं और उसके विशद् मानस-पट पर वह जिस लघुता के साथ अङ्कित होती है उससे उसके अभावों का रूप उग्र हो उठता है। साहित्यकार युग में सञ्चलित विविध तत्वों में से कभी-कभी किसी विशेष तत्व को ही उभार दे देता है। इन दो अभिप्रायों में ही साहित्य के कार्य की इतिश्री नहीं हो जाती। वह अपनी समर्थ मेधा से इन अभावों और आवश्यकताओं की पूर्ति की योजनाएँ भी अपनी कला से देता है। उसकी सौंदर्यानुभूति 'कला' को जब केवल कला के लिये ही चित्रित करती होती है, कला को जब कला के लिए ही न्यौछावर करती होती है, तब वह अधिक से अधिक सापेक्ष से निरपेक्ष रूप की तुलना करती होती है, और उसमें जो सामग्री प्रस्तुत को पूर्ण बनाने के लिये होती है, उसे उपस्थित करती होती है। आज तक जितना भो साहित्य-निर्माण हुआ है, उसमें जितने भी आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई है, वे पूर्ण से पूर्ण भी अपने युग के लिये ही पूर्ण कहे जा सकते हैं। साहित्यकार की मेधा की क्रान्तदर्शिनी दिव्यदृष्टि भी युग से उद्भूत उसकी शक्ति का ही परिणाम होती है, वह मुख्यतः जिन आधारों पर अपने बुद्धि के तर्क को ले जाता है, वे आधार एक दम युग की स्थूलतम वस्तुएँ होती हैं। युग के स्थूल तन्त्र से साहित्यकार की मेधा के तन्त्र का सङ्घर्ष हो जाता है, तो युग के वे स्थूल संकेत भी अपनी भूत तन्मात्राओं में (Physical logic) भौतिक कारण-कार्य परम्परा के द्वारा कुछ अर्थ ध्वनित करते हैं, और साहित्यकार का मानस भी उसका आन्तरिक-तन्त्र भी गूँज उठता है। इसी गूँज में साहित्य का धर्म अन्तर्निहित है और यह गूंज युग के तन्त्र से ऊपर उठकर युग-युग के स्व-तन्त्र से सम्बन्धित हो जाती है। साधनों के घेरे में इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति के जो नव निर्माण होते हैं, वे स्थूल पदार्थ जगत में ही परिणतियाँ नहीं करते मानसिक संन्यास भी वैसा ही हो जाता है, और साहित्य का स्वरूप (फार्म) भी बदलता है। यथार्थतः यह व्याख्या साहित्य की प्रेरणाओं की है, साहित्य की आत्मा की नहीं, अतः साहित्यकार की पहली आवश्यकता यह है

कि वह युग को पहचाने। प्रत्येक युग के निर्माण में पदार्थ-तत्व और मानस-तत्व का अभिनिवेश होता है। मानस-तत्व को मैटरियलिज्म के अनुसार पदार्थ-सम्भूत भी माना जाय तो वह एक पृथक शक्ति तो फिर भी रहेगी ही। कितनी ही कार्य-कारण की ऐतिहासिक परम्परा से युग की रूढ़ियों का आधार सुनिश्चित किया जाय प्रतिभाओं की दानवीयता की पर्याप्त व्याख्या नहीं हो सकती। बुद्ध ने, ईसा ने, मुहम्मद ने आज भी जो अपने लिए आदर का स्थान बना रखा है, वह मात्र ऐतिहासिक अभी तक तो नहीं माना जा सकता। इन मेधावियों ने विश्व के मानव-समूह पर अपनी गहरी छाप डाली है, और युग के रूप और अर्थ को बदला है। विशेषता यह है कि उनकी छाप ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप युग की सीमाओं में ही नहीं रह गयी वे आज तक वैसे ही सजीव चले आ रहे हैं। इस युग में मार्क्स को इसी कोटि में रखा जा सकता है। अन्तर एक महान् प्रतीत होता है। मार्क्स द्रष्टा है। उसने जो है उसे देखा, उसमें विद्यमान शक्ति का परिचय कराया। बुद्ध आदि स्रष्टा भी थे, उन्होंने जो नहीं था वह दिया। मार्क्स ने देखा संघर्ष है, उसके लिये यह संघर्ष पदार्थ-शक्तियों का संघर्ष था। उसने इस संघर्ष में उस शक्ति का साथ देने की प्रेरणा दी जो आगे विजयी होने वाली और ऐतिहासिक स्थितियों में सशक्त होने की सम्भावना रखती थी। स्रष्टाओं ने जीवन के लिये वह सिद्धान्त, वह आचार दिया जो पदार्थमय जगत में मिलता ही नहीं। साहित्यकार इसी मानसिक शक्ति का माध्यम है—प्रतिनिधि है। वह यथार्थतः द्रष्टाओं से अधिक स्रष्टाओं की परम्परा में आता है।

साहित्यकार ऐसा क्यों करे—साहित्य की जितनी भी परिभाषायें की जा सकती हैं वे चाहे घोर पदार्थवादी द्वारा हों अथवा घोर अध्यात्मवादी द्वारा हों, वे यही प्रकट करती हैं कि साहित्य के प्रधान तीन कर्म हैं: एक चित्र प्रस्तुत करना, दूसरा आदर्श उपस्थित करना, तीसरा मन को प्रवृत्त करना। साहित्य का निवृत्ति से कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। साहित्य के मूल में राग का प्राधान्य है। प्रकृति के व्यापारों में एक अनिवार्यता का भाव तो है, राग और इच्छा का उनमें अभाव है। फलतः मनुष्य के पास

तीन तत्व विद्यमान हैं। प्रकृतितत्व उसकी स्थूल प्रवृत्तियों का विषय और आधार है। मनस-तत्व उसमें सूक्ष्म विचार जगत् की स्थापना करता है, उसे गति देने के लिए है, हृदय-तत्त्व राग का भण्डार है। यदि समस्या को स्थूल रूप में रखा जाय तो :

मनुष्य = प्रकृति + बुद्धि + राग—

बहु-मनुष्य=प्रकृति समुच्चय + बुद्धि-समुच्चय + राग-समुच्चय

समाज=सामाजिक अधिकार + समाज-सिद्धान्त + समाज- प्रवृत्ति

× देश × काल > < उदय-विकास-स्थिति-ह्रास-लय°।

इसको और भी स्थूल रूप में रखा जा सकता है। प्रकृति से सम्बन्धित देश-काल-उदय-अस्त अचेतन अथवा जड़ सब सृष्टि के ही अङ्ग हैं। बुद्धि और राग चेतन के धर्म हैं। सृष्टि में यही जड़-चेतन का संघर्ष है—संघर्ष का अर्थ परस्पर विरोधी पक्ष ग्रहण करके उत्कर्षापकर्ष ही नहीं है, उनका पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का रूप भी संघर्ष ही है। जड़-चेतन का यह द्वन्द्व सृष्टि में अनिवार्य है। चेतन को भले ही आस्तिकों और अध्यात्मवादियों की भाँति अनादि तत्व और परमतत्व न माना जाय, उसे पदार्थवादो की भाँति पदार्थ से भी उद्भूत माना जा सकता है। चैतन्य की पार्थिवता भी यदि मानली जाय, तब भी वह एक उत्कृष्ट पार्थिव-शक्ति है, और जड़ पार्थिव शक्तियों की अन्ध स्थूल गतियों की अपेक्षा चेतन-पार्थिव को कई विशेषताएँ प्राप्त हैं। उसकी तरलता उसका एक बड़ा गुण है, और यह तरलता अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त गतिवान है। यही कारण है कि मानव ने भीषण से भीषण जड़-शक्ति पर अपना अनुशासन कर रखा है। उसके आविष्कार पार्थिव तथा पाशविक शक्ति के आविष्कार नहीं हैं, न वे आविष्कार मात्र विकास के क्रम की कड़ियाँ हैं। वे आविष्कार हैं, अनुसन्धान हैं। प्रकृति ने जैसे अपने उद्घाटन के उद्योग में ही बुद्धि-चेतना को जन्म दिया हो। यों बुद्धि और मेधा की श्रेष्ठता और असीम शक्तिमत्ता पार्थिवता से भी प्रतिष्ठित होती हैं, अध्यात्मवादी का तो विश्वास ही इस बुद्धि-चेतन के मूल परम चेतन परमात्मा पर

टिका हुआ है। साहित्यकार इसी क्षेत्र का व्यवसायी है। वही प्रकृति और पुरुष के यथार्थ मर्म का दर्शन कर सकता है, वही उस महान् अभीष्ट के लिये मानव को, उसके द्वारा समाज को, उसके द्वारा और साथ प्रकृति को जान सकता है। उसे युग के मर्म और धर्म को समझना है। मर्म है वर्तमान और धर्म है भविष्य का गर्भ जो वर्तमान में स्थित है। मार्क्स ने कई शताब्दियों पूर्व उन शक्तियों को देख लिया जो भावी निर्माण के लिये उत्सुक थीं। उसका दर्शन कितनी मन्दगति से विश्व में व्याप्त होता जा रहा है। उसने समाज के अन्दर शक्तियों का द्वन्द्व देखा, व्यक्ति-मानव समष्टि के अर्थ का साधन, समष्टि में उत्तेजित शक्तियों के इशारे पर नाचने वाला। जहाँ उसने इस प्रकार मानव को 'कन्दुक इव' देखा, वहाँ जिस शक्ति से देखा वह चेतन मानव की उस आत्यन्तिक हीनता को वेध-कर वर्तमान से कितनी आगे बढ़ गयी थी। ऐसे ही भविष्य को अनेकों ने देखा है, और वे उसके निर्माता बने हैं। समष्टि और समाज सदा उस द्रष्टा की अनुगामिनी रही हैं। निर्माण की रूपरेखा मेधावी ही बनाता है, गति देने की योजना वही सुझाता है। साहित्यकार का उत्तरदायित्व इसीलिये महान् है। इसीलिये उसे आवश्यक है कि युग को, उसके मर्म और धर्म को भली प्रकार समझे। मर्म को चित्रित करदे। धर्म का आदर्श और आदेश दे—और इन्हें मानव के स्पन्दनों में घुलामिला कर एक वास्तविक गति बनादे।

साहित्य के संकट

'युद्ध समाप्त हो गया'—ऐसा कहा जाता है। किन्तु युद्ध स्वयं मर नहीं सका है। जबतक स्वयं युद्ध की अन्तिम क्रिया नहीं हो लेती, मानव की मुक्ति नहीं—मानव के दुःखों का मूल कारण यह युद्ध ही है। साहित्यकार मानवता का प्रकृष्ट दूत है। यह इसलिए नहीं कि वेदों में ईश्वर को कवि बताया गया है—'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू', इसलिए भी नहीं कि आज का भौतिकवादी वैज्ञानिक मस्तिष्क को भूत-तत्वों का उन्नततम प्रतिविम्ब और विकास मानता है—पर इसलिए कि अत्यन्त स्थूल दृष्टि से और मनःस्थितियों के प्रत्यक्ष अध्ययन से यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि साहित्यकार ही यथार्थ आदर्शों का निर्माणकर्ता है। परिस्थितियों के संघर्षों को साहित्यकार ही वाणी देता है, भौतिकवाद की दृष्टि से परिस्थितियों में विद्यमान अन्यथा विरोधी तत्वों का समझने योग्य निदर्शन वही कराता है और उन्हीं के अनुकूल उनमें व्याप्त ध्येय अथवा अभीष्ट को वही आदर्श बनाकर जगत् की प्रगति का दिग्दर्शक बनता है, वही अध्यात्मवादियों की दृष्टि में उस परमतत्त्व के मर्म को उद्घाटित करता है, वही अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला है, उसी के लिए समस्त पीड़ित मानवता की यह पुकार है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय,' वही निश्चेष्ट जड़ता से क्रियाप्रभूत चैतन्य की ओर ले जानेवाला है, उसी से जड़ता के बोझ से आक्रान्त ऊबी हुई सृष्टि का यह आह्वान है 'असतो मा सत गमय'।

मनु का मार्ग—वैदिक मनुष्य ने इसी 'विश्वेदेवा' से यह प्रार्थना की—'मा नः पथः पित्र्या-न्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः' (ऋ०८,३०)—हमें हमारे पिता मनु के मार्ग से दूर—अलग मत ले जाना। वह मनु का मार्ग क्या है? मनुकी मानवता से क्या तात्पर्य

है ?—ये प्रश्न गम्भीर और विचारणीय हैं अवश्य, और आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों ने मनु के उस मार्ग के विविध अर्थ प्रस्तुत करने के बड़े प्रबल प्रयत्न भी किये हैं। इन प्रयत्नकारों में 'प्रसाद' सबसे अग्रणी हैं—उनकी 'कामायनी' में मनु के मार्ग का शोध करने का विकल उद्योग है। डा० रामकुमार वर्मा का 'अन्धकार' एकांकी भी उसी की व्याख्या करने का एक लघु प्रयत्न है। फिर पं० उदयशङ्कर भट्ट के 'तीन नाटकों' में से प्रथम दो भी इसी के लिए हैं। मनु की ओर यह दृष्टिपात अकारण नहीं है। युद्ध और उसकी विकट तथा जटिल परिस्थितियों ने, उसके उपरान्त के अवसादमय भाव-विप्लव और द्वापरता ने, वैज्ञानिक भूततंत्रों के अमानुषिक उपयोग ने भावी मानव को जिस संकटापन्न अवस्था में पटक दिया है, उसी की कल्पना से आज का मानव-मानस-साहित्यकार छटपटा रहा है। वह एक नहीं अनेक उद्योग करके इन समस्त विषमताओं के आच्छादन में क्षुभित 'मानव' के रूप को उभार कर ऊपर लाना चाहता है—वह 'पथ: पितृयान्मानवात्' का शोध करना चाहता है और कहना चाहता है कि वह यह है। कहीं वह यथार्थत: ही उस मार्ग पर उँगली रख सके तो कितना कल्याण हो। पर दीखता यह है कि इसके लिए आज के युग में जितने सङ्कट और खतरे हैं उतने कभी नहीं थे। हम उन खतरों की यथार्थ परीक्षा करने के अपने को अधिकारी तो नहीं समझते पर उनकी ओर संकेत करने का प्रत्येक का कर्तव्य समझकर ही सूक्ष्म में अपने विचारों के साथ उन्हें रखना चाहते हैं।

सत् और असत्—साहित्यकार का सबसे पहला सङ्कट उसकी क्षुभित प्रतिभा है। विश्व की विविध प्रगतियाँ उस पर आक्रमण करती हैं, उसकी दृष्टि को अवरुद्ध कर देती हैं, वह विचलित हो उठता है और उस मार्ग को भूल जाता है जो उसे प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा था। यह भ्रम की दशा साहित्य के लिए अत्यन्त घातक है। उसे यह बताना है कि 'यह सत्य है'—और यह निर्दिष्ट सत्य ही सत्य हो तो साहित्य और मानव-निर्माण की भूमि ठोस होती है, यदि वह मिथ्या को सत्य बता दे, असत् को सत् बता दे तो भ्रम का शिकार हो जायगा, उसका समस्त साहित्य मानव को एक विडम्बना में डाल देगा। सत्य और असत्य को हम वैदिक उपनिषदों की भाँति एक ही

यथार्थ के—परम तत्व के दो पहलू मानें तो सत् और असत् वैज्ञानिक भौतिकवाद के 'कण्ट्रेरियों' में माने जा सकते हैं। जो प्रस्तुत असत् को अपने प्रबल ठोस वेग द्वारा उखाड़कर फेंक दे और अपने को प्रतिष्ठित कर ले वह सत् है। यह सत् अविद्या अथवा कर्म से मिलकर जब गतिमान होता है तब अपने अन्दर से अपने विरोधी सत् को पुनः जन्म दे देता है, स्वतः अपनी स्वरूप-रक्षा के लिए नये सत् से अलग होता जाता है और संघर्ष में प्रवृत्त होता जाता है। साहित्यकार सत के इस विकार और विकास को हृदयंगम कर लेता है—वह सत् को सत् और असत् को असत् स्पष्टतः चित्रित कर देता है। किन्तु यह निश्चित है कि उस सत् और असत् की पहचान में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। सत् और असत् की शक्तियाँ विधि और निषेध की शक्तियाँ नहीं हैं, दोनों ही वैध हैं, और एक सत् का एक ही असत् होता है। अनभ्यस्त अथवा प्रमादग्रस्त मस्तिष्क को हो सकता है अन्यथा-सिद्ध सत् ही सत् विदित होने लगे। यह एक बड़ी गम्भीर स्थिति है। इस युग में इस भ्रम के अनेक अवसर हैं—उदाहरणार्थ, हमारे समक्ष दो प्रबल वाद उपस्थित हैं—एक गान्धीवाद दूसरा समाजवाद अथवा मार्क्सवाद। इनकी आंतरिक परीक्षा हम इस प्रकार कर सकते हैं—

गान्धीवाद	मार्क्सवाद
१ आध्यात्मिक पक्ष में—	
अ—आस्तिक है। आत्मा-परमात्मा में विश्वास रखता है, परमात्मा के सन्देश को पाने में भी विश्वास रखता है।	अ—भौतिकवादी वैज्ञानिक है; नास्तिक है, मनको भूत तत्वों का सूक्ष्म उत्कृष्ट व्यापार मानता है।
आ—मानव-मात्र की एकता में और समानता में भी विश्वास करता है क्योंकि उसमें एक ही अमर सत्ता परिस्फुटित है। फलतः 'अमर' को मारने के पाप को वह स्वीकार नहीं कर सकता—वह अनेकता और विभेद को अज्ञान	आ—असत् को और सत् को भूत प्रकृति की प्रक्रियाएँ मानता है। असत् का नाश करना अनुचित नहीं—यह नाश अनिवार्य ही है, अतः हृदय-परिवर्तन जैसी बात यहाँ नहीं मानी जा सकती; हृदय का रूप भूत-तत्वों से ही

और अविद्या मानता है, इसीलिए हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखता है—मूलतः घोर आशावादी है। तभी अहिंसा उसका साधन है और सत्य ध्येय।

इ—ब्रह्मानन्द को मानता है।

निर्मित है, और वह किसी ऐतिहासिक प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए ही वैसा बनाया गया है। फलतः प्रवृत्ति-पक्ष में निराशावादी है।

इ—समस्त अभावों के नाश से उत्पन्न होनेवाली, पूर्ण मानव के विकास से प्राप्त एक सुख-शालीनता ही प्राप्य है, जिसका आनन्द मानसिक आनन्द ही हो सकता है।

२ व्यक्तिगत पक्ष में—

अ—साधन की पवित्रता को प्राधान्य देता है, और व्यक्ति को स्वयं महत्त्वपूर्ण मानता है।

आ—संयम अथवा ब्रह्मचर्य और नैतिक अथवा व्यक्तिगत पवित्रता को उपार्जनीय सम्पत्ति मानता है।

इ—व्यक्ति के द्वारा व्यवस्था और समाज का निर्माण होता है।

अ—समाज के अंग के रूप में ग्रहण करता है, साधन को साध्य की दृष्टि से ही ग्रहण करता है।

आ—संयम आदि को अवैज्ञानिक तथा व्यक्तिगत पवित्रता अथवा अपवित्रता को परिस्थितियों का परिणाम मानता है, जिनका उत्तरदायित्व व्यक्ति पर नहीं, व्यवस्था पर है।

इ—ऐतिहासिक शक्तियाँ ही निर्माण करती हैं, व्यक्ति तो एक अंग है—बस।

सामाजिक पक्ष में—

अ—व्यक्तियों से बने समाज में अनेकता में एकता की स्थापना है। अतः सर्वोदय ही अभीष्ट होना चाहिये।

आ—सर्वोदय के लिए अध्यात्म, शरीर और अर्थ-

अ—समाज की व्यवस्था ऐतिहासिक शक्तियों का परिणाम है—इससे आज यह समाज दो वर्गों में विभाजित है—शोषक और शोषित। श्रमिक सर्वत्र शोषित है, इस वर्ग की विजय

व्यवस्था सभी का समुचित और सहयोग से समन्वय होना चाहिए। घृणा और शत्रुता का भाव किञ्चित् भी नहीं होना चाहिये। प्रेम और संवेदना ही उचित है।

इ—सामाजिक दृष्टि से यौन-नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है। स्त्री और पुरुषों को अपने व्यवहार नैतिक सम्बन्धों की कल्पना की भूमि पर ही रखने चाहिये। स्त्री और पुरुष साधारणतः भाई और बहन हैं या माँ और बेटे हैं। अन्य प्रकार के यौन सम्पर्क का क्षेत्र अत्यन्त सीमित और नियमित होना चाहिये।

राजनीतिक पक्ष में—

अ—राजनीति मात्र एक साधन है जिसके द्वारा मानव अपने वास्तविक कल्याण—आध्यात्मिक अभीष्ट को प्राप्त करने की सुविधाएँ दिलायी जा सकती हैं और उन प्रवृत्तियों और प्रगतियों को रोका जा सकता है

और पूँजीवर्ग का नाश हो जाने से ही कल्याण होगा।

आ—प्रधान कारण आर्थिक विषमता है, उसके दूर हो जाने से समस्त व्यवस्थाएँ स्वतः ठीक हो जायँगी। वर्ग के भीतर सहयोग स्वाभाविक है, अन्य वर्ग से विरोध स्वाभाविक है, अतः विरोधी वर्ग को नष्ट करना ही प्रधान उद्योग है। शत्रु तो शत्रु ही है, घृणा आदि स्वाभाविक हैं, दूसरे वर्गों के प्रति इन्हें उत्तेजित करना प्रगति है।

इ—पुरुष और स्त्री पुरुष और स्त्री हैं। यौन आवश्यकता प्राकृतिक माँग है, जिसका निरोध प्रकृति-विरुद्ध व्यापार है और अवैज्ञानिक है। स्वस्थ मानव की दृष्टि से किसी प्रकार के अस्वाभाविक बन्धन में पुरुष अथवा स्त्री को नहीं बाँध रखना चाहिये—विवाह-प्रथा इसीलिए विचारणीय है।

अ—राजनीति अर्थनीति का ही एक रूप है, अतः मनुष्य का यथार्थ कल्याण इसी राजनीति को वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए उपयोग में लाने में है।

आ—राजनीति को धर्म से सम्बद्ध करना अनुचित है, और

जो इस मार्ग में अग्रसर होने के लिए आवश्यक सम्पन्नता प्राप्त करने में बाधक बनें।

आ—धर्म से परित्यक्त राजनीति होनी ही न चाहिये।

इ—प्रत्येक मानव यदि अपने धर्म का पालन करे—कर्तव्य पर दृढ़ रहे तो राजनीति भी सुव्यवस्थित हो जाय। कर्तव्य के अनुसार अधिकार मिलता है।

औद्योगिक पक्ष में—

अ—स्वावलम्बन ही प्रधान उद्योग है। अपनी प्राप्य अथवा प्राप्त सामग्री के अनुसार ही अपनी आवश्यकता रखनी चाहिये। स्वावलम्बन ही यथार्थ स्वातन्त्र्य है। कर्तव्यचेतना से युक्त स्वावलम्बन-स्वातन्त्र्य में राजा अथवा राजनीति की आवश्यकता ही न रह जायगी। अराजकता ही परम अभीष्ट है।

आ—विकेन्द्रीकरण उद्योग पक्ष का महान साधन है फलतः 'चरखा' मानव-कल्याण का यथार्थ प्रतीक है, और गृह-उद्योग जो गाँव की उत्पादित सामग्रियों पर पनपें, विशेष प्रोत्साहन के अधिकारी हैं। एक क्षेत्र के विविध उद्योगों का समन्वय और सहयोग स्वाभाविक विनिमय के आधार पर होना चाहिये।

एक विश्रृंखलित जटिलता में फँस जाना है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

इ—राजनीति की सुव्यवस्था पहले आवश्यक है। अधिकार के अनुसार कर्तव्य निश्चित किया जाता है।

अ—स्वावलम्बन जैसी कोई स्थिति इस प्रवृत्तिमय जगत में हो ही नहीं सकती। आज की समस्त शक्तियों की प्रवृत्ति सामूहिक संघटित उद्योग की ओर है। यही प्रगति है। आवश्यकताएँ बढ़ाना समृद्धि का सूचक है।

आ—उद्योग पक्ष का महान अभीष्ट पूँजी का समाजीकरण है। वर्तमान युग की उपलब्धियों से पीछे नहीं लौटा जा सकता। यन्त्र युग है—विशाल उद्योग-केन्द्रों का निर्माण होने में ही कल्याण है। पूँजी के समाजीकरण के कारण राजनीतिक सत्ता का भी समाजीकरण अत्यन्त आवश्यक है, और यही सत्ता समस्त जन—अपने अंग का सामग्रियों का समान वितरण करेगी।

जीवन सिद्धि का हल—

ये तथा ऐसी ही और भी अनेक बातें हैं जिनमें दोनों वादों का अपना रुख भिन्न-भिन्न है। भारत में यह समस्या विशेष जटिल है क्योंकि दोनों ही वाद यहीं जीवन-सिद्धि के हल का आधुनिक युग के अनुकूल क्रियात्मक रूप प्रस्तुत करते हैं। संसार के अन्य देशों में जीवन-सिद्धि का कोई विशेष दूसरा वाद नहीं है, इसीलिये अन्य देशों में विद्यमान प्रणाली के संचालकों के पैरों तले से जमीन निकल गयी है, उनके गर्हित स्वार्थ ही मार्क्सवादी प्रगति का अवरोध कर रहे हैं, पर भारत में दोनों वादों की पहले यथार्थ परीक्षा हो लेनी है जिससे भ्रम न रह जाय। यह परीक्षा तटस्थ भाव से साहित्यकार को ही करनी है। यदि साहित्यकार किसी आवेग में आकर अथवा निर्विवेक होकर केवल एक परिपाटी के संसर्ग अथवा प्रलोभन से उसी दल का हो जाता है, और उन बातों को 'सत्' के रूप में प्रचारित करता है जो असत् हों तो वह मानव के लिये सङ्कट उपस्थित कर देगा और साहित्य को खतरे में डाल देगा; वह अप्रगति के लिये उत्तरदायी बन जायगा। हिन्दी में हम आज के साहित्यकार को उलझन में पड़ा हुआ पाते हैं—हमें यदि क्षमा किया जाय तो हम कह सकते है कि हमारा कलाकार न भारत को जानता है न रूस को, न गांधीवाद को भली भाँति वह समझ पाया है और न मार्क्सवाद को, फिर भी वह अहंकार के शिखर पर चढ़ा हुआ दिन में भी तारे देखा करता है, अथवा शुतुरमुर्ग की भाँति रेगिस्तान की रेत में अपना सिर छिपाकर अपनी भ्रान्त मौलिक सूझ को मानव-कल्याण की विजय पताका बनाता है।

यौन सम्बन्ध की समस्या—

जीवन-सिद्धि के इस मध्य-बिन्दु के साथ और भी अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनके सम्बन्ध में हम अपने कलाकारों और साहित्यकारों से असंदिग्ध मत अथवा हल चाहते हैं। स्त्री और पुरुषों का यौन और सामाजिक सम्बन्ध एक ऐसी ही समस्या है। इस समस्या के आज अनेक पहलू उपस्थित हो गये हैं; कुछ पहलू इसके अभौतिक और आध्यात्मिक पक्ष के हैं—प्रेम और काम-विषयक। आज का साहित्यकार निस्सन्देह अध्यात्म की ओर नहीं

जाता—फिर भी प्रेम की अलौकिक कल्पना से उसका छुटकारा नहीं हुआ है, वह शली में पूर्ण पदार्थवादी और कार्य-कारण की परम्परा प्रस्तुत करते हुए, मूल में कुछ ऐसा मानता है कि प्रेम का आकर्षण दो शरीरों का आकर्षण नहीं, दो आत्माओं का आकर्षण है, और यह जैसे अनन्त बन्धन है। प्रेम दूसरे रूप में एक शारीरिक आवश्यकता को प्रकट करने का साधन भर है। शरीर जब भोजन चाहता है तब उस चाह को हम 'भूख' कहते हैं, जब रति चाहता है तब उस चाह को 'काम' कहते हैं। इस 'काम' को जब हम अनवरत स्थायी आवेग का रूप प्रदान कर देते हैं तब वही प्रेम हो जाता है—भोजन पक्ष में भूख जैसे 'भस्मक' बीमारी का रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार 'काम' जब रोग की भाँति हमारे हृदय को परिव्याप्त करले तो वही एक दिव्य नाम से पुकारा जाने लगता है—उसे हम 'प्रेम' कहने लगते हैं। अध्यात्म पक्ष में प्रेम वह चीत्कार है जो परम तत्त्व से वियुक्त होने के कारण जीव के हृदय में उठता है। भौतिक पक्ष में यौन उद्रेक ही प्रेम है, उसका दमन हानिकारक है। यौन पक्ष में यह समस्या है कि स्त्री-पुरुषों को अपनी यौन आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये मुक्त कर देना चाहिये अथवा उसके लिये विवाह या उसी जैसा कोई बन्धन रखना चाहिये। यौन-सम्बन्धों का समाज-सम्बन्धों से क्या व्यवहार होना चाहिये? आधुनिक साहित्यकार ने इस स्थिति का अध्ययन करने का प्रयत्न तो किया है, पर उसमें वह निर्भ्रम नहीं हो पाया। इस प्रश्न का सम्बन्ध जाति और राष्ट्र की मानव-शक्ति से भी है, और बहुत घनिष्ठ है। विगत युद्ध में देशी-विदेशी स्त्री-पुरुषों के जैसे सम्पर्क हुए हैं, उनकी ओर हमारे साहित्यकार की दृष्टि तो अभी गयी नहीं है, पर आज शास्त्रकार से अधिक साहित्यकार ही इस दिशा में मार्ग-प्रचेता हो सकता है—साहित्यकार की 'कान्ता-सम्मित' वाणी ही हमारे आचारों के लिये कोई अर्थ रखती प्रतीत होती है, अतः हमारे साहित्यकार को इस सम्बन्ध में गम्भीर विचार कर भूत-वर्तमान-भविष्य को हस्तामलकवत् देखकर निर्भ्रान्त साहित्य देने की चेष्टा करनी है। हाँ, उसे स्वयं अपनी प्रतिभा का प्रकाश देखना चाहिए। विश्व के घटना-चक्र, देश की वर्तमान परिस्थितियों

के संकेत से ऊर्जस्वित ज्ञान का प्रकाश स्वयं उसके मानस में जगमगाना चाहिये—विज्ञान उसके लिये दीपक तो दे पर प्रकाश उसीका हो। दूसरे की उँगली पकड़ कर अंधे की भाँति चलना कभी श्लाध्य नहीं कहा जा सकता।

पूर्वजों का चित्रण—

साहित्यकार से अभी कुछ दिन हुए यह भी कहा गया था कि यदि वह सृष्टिको विघातक घटनाओं से बचाना चाहता है तो अपने पूर्वजों की मूर्खता को न दुहराये—जैसे पूर्वजों ने नेपोलियन आदि युद्ध-निर्माताओं को महान् योद्धा, अद्भुत वीर आदि विशेषणों से विभूषित कर उनके चरित्र और आचरणों को आदर्श बना दिया—ऐसा कि दूसरे उसे अनुकरणीय समझने लगें, उसे सराहना के योग्य समझें। इस कोटि के विचारकों ने कहा है कि आनेवाले इतिहासकारों को हिटलर की मात्र-भर्त्सना ही करनी चाहिये। साहित्यकार के लिए यह प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत में राम और रावण के युद्ध हुए माने जाते हैं, कृष्ण और कंसके तथा पांडव और दुर्योधन के। रावण और कंस राक्षस और दैत्य माने जाते हैं, उनके प्रति हमारे हृदय में घृणा का स्रोत फूट पड़ता है। दुर्योधन अत्याचारी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह सब साहित्यकारों की ही देन है। सीता का अमानवीय त्याग करके भी राम आदर्श हैं, साहित्यकारों के कौशल से ही। यह प्रश्न सीधे शब्दों में साहित्यकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता है कि उसकी रचना में किस प्रकार का व्यक्ति श्लाघनीय रूप में चित्रित होना चाहिये—व्यक्ति और उसका व्यक्तित्व, उसकी कमजोरियाँ और विशेषताएँ—इन सब को, गति में स्वाभाविकता की दृष्टि में रखते हुए, अपने विशेष लक्ष्य से वह क्यों बाँधे, उस कल्याण के लिये, जिसे साहित्यकार ने किन्हीं उद्वेगों में अनुभव किया है। साहित्यकार आखिर क्यों अपनी निजी इच्छा को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है?—अवश्य ही वह उसका प्रचार चाहता है। तब उसे अपनी रुचि और बुद्धि को परिमार्जित—नहीं संस्कारयुक्त, नहीं स्वतन्त्र भावना से उसको परीक्षित कर ही साहित्य के कर्म में नियो[illegible]

यदि ऐसा नहीं होता है तो साहित्य खतरे में है, और मानवता की अप्रगति निश्चित है, पतन भी हो सकता है।

कुछ साहित्यकारों में किन्हीं विशेष अवस्थाओं से भय भी हो सकता है। भय साहित्यकार के लिये उतना ही घातक है, जितना प्रलोभन अथवा विवशता। साहित्यकार का यह भय उससे ही उद्भूत है अथवा अज्ञान के कारण है। जैसे कोई साहित्यकार दुर्बल साधनों के द्वारा यह प्रकट करना चाहे कि स्त्री बिना पुरुष के अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती—तो वह इतिहास-विरुद्ध बात ही नहीं कहता, अनधिकृत बात भी कहता है, वह उस बदनाम चित्रकार की भाँति है जो सिंह पर मनुष्य को सवार दिखाता है, पर इस चित्र में उसके हृदय का भय बाहर झाँक उठा है, वह पुरुष मात्र के भय से भयभीत हो उठा है—और स्त्री के स्वावलम्बन और जागरण का विरोधी बन बैठा है।

साहित्यकार का कर्त्तव्य—

साहित्य के निर्माण में किस वृत्ति का उपयोग किया जा रहा है यह भी कम महत्व की बात नहीं है। बड़े-बड़े विद्वानों के मानस भी विपर्यस्त देखे गये हैं। विपर्यस्त बुद्धि अथवा वृत्ति का दिया हुआ साहित्य भ्रष्ट साहित्य ही तो होता है, ऐसे ही साहित्यकार को ड्रेन इन्स्पेक्टर—मलिनता का निरीक्षक कहते हैं। ऐसे साहित्यकार की प्रतिभा छिद्रान्वेषणी ही होती है, पर साहित्यकार सर्जन करता है, ध्वंस नहीं करता। 'तोता-मैना' का किस्सा क्यों साहित्यकारों की दृष्टि में अछूत है, यह विचारणीय है और आज भी यदि हमारा साहित्यकार तोता या मैना बनकर प्राचीन इतिहास अथवा कथाओं में से त्रिया-चरित्र अथवा पुरुष-लोलुपता—जैसी है वैसी ही—कुछ उन्मनोविज्ञान के प्रलोभन के साथ हमें दिखाता रहे, तो क्या उसने प्रगति की है, यह हम जानना चाहते हैं। पर इस 'जो है, जैसा है' के तो कई पहलू हैं; सत्यकाम जाबालि की पुरानी कहानी है—एक साहित्यकार 'सत्य' के आदर की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करता है; उससे सत्य के प्रति आपकी श्रद्धा होती है और उस ऋषि के लिए, उस माँ के लिए और उस बालक के लिए आप में गहरी सहानुभूति उदित हो उठती है। दूसरा साहित्यकार उस युग की पुंश्चली प्रथा और उसके

रोमांस की ओर आपको आकृष्ट करता है—आपके मन में उस युग के स्त्री-पुरुष के लिए ही नहीं, स्त्री-पुरुष मात्र के लिए एक विगर्हणा का भाव जाग उठता है—वह ऋषि, वह बालक और उस बालक की माँ विलास के काले पंक में गिजबिजाते कृमि-कीटकी भाँति दीखने लगते हैं—यह समस्या केवल सुन्दर और असुन्दर को अलग-अलग एक में ही देखने की नहीं; यह उससे भी आगे मनोमूल से सम्बद्ध है—आदर अथवा घृणा में निर्माण अथवा ध्वंसका सम्बन्ध नहीं, सृष्टि-क्रम की विपर्यस्तता ही अभीष्ट हो उठती है—क्या साहित्यकार इस विपर्यस्त मार्गपर चलकर साहित्य के लिए खतरा नहीं पैदा करता ?

ऐसे ही एक नहीं अनेक खतरे और संकट हिन्दी साहित्यकार की झोपड़ी में रेंग आये हैं, पर सबसे भयानक खतरा साहित्यकार की अनिश्चित बुद्धि का है। युद्ध के उपरान्त आज उसे अपनी अनिश्चित बुद्धि त्याग देनी चाहिए और साहित्य का संकट से उद्धार करना चाहिये।

यह शृङ्गार रस !

एक बिलकुल आज के कवि ने ये पंक्तियाँ लिखी हैं:—

हे त्रिनयन के नयन वह्नि के
तप्त स्वर्ण ऋषियों के गान
नवजीवन षड्ऋतु परिवर्तन
नवरस मय जगती के प्राण

इस बीसवीं शताब्दि के कवि भी जगती को नव-रसमयी मान कर काम को उसका प्राण समझते हैं। ऐसे ही प्राचीन-कालीन कवियों ने भी शृङ्गार रस को रस-राज कहा। साहित्य-कला की प्रारम्भिक उदय-वेला में हमें संस्कृत-ग्रन्थों में जो मिलता है, वह शृङ्गार की नींव पर खड़ा किया हुआ करुणा रस है। वाल्मीकि के लिखे प्रसिद्ध शब्दों में :—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वामगमा शाश्वती समा
यत् क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहिताम्

यहाँ करुणा अवश्य है किन्तु काम मोहित किये है। इसमें इतना स्पष्ट संकेत है कि शृङ्गार रस को विस्मृत नहीं किया जा सकता। साईको-अनैलसिस, मनोविश्लेषण शास्त्र के ज्ञाता, मनुष्यों के जन्म से ही मानव में कुछ कामावस्थाओं को प्रेरणा उपस्थित समझते हैं। सृष्टि के निर्माण में विज्ञान के सहारे बहुत दूर जाकर भी जब हम अलैक्ट्रन्स और प्रोट्रन्स की बातचीत करते हैं तो एक युग्म में आकर्षण और एक के लिए दूसरे में समर्पण तथा अपनत्व का लोभ ये क्रियायें एक अत्यंत गहरे आकर्षण से युक्त होती हुई मिलती हैं। यह तो इस रस की मूल प्रेरणा की बात है। साहित्यकारों ने इस रसराज को लेकर विविध दिव्य कल्पनाओं से इसकी अद्भुत अवतारणाएँ की हैं और अपनी मानस-पूजा के दीप और पुष्प इस

रसदेवता के पाद-पद्मों में, नहीं, सिर पर चढ़ाये हैं। हिन्दी-कवियों में भी इस पूजा का प्राबल्य रहा है। आज तक के हिन्दी साहित्य के इतिहास में वह मध्यकाल जिसे रीति-काल कहा जा सकता है, इस रस को प्रधानता देने के कारण एक विशेष वर्ग के समक्ष बहुधा निन्दनीय समझा गया है। हिन्दी में विचार करते समय हमें आरम्भ में ही कुछ बातों को जान लेना आवश्यक है। आज दिन क्या आज से ३०-४० वर्ष पूर्व से भी हिन्दी में इस बात की बहुत चर्चा रही है कि शृङ्गार रस के वर्णन काव्य में उचित नहीं है। किन्तु हम देखते हैं कि आज भी हिन्दी की नवीनतम कृतियाँ इससे अछूती नहीं बचीं। प्राय: ऐसा हुआ है कि जिन्होंने स्वयं रीति-कालीन काव्य का विरोध किया है वे भी इस रस की मोहनी में फँस कर अपने मार्ग से स्खलित हुए हैं। इस रस ने अपनी माधुरी ऐसी व्याप्त की है कि संस्कृत और प्राकृत के भाव-सम्बन्धी उत्तराधिकार को सहेजते सहेजते हिन्दी में उसके जन्म-काल से आज तक जो साहित्य निर्मित हुआ, उसमें इस रस का एकान्त अभाव किसी समय मे भी नहीं रहा। भूषण और लाल तथा सूदन को भी इसका अपवाद नहीं माना जा सकता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आज तक शृङ्गार रस का स्वरूप एक ही रहा है। अत: तीसरी बात यह जान लेने की है कि हिन्दी के इस सवा हजार वर्ष की आयु में भिन्न-भिन्न कालों में इस रस का रूप भिन्न भिन्न रहा है। हिन्दी-साहित्य का सब से आरम्भ-कालीन युग भारत के इतिहास में राजपूत-युग था, जो हिन्दी में वीरगाथा-काल कहा जा सकता है। इस युग की युद्ध-प्रधान प्रवृत्ति में जो काव्य लिखे गये, उनमें हमें प्रेम की प्रबल प्रेरणा मिलती है। ऐतिहासिक स्थिति ने इस प्रेम को प्रमुख स्थान देने में सहायता की। राजपूतों में विवाह-प्रथा के सम्बन्ध में अपनी मान-प्रतिष्ठा सम्बन्धी जो विचित्र धारणाएं बन गई थीं, इन्हीं कारणों से राज-कन्याओं को शीघ्र ही योग्य वर नहीं मिलता था। इसी कारण उन्हें किसी पुरुष का वरण करने से पूर्व ही विविध उपायों द्वारा अपने प्रेम का पात्र स्वयं निर्वाचित करना पड़ता था, और इस पात्र को अपने प्रेम की निष्ठा सिद्ध करके दिखानी होती थी, पृथ्वीराज और संयोगिता इस काल में इस प्रकार के रोमांटिक आचरणों के लिए अकेले ही उदाहरण नहीं हैं। ऐसी संयोगिया और

जहाँ पुरुषत्व में स्त्रीत्व के लिए इस प्रकार की रति की व्यग्रता प्रदर्शित की गई, वहाँ इसमें इक रहस्य का वातावरण उपस्थित कर दिया गया। प्रेमगाथा-कालीन रोमांस शौर्य—पर सरस वीरता और सहिष्णुता का इस काल के कवि ने जो दिग्दर्शन उपस्थित किया है वह अपने पूर्वगामी कवियों से किसी अंश में कम नहीं कहा जा सकता। किन्तु इस वीरत्व में एक व्यग्रता है, अपनी प्रेयसी को प्राप्त करने की। प्रेयसी में आरम्भ में कवि ने चाहे व्यग्रता न दिखाई हो किन्तु धीरे-धीरे स्त्रीत्व में प्रतिदान का भाव भी प्रबल होकर पुरुषत्व के रति-भाव के समान हो सकता है; अतः इस पूर्वगामी एकाङ्गीय शृङ्गार रस का परिहार होकर यहाँ इस काल में शृङ्गार रस का सम्पूर्ण विकसित रूप हमें मिलता है। इस शृङ्गार में जो आध्यात्मिक अर्थ भर दिया गया है, उससे भी इसके शारङ्गारिकत्व में कोई कमी नहीं उपस्थित होती। यह शृङ्गार केवल इस भौतिक जगत के सौन्दर्य-निरूपण और मायावी प्रलोभनों की भाँति ही काम नहीं करता, वरन् यह हमारे मानस को इस विकृत जगत से, इस विकृत जग के 'इश्क मजाजी' से, बिछलाकर हमारी इस लगन की प्रवृत्ति को अन्तःमुख करके ऊँचे धरातल की ओर ले जाता है, यहाँ का नग्न शृङ्गार भी सारे भौतिक उपादानों का लेकर प्रति रोम से आध्यात्मिक अर्थ को पोषित करता है। शृङ्गार के अवलम्ब और आश्रय नाम-रूप-जगत के मांस और पिण्ड के बने प्राणी हैं। इनमें वही प्राण है, जो किसी भी प्राणधारी में मिलता है। किन्तु किसी पारस के स्पर्श से उनमें चिनगारी पैदा हो गई है और वे अपनी प्रेयसी में अपने आत्मा के परम अभीष्ट को देखने लग जाते हैं। वहाँ प्रेम में वे इन सारे प्रपञ्च के भेद को भूल कर कभी कभी तो वेदान्ती की तरह से कहने लगते हैं:—

'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।"

यह शृङ्गार ऊपर के वीर गाथा के शृङ्गार रस के रूपों से एक इस अर्थ में भी भिन्न है कि यहाँ पर शृङ्गार रस से रति के भाव को पुष्ट करना भर अभीष्ट नहीं है। रति का परिपाक-मात्र इस काल के शृङ्गार रस ने नहीं चाहा। यह परिपक्वता इस काल के शृङ्गार रस में सहायक-मात्र रही है। शृङ्गार रस ने इस रति के परिपाक द्वारा उस प्रेम को प्राप्त करना चाहा है जिसमें भोक्ता और

रति का भेद नहीं रह जाता, जहाँ पर रस का परिपाक अपने को प्रेम के चरणों में समर्पित कर देता है और वह प्रेम लौकिक प्रेम न होकर इश्क हकीकी हो जाता है, एक दिव्यता ग्रहण कर लेता है। यहाँ पर प्रेम शृङ्गार रस का साध्य होगया है। और वह प्रेम रति से ऊपर है।

अब साहित्य में वह स्थिति आती है जिसमें ऊपर के शृङ्गार द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को ऐतिहासिक स्थिति के द्वारा बनाये हुए विषाक्त वातावरण में, मानवीय मनोविज्ञान के अनुकूल और पूर्व से भी अधिक गहरी दार्शनिक नींव पर खड़ा किया जा सके। जिस प्रेम को पूर्वकालीन शृङ्गार रस ने परम पुरुषत्व माना था, उस प्रेम को ईश्वर का रूप देकर उस काल के कवियों ने सन्तोष नहीं किया, उसे मानवीय धरातल पर लाना आवश्यक था। अतः शृङ्गार-रस के आलम्बन और आश्रय, इसी ईश्वर के मानव-रूपधारी व्यक्तियों में अवतार बने, जो राम और कृष्ण कहलाते हैं। इस काल की शृङ्गार रस की रति ने इस प्रकार रति से ऊपर प्रेम का प्रेम के लिए नहीं, दिव्यता के लिए, उसके अवतार के लिए स्वीकार किया है और इस प्रेम का नाम भक्ति हो गया है। भक्ति के राम और कृष्ण सम्बन्धी दो वर्गों में तथा गुरुवादी भक्तों में शृङ्गार रस की तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ अलग अलग मिलती हैं।

कृष्ण शाखा वाले वर्ग में सृष्टि के शृङ्गारिक सिद्धान्त को ही प्रधान स्थान दिया गया है। उन्होंने सारी सृष्टि के उपक्रम को राधा और कृष्ण की, कृष्ण और गोपियों की एक अनन्त रास-क्रीड़ा में परिणत होने वाला मान लिया। एक साइको-अनेलिस्ट जिस प्रकार लिबीडो को, रतिभावना को, मनुष्य की सारी क्रियाओं की मूल-प्रेरणा मानता है, वे क्रियाएँ और प्रेरणाएँ चाहे अबोध शैशव की ही क्यों न हों, इसी प्रकार इस सारी सृष्टि का शृङ्गार है—राधा और कृष्ण, कृष्ण और गोपियों का रास—भक्ति की चरम अभि-लाषा और उसका सारा उद्योग इस के ही लिए है कि वह अन्त में इस दैवी नृत्य में सम्मिलित हो सके और अनन्तकाल तक उस रास के मधुर और वास्तविक आनन्द का उपभोग कर सकें। उपभोग में उस प्रिय के साक्षात्कार और उससे आत्म-तृप्ति के सिद्धान्त में

राधा और कृष्ण की जो रूप-रेखा खड़ी की गयी उसमें इन मानवीय प्रेरणाओं के यथार्थ रूप को न समझने वाले और कुछ मानसिक पक्षाघातों के रोगी मनुष्यों को ऐसी वस्तुएँ भी मिल सकती हैं, जिन्हें अश्लील कहा जा सकता है। राधा के साथ कृष्ण के हाव-भाव में भी उसी सांकेतिक भाषा में स्पष्ट रति-संभोग का उल्लेख होता है और यह सब आज हमारे बौद्धिक साहित्य-वेत्ताओं और साधारण मानव को विकारग्रस्त करने वाली बात प्रतीत होती है। मैं इस बात की निर्दोषिता सिद्ध नहीं करना चाहता। किन्तु जिस मानसिक धरातल की इस प्रकार के साहित्य में आवश्यकता है, उस धरातल तक हम न पहुँच कर अपनी विकृत रुचियों को कसौटी बनाकर श्लीलता और अश्लीलता के प्रश्न पर विचार करते हैं और शृङ्गार को गर्हित समझने लगते हैं। तो यहाँ कुच और केशों का नग्न वर्णन शृङ्गार रस के प्रबल से प्रबल उद्दीपन, अनुभाव और संचारियों के साथ है। इस शाखा के भक्त और कवियों का निश्चय ही यह उद्देश्य रहा है कि शृङ्गार रस के क्षेत्र में मूलतः मिलने वाली जितनी भी प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं, साहित्य भाव के रूप में, उद्दीपनों के विविध प्रकारों में हाव भाव हेला, तात्पर्य यह कि मानव के मानस में जिन संकेतों, जिन परिस्थितियों, जिन प्रेरणाओं, जिन आकर्षणों और जिन वेगों से रति उत्पन्न हो सकती हैं, नंगे और ढके अथवा अर्द्ध ढके इन सब को यथार्थतः लेकर राधा और कृष्ण में नियोजित कर दिया जाय—सारे विष को शिव के गले में उतार दिया जाय। इसीलिये राधा और कृष्ण महान से भी महान् हुए। मानसिक विकारों का दमन होना सम्भव नहीं यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। महर्षि वाल्मीकि ने और तुलसीदास ने, कालिदास ने और संसार के प्रसिद्ध महाकवि शेक्सपायर और गेटे और आज के साइको-अनेलिस्टों ने तथा अन्य वैज्ञानिक शोधों ने विवाद से परे यह सिद्ध कर दिया है। तो दमन जब उपयोगी नहीं और शमन करने के लिए इस प्रपंचपूर्ण समाज-बद्ध संसार में कोई मार्ग नहीं! अतः शृङ्गार रस की रति के सहारे प्रभुचरणों में समर्पण ही एक मात्र उपाय है। तभी सूरदास प्रभृति यह गाते गाते कि 'प्रभु हौं पतितन कौ नायक' एक महानता को प्राप्त कर सके। तो, इस शाखा के शृङ्गार रस में शृङ्गार रस के बड़े विशद

और परिपूर्ण शास्त्र हैं जिनमें रति सम्बन्धी भावों के कोने कोने को झाँक डाला गया है, और कुछ भी शेष नहीं छोड़ा गया। रस के नाम से इस काल की वस्तु में सम्पूर्णता है और इस रति को पूर्ण उद्दीप्त करके इसके महापरिपाक के फल को आचरणों में उसी शृङ्गार रस के द्वारा ले जाया गया है। इसी प्रेम से अभिव्यक्त होने वाली कला का चिन्तन करते हुये भारत के प्रसिद्ध संस्कृत शोधक डाक्टर कुमारस्वामी ने लिखा था कि भारत में सभी प्रेम एक दैवी रहस्य है और जैसे यहाँ प्रेम में पवित्र तथा गर्हित कोई अन्तर करना अर्थ रहित है। इसी कारण यहाँ आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को एक स्त्री के अपने प्रेमी के प्रति तीव्र आवेगपूर्ण प्रेम के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।"

इसी काल की दूसरी रामशाखा में कृष्ण शाखा से भिन्न मार्ग ग्रहण किया गया है। वहाँ शृङ्गार रस की एक अलौकिक स्थिति में पहुँचा दिया गया, इस लोक के लिये उसे अकल्याणकारी समझा गया। किन्तु राम और सीता में, इन दिव्य शक्तियों के अवतार में उसकी अवस्थिति अवश्य दिखलाई गयी। रावण से युद्ध सीता के लिये होता हुआ देख कर वीर गाथा कालीन रोमांटिक प्रेम की याद आये बिना नहीं रहती। यह कवि का कौशल है कि उसने सीता को जगत्-माता कहकर पिता को माता की शोध करनेवाले का रूप दे दिया है। किन्तु जहाँ पर माता और पिता सम्बन्धित हैं, वहाँ राम का विलाप सीता के लिए एक प्रेमी का प्रेमिका के लिए विलाप है—

घन घमण्ड गरजत नभ घोरा,
प्रिया हीन डरपत मन मोरा।

में कवि ने वियोग की जिस अग्नि में बहते हुये राम को दिखलाया है। वह शुद्ध शृङ्गार रस के वियोग से सम्बन्ध रखता है। यहाँ पर राम पुरुष और सीता नारियों की भाँति है परन्तु इस शृङ्गार रस में पर्यवसान कहीं नहीं। जीवन की कर्तव्य से पूर्ण इस टेढ़ी मेढ़ी गली में इस शृङ्गार भाव को, कवि ने चेष्टा तो यह की है कि, एक सहायक प्रेरणा की तरह उपस्थित किया जाय, किन्तु इतना कुछ देने पर भी रामायण की सारी कथा राम और सीता की प्रेमकथा के रूप में ही उपस्थित होती है। जिसमें पुरुष-नारी की ओर दौड़ा जा रहा

है क्योंकि वह नारी के बिना अपने को असम्पूर्ण समझता है। धनुषयज्ञ से लेकर और रावण के यहाँ से सीता को प्राप्त करने तक इस कथा का यही भाव है। पर कर्तव्य के साँचे में इस प्रेम को फिट कर दिया गया है। इसमें शृङ्गार रस वाच्य नहीं व्यंग्य है। और समस्त कर्तव्यों का संघर्ष, अन्तर में शृङ्गार रस की इस रति के परिपाक के लिये है और इसी के कारण हुआ है।

तीसरी शाखा जिसे गुरुवादियों की शाखा नाम दिया है, इसमें वे संत आते हैं जिन्होंने इस संसार से विरक्त होना उचित समझा। उन्होंने मूलतः शृङ्गार रस के उस रूप को अपनाया है, जिसे कृष्ण शाखा वालों ने जाना था। किन्तु वैराग्य के लिये हृदय की अपेक्षा ज्ञान और बुद्धि का आश्रय विशेष लेना पड़ता है। अतः जिस शृङ्गार को उन्होंने स्वीकार किया, वह प्रतीकवादी होगया। शृङ्गार रस के आलम्बन उद्दीपन इनमें भी विद्यमान हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे बुद्धि के लिये प्रतीक बन गये हैं। इस काल में शृङ्गार रस की विविध प्रवृत्तियों का एक महान संगम उपस्थित हो गया था, उसे त्रिवेणी ही कहा जा सकता है। जिसमें रस के परिपाक के हार्दिक पक्ष के साथ साथ ज्ञान के हेतु बुद्धि पक्ष जिससे विशेष ऊहा का और सूझ का घनिष्ठ सम्बन्ध है, पुट मिल गया।

इससे आगे जो काल आया, वह भारत में पुनर्जागृति का काल था, रेनेसेन्स का युग था, विविध सम्प्रदाय अपने अपने नव-नव सिद्धान्तों की हाट जमा चुके थे, वह रोज की आनी जानी बात हो गयी थी, अब उसमें नवाकर्षण नहीं रह गया था, और राजकुमारियों के डोले जब मुगलों और पठानों के द्वारा छीने जाने लगे, तो राजपूतों के लिये वीरगाथा कालीन शृङ्गार का अवकाश भी नहीं रह गया। यहीं वह काल आरम्भ हुआ, जिसे रीति काल भी कहते हैं, अकबर के समय में केशव ने अपने संस्कृत के पाण्डित्य के आधार पर राज दरबार के आश्रय में जिस काव्य प्रणाली को जन्म दिया, वह काव्य-प्रणाली अब तक की स्वाभाविक प्रणाली से भिन्न पाण्डित्य पर निर्भर करती थी, और अनुभव से अधिक कल्पना और अध्ययन पर। और उससे आगे के काल के राजाओं को ही कुछ जब करना शेष नहीं था तो कवियों को भी क्या करना हो

सकता था ? उन्होंने अपने काव्य को विलास के शृङ्गार मार्ग पर ढाल दिया।

लैला मजनू के काव्य की तरह बाजारू होने की विगर्हणा से बचाने के लिये नायक और नायिकाओं ने राधा और कृष्ण के नाम को ग्रहण कर लिया और फिर कवियों ने अपने पाण्डित्य और कल्पनाओं से विविध प्रकार के चमत्कार युक्त किन्तु शास्त्रीयविधि से पूर्ण शृङ्गार रस में अपना कवित्व और आचार्यत्व प्रदर्शित किया। इस काल के शृङ्गार रस में अश्लीलता तो यों नहीं मानी जा सकती कि जीवन के अनुभव में आनेवाली किस स्थित का प्रदर्शन यहाँ नहीं हुआ। कुचों को कामदेव का नगाड़ा या कलश या कुछ और रूपक देकर इसमें उसी सौन्दर्य की कल्पना नहीं की जा सकती जो हमारे विकारों को उभार सके। इसमें तो एक मानसिक किलोल क्रीड़ा, एक ऊहा और चमत्कार और उसके द्वारा कुछ कलात्मक अनुभव उपस्थित कर देना भर होता है। अतः इस काल का शृङ्गार नायक और नायिकाओं के विविधि हाव भाव के उल्लेखों, उनके विविध रूपों, अनेक प्रकार की दूतियों के क्रिया कलापों, विट और चेटों के कौशलों, सहेट और अभिसार के दृश्यों से युक्त मिलता है और उन्हें पढ़कर आज हमें बहुतों को नाक सिकोड़नी पड़ती है। यह शृङ्गार रस अब तक के विविध अवस्थाओं के शृङ्गार रस के रूप से एक दम भिन्न है। इसमें शृङ्गार रस की भक्तिकालीन सम्पूर्णता के स्थान पर वैज्ञानिक वर्गीकरण और विभाजन की वृति को प्रोत्साहन दिया है जिसमें रस के स्थायी भाव रति के परिपाक की विभक्त झाँकियाँ कहीं-कहीं मिलती हैं। इसमें स्थायी भाव अपना इतना स्पष्ट रूप खड़ा नहीं कर सकते। उद्दीपन और आलम्बन के विविध अङ्ग प्रत्यङ्गों के वर्णन चतुराई से उपस्थित करने में ही कवि का कर्म समाप्त हुआ है अतः इस काल का शृङ्गार रस पूर्ण परिपाक को नहीं पहुँच पाता। विभावों की व्याख्या में इसकी सारी शक्ति लग जाती है और इसका कारण यही है कि साहित्य के भावों और सञ्चारियों को विशद रूप से उपस्थित करने के लिए जिस मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म ज्ञान के साथ-साथ काव्य के उत्थान की स्थिति की आवश्यकता थी पाण्डित्य की प्रवृत्ति के चैतन्य रहने के कारण किसी भी कवि को वह स्थिति प्राप्त नहीं हो सकी।

अतः उद्दीपन में जो आकर्षण है, उसमें जो रूप रङ्ग और आकार प्रकार की स्थूलता है उसी के बनाव सुझाव में कवि ने अपने सारे कर्म को लगा दिया। और यह काल महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के समय तक चला आया और वहाँ आकर नवयुग का आरम्भ हुआ। राष्ट्रीयता और ब्रह्मचर्य को समक्ष रख कर शृङ्गार रसको और प्रेम के तरानों को अनुचित समझा गया। लोगों ने शृङ्गारी काव्यों को भस्म कर देने का प्रस्ताव उपस्थित किया और जो काव्य उन्होंने चाहा वह बहुत थोड़ा लिखा जाकर रुक गया। इस शाखा में गुप्तजी 'भारत भारती' को लेकर आगे बढ़े। किन्तु उन्हीं गुप्तजी ने साकेत, यशोधरा, द्वापर में कुब्जा और इससे आगे नहुष लिखकर शृङ्गार रस के विरोध की प्रतिक्रिया का रूप भी उपस्थित कर दिया। यह तो उसी मार्ग के चलने वाले की बात है। किन्तु सभी ने तो उसे नहीं माना और आज काम के परिपाक के लिए कविता मात्र साधन नहीं रह गयी। कहानियाँ भी आईं, उपन्यास भी आये, महाकाव्य भी आये उनमें रवीन्द्रनाथजी की "आँख की किरकिरी" का शृङ्गार चित्र भी, प्रेमचन्दजी का सेवा सदन भी, और उससे आगे उग्रजी की अनेकों रचनायें हैं, और इन सबसे पूर्व के पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी की तो बात ही न पूछिए। इन सब में शृङ्गार रस का ही रूप खड़ा किया गया है और कविताओं में तो सभी कवियों में उस की मात्रा मिलती है और वह साधारण नहीं, बहुत उच्चकोटि की। व्यक्ति-प्रधान आज के काव्य हैं। जैसे कवि के अनुभवों का ही उद्गार हो। तो उससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक कवि एक घोर वियोग की अग्नि में दहक रहा है या प्रेम के पीछे पागल है। तो, कहीं उसे प्रेम के अमृत संदेश सागर की लहर-परियों के द्वारा अथवा अन्य प्रकार से दिखाई पड़ रहा है और कहीं उसे सावन भादों का मेघ-व्यापार वियोग के अश्रु सा लगता है, कहीं आकाश के जगमगाते तारे उसे अपने हृदय की जलती हुई निशानियाँ प्रतीत होती हैं। कहीं उसे तृष्णा की आग दहकाये दे रही है। इस प्रकार इस प्रेम में चारों ओर जलन और विकलता है; और नायक है तो नायिका एक रहस्य में है और नायिका है तो नायक 'कौन' और 'किसके' प्रश्न-वाचक सर्वनामों में रहस्य बनकर उद्बोधित होता मिलता है। इस

सब में शृङ्गार रस के मनो-वैज्ञानिक और शास्त्रयुग के नियम प्राप्त होते हैं और इसे आप चाहें तो छायावाद कह सकते हैं।

अभी आगे का इतिहास बन रहा है, प्रगतिवादी तथा अन्य शैलियाँ विकसित होने आ रही हैं। उनमें शृङ्गार रस का अभाव रह नहीं सकता। यह हम कह रखते हैं।

हिन्दी कविता में शृङ्गार रस

भारत आत्मा की शोध में प्रवृत्त हुआ तो उसने काव्य की आत्मा को भी पहचान लिया। रस ही काव्य की आत्मा है। रस की संस्थिति से ही काव्य यथार्थ में सार्थक होता है। देव ने कहा है—

काव्य सार शब्दार्थ कौ, रस तिहि काव्या सार।

संसार के समस्त साहित्य में काव्य की इससे ऊँची परिभाषा नहीं हो सकी। रस नौ माने गये हैं। उन रसों में शृङ्गार रस सबसे प्रथम और सबसे प्रमुख रस है। भारतीय आचार्यों ने गम्भीर विचार के उपरान्त यह माना है कि शृङ्गार-रस रसराज है। रसों का राजा है। शास्त्रीय दृष्टि से तो यही वह रस है जिसमें सभी सञ्चारी आ सकते हैं। इन तेतीस सञ्चारियों में से शृङ्गार रस के अतिरिक्त अन्य रसों में कुछ गिनती के ही सञ्चारी आ सकते हैं। देव ने तो शृङ्गार रस को समस्त रसों का मूल माना है—

नव रस मुख्य शृङ्गार महँ,
उपजत विनसत सकल रस।
ज्यों सूक्ष्म थूल कारन प्रगट,
होत महाकारन विवस।

शृङ्गार रस में रचना की प्रेरणा हिन्दी को उसके पूर्व की संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की दीर्घ परम्परा से थाती के रूप में मिली है। उसको हिन्दी ने विशेष मनोयोग, मेधा और मौलिक उद्योग से पाला पोसा है, फलतः हिन्दी में शृङ्गार रस का एक प्रमुख स्थान होगया है। शृङ्गार रस की आन्तरिक सरसता ने हिन्दी काव्य के प्रत्येक अक्षर को सरस, कोमल, मृदु, मधुर और सजीव कर दिया है।

शृङ्गार रस का सम्बन्ध सृष्टि के दो मूल महान् जीवन तत्वों से है। एक है सौन्दर्य; दूसरा है प्रेम। सौन्दर्य के सम्बन्ध में अँगरेजी के महाकवि कीट्स की ये अमर पंक्तियाँ यथार्थ और सत्य हैं कि सौन्दर्य की एक एक वस्तु अनन्त आनन्द प्रद है। सौन्दर्य का सम्बन्ध रूप विधान से है। वह दृश्य है। रूप-दर्शन से जब सौन्दर्य की अनुभूति होती है तो भाव जागृत हो जाते हैं। ये भाव प्रेम में परिणत हो जाते हैं। सौन्दर्य की अनुभूति से प्रेम जागृत होता है। प्रेम सौन्दर्य की ही प्रतिक्रिया है। भारतीय काव्य में इन दोनों के आकर्षण-सम्भोग की क्रिया-प्रक्रिया को व्यक्त करने के लिए एक शब्द चुन लिया है.... वह शब्द है 'रति'। रति शृङ्गार रस का स्थायीभाव है। रति की स्थिति के लिए आलम्बन विभाव में नायक और नायिका अवलम्ब और आश्रय माने गये हैं। इस रस में ये अवलम्ब और आश्रय परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। अवलम्ब सौन्दर्य का पात्र है तो आश्रय प्रेम का। सौन्दर्य भाव वस्तु है, प्रेम भाव है।

हिन्दी में अवलम्ब और आश्रय की दृष्टि से शृङ्गार रस सम्बन्धी रचनाओं का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट विदित होगा कि सौन्दर्य-पक्ष अथवा अवलम्ब-पक्ष में बाह्य रूप वर्णन और नख-शिख का विकास हुआ।

रूप-विधान में आकृति, भूषा, अलङ्कार, चेष्टाओं, हाव, भाव तथा मुद्राओं और अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन हुआ है।

आकृति-वर्णन में कवियों ने, यदि भक्त हुए तो नख से शिख तक अन्यथा शिख से नख तक का रूपांकन किया है। शिख से नख तक शरीर में मिलने वाले प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग की शोभा और उसका सौन्दर्य अलङ्कारों के द्वारा चित्रित करने का उद्योग किया गया है। ऐसे रूप-विधान के अलङ्कारों के लिए उपादान प्रकृति से लिये गये हैं। देखिये सूरदास राधा का नख-शिख किस अलङ्कार योजना के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं—

राजति राधे अलक भली री
मुकुता माँग तिलक पन्नगि ससि,
सुत समेत मधु लेन चली री

कुंकुम आड श्रवन जल श्रम मिलि,
मधु पीवत छवि छींट अली री
चारु उरोज ऊपर यों राजत,
अरुझे अलि कुल कमल कली री
रोमवलि त्रिबली पुर परसत,
बंस चढै नट काम बली री
प्रीति सोहाग भुजा सिर मंडन,
जघन सघन विपरीत कदली री
जावक चरन, पञ्च सर नायक,
समर जीति लै सरन चलो री
सूरदास प्रभु को सिख दीन्हो,
नख सिख राधे सुखनि फलो री ।।

मणिधारी सर्प, मधु पायी भ्रमर, अलिकुल संवलित कमल कली, कदली आदि प्रकृति के उपमान हैं, जिन्हें यथा क्रम व्यवस्थित करके कवि ने राधा के रूप को हृदयङ्गम कराया है। पद्मावत प्रेम-गाथा प्रबन्ध काव्य के रचयिता जायसी ने नख-शिख का वर्णन खूब डट कर किया है। एक एक अङ्ग के लिए वे जितनी भी सम्भव उक्तियाँ जुटा सके हैं सभी का उल्लेख कर देने की चेष्टा उनमें मिलती है। माँग के इस वर्णन को लीजिये—

बरनो माँग सीस उपराहीं
सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहिं नाहीं
बिन सेंदुर अस जानहु दीआ
उजियर पन्थ रैनि मँह कीआ।
कञ्चन रेख कसौटी कसी
जनु घन मँह दामिनि परगसी
सुरुज किरिन जनु गगन बिसेखी
जमुना माँझ सुरसुती देखी
खाँड़े धार रुहिर जनु भरा।
करवत लेइ बेनी पर धरा ।।

यह अङ्ग प्रत्यङ्ग वर्णन करने में, आनन्द पाने की प्रवृत्ति रीतिकाल में जब स्फुट रूप से विकसित हुई तो नेत्र, अलक, तिल

आदि पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई। एक एक अङ्ग के सम्बन्ध में अद्भुत से अद्भुत उक्तियाँ, दूर की सूझ, सुकुमार कल्पनाएँ इनमें क्रीड़ायें करती हैं। मुबारक के अलक पर दोहे देखिये—

अलक मुबारक तिय बदन, उलटि परी यों साफ।
खुश नबीस मुंशी मदन, लिख्यौ काँच पर काफ॥

रूप-विधान की दृष्टि से सूर ने कृष्ण और राधिका के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं वे विशद हैं और अद्वितीय हैं। उनमें रूप योजना के साथ भूषा और अलङ्कारों की संयोजना है। समस्त वर्णन कृष्ण अथवा राधा का सजीव चित्र प्रस्तुत कर देता है। जायसी की रूप योजना में हमें उक्ति और सूझ का प्राधान्य मिलता है, उसमें रूप-सौंदर्य तो पीछे पड़ जाता है जगत् का वैविध्य और विराट् उक्ति और उपमानों के सहारे उतरने लगता है। तुलसी भी रूप संविधान में पीछे नहीं रहे हैं। उन्होंने ऐसे प्रत्येक वर्णन को अपने प्रबन्ध कौशल के अनुकूल रखते हुए भाव संपृक्त रखने में सफलता प्राप्त की है। 'सिय मुख समता पाव किम, चन्द्र बापुरो रंक' में सीताकी मुखाकृति के सौन्दर्यांकन का प्रयास है। तुलसी ने अपने समस्त रूप-वर्णन को, नखशिख वर्णन को, विशद तो किया है साथ ही कथा को आवश्यकता की सीमा के भीतर ही रखा है। रीतिकाल से पूर्व के कवि के समक्ष कलाभिव्यक्ति के लिए एक रूपधारी व्यक्ति था, उसका नाम था, उसका एक रूपात्मक व्यक्तित्व था,—वह राम, कृष्ण, सीता, राधा में से था, रत्नसेन, पद्मावती में से कोई था। उनका नायक उन जैसा ही कोई नामधारी हो सकता था। रीतिकाल में यह नाम-रूप लुप्त हो गया, या नाम मात्र को रह गया। इसी के साथ उस व्यक्तित्व के गौरव की अनुकूलता के भाव का भी ह्रास हो गया। अब तो नायक और नायिका का साधारण भाव ही सामने था। उनके सौन्दर्यांकन में कवि को अब किसी प्रकार के सङ्कोच की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। देखिये देव कैसे विस्मय-कारी सौन्दय का वर्णन कर रहे हैं—

आई हुती अन्हवावन नाइनि,
सौंध लिये बहु सूधे सुभाइन।
कंचुकी छोरि उतै उबटैबे को,
ईंगुर से अंग की सुखदाइन।

देव सरूप की रासि निहारत,
पांय ते सीस लों सीस ते पांइन ।
ह्वै रही ठौर ही ठाडी ठगी सी,
हंसे कर ठोड़ी दिये ठकुराइन ॥

यह तो प्राचीन कवियों के रूप वर्णन की साधारण शैली रही। आधुनिक हिन्दी कवियों ने शुद्ध सौन्दर्य वादिनी दृष्टि के साथ रूप का वांछनीय वर्णन अपने काव्यों में प्रस्तुत किया है । जयशङ्कर-प्रसादजी की कामायनी में श्रद्धा का यह सौन्दर्य दर्शनीय है :—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग ।

प्राचीन कवि उपमानों को गूँथ कर रूप में विलक्षणता भर देते थे। आधुनिक कवि उपमानों की विलक्षणता के साथ रूप सौन्दर्य के चित्र को रंगीन तूलिका से यथावत् चित्रित करके, उसमें काव्य का स्पन्दन भी उत्पन्न कर देता है।

मुद्रायें और हाव-भाव इस रूप-सौन्दर्य की विशेष झाँकी कराने के बड़े प्रबल साधन हैं। हिन्दी के कवियों ने इसमें अद्भुत कौशल प्राप्त किया है। राधा ने कृष्ण की बांसुरी चुरा ली है—इसी बहाने कृष्ण से वह कुछ बातें करने का आनन्द प्राप्त करना चाहती है…इस सम्बन्ध में उसकी चेष्टाओं का बिहारी ने कैसा चलचित्र दिया है :—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
भौंह हँसे, सौंहनि करै, देन कहै नटि जाय॥

यह तो कृष्ण को छेड़ने के लिये चेष्टायें की गयी हैं । कवि पद्माकर ने एकान्त में एक नायिका की एक मुद्रा का चित्र दिया है। वह इसलिये देखने योग्य है कि कवि ने कैसे प्रत्येक अंगभङ्गी का साक्षात् चित्र प्रस्तुत कर दिया है—

आई खेलि होरी घरै नवल किसोरी कहूँ,
बोरी गई रंग में सुगन्धनि झकोरै हैं।
कहै पद्माकर इकन्त चलि चौकी चढ़ि,
हारन के बारन ते फन्द चन्द छोरै हैं॥

घाँघरे की घूमनि सु उरुज दुबीचै दाबि,
आँगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दंतनि अधर दाबि, दूनरि भई सी चालि,
चौवर पचौवर कै चूनरि निचोरै है ॥

आश्रय पक्ष में हिन्दी कवियों ने नायक और नायिकाओं के विविध स्वभाव और गुणों के आधार पर उनका वर्गीकरण करके उनका चित्र दिया है। इसका यथार्थ परिपाक आश्रय में ही प्रतीत होता है। अतः संचारी और अनुभावों का संचार भी आश्रय में परिस्फुट मिलता है।

नायक नायिकाओं के निरूपण में हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने विशेष प्रवृत्ति दिखाई है। रीतिकाल से पूर्व के कवियों में भी नायिका-निरूपण का अभाव नहीं। प्रबन्ध-काव्य लेखक को तो महाकाव्य के चरित्र की दृष्टि से नायिका का वर्णन किसी विशेष दृष्टि से करना पड़ा है। पद्मावती पद्मिनी नायिका हैं। नागमती और पद्मावती दोनों ही स्वकीया हैं। सूर के काव्य में विविध नायिकायें मिल जाती हैं। परकीया नायिका का भी अभाव नहीं है। वैष्णव सम्प्रदाय के राधाकृष्ण उपासकों ने वस्तुतः शृङ्गार रस का धार्मिक और मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करके उसे धर्मतः शास्त्रीय दृष्टि से बहुत ऊँचे धरातल पर पहुँचा दिया। नायिका और नायक का वर्गीकरण वस्तुतः प्रेम के विविध रङ्गों और गहराइयों का वर्गीकरण है। नायक अथवा नायिका अपने स्वभाव के अनुसार प्रेम ग्रहण करते हैं। तभी यहीं आकर यह प्रश्न प्रस्तुत हुआ कि स्वकीया का प्रेम या परकीया का प्रेम।

अतः यह स्पष्ट है कि प्रेम की मान्यता का मूल्याङ्कन ही नायक नायिकाओं के विविध विभेदों का कारण बना है। यह प्रवृत्ति इतनी सूक्ष्मता की ओर बढ़ी है कि हिन्दी में देव ने नायिकाओं की संख्या ३८४ तक पहुँचा दी। ये भेद जाति, कर्म, वय, अवस्था, स्वभाव, गुण यहाँ तक कि स्थल भेद पर भी निर्भर करते हैं। इन सब पर यहाँ सरसरी दृष्टि से भी विचार नहीं किया जा सकता। शृङ्गार रस के आश्रय-विधान में निश्चय ही इसका महत्वपूर्ण स्थान है और कुछ

महाकवियों के नायिका-वर्णन तो साहित्य की अमूल्य निधि हैं। हरिश्चन्द्र की एक स्वकीया मुग्धा नायिका के इस दर्शन का आनन्द लीजिये—

सिसुताई अजौं न गई तनतैं,
तऊ जोबन जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा हरिचन्द की कान,
कछूक दै भौंह मरोरै लगी॥
बचि सासु जेठानिन सों पिअते,
दुइ घूँघट में दृग जौरै लगी।
दुलही उलही सब अंगन तें,
दिन द्वै ते पिऊस निचोर लगी॥

इस प्रकार हिन्दी का कवि सौन्दर्य और प्रेम का अवलम्ब और आश्रय के रूप में प्रतिफलन कर आलम्बन विभाव का विकास करता है। पर इससे तो रस का बीजारोपण होता है। इसके परिपाक के लिए उसे उद्दीपन विभाव को और परिपुष्ट करना होता है। शृङ्गार रस के उद्दीपन में हिन्दी कवियों ने प्रकृति की उद्दीपक स्थितियों के चित्र दिये हैं। ये उद्दीपन संभोग शृङ्गार में सुखदायक होते हैं और आनन्द वृद्धि करते हैं। वही उद्दीपन वियोग शृङ्गार में दुःखदायक होते हैं। दाहक होते हैं। सूरदास ने एक पद में उद्दीपनों की इस विरोधी प्रवृत्ति को स्पष्ट कर दिया है। गोपियाँ ऊधो से कह रही हैं:—

बिनु गुपाल बैरिन भई कुञ्जैं।
तब ये लता लगति अति सीतल,
अब भई विषम ज्वाल की पुञ्जैं।
वृथा बहति जमुना, खग बोलत,
वृथा कमल फूले अलि गुञ्जैं।
पवन, पानि, घनसार सजीवनि,
दधिसुत किरन भानु भई भुञ्जैं।
ए ऊधौ, कहियो माधव सौं,
विरह करद कर मारत लुञ्जैं।
सूरदास प्रभु को मग जोवत,
अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुञ्जैं॥

हिन्दी कवियों ने वियोग श्रृङ्गार ही नहीं लिखा, संयोग श्रृङ्गार भी उनका प्रमुख विषय रहा है। रसखान की एक रचना देखिये :—

छूटौ गृह काज लोक लाज मनमोहनि कौ,
मोहन को छूटि गयौ मुरली बजायबौ।
अब 'रसखान' दिन द्वै में बात फैलि जैहै,
सजनी कहाँ लौं चन्द्र हाथन दुरायबौ॥
कालि ही कालिन्दी तीर चितये अचानक ही।
दोउनि की ओर दोऊ मुरि मुसिकायबौ।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें भूलि गई गैयाँ उन्हें गागरि उठायबौ।

उद्दीपन किसी भी रस के परिपाक की पृष्ठभूमि में रहते हैं। वे रस के अंकुर को अथवा चिनगारी को और अधिक उत्तेजित करते हैं, और सौन्दर्य-विधान के परिपोषण में एक तत्त्व का भी काम करते हैं। उद्दीपन में चन्द्रमा और उसकी चन्द्रिका, बसन्त ऋतु, कोकिल और उसकी कूक, भ्रमर की गुञ्जार, नदी का तट, सरोवर, चातक, सुक, सारिका, कमल बन, कुञ्ज, वृक्ष समूह, शीतल उपचार, ऐश्वर्य और विलास की सामग्रियाँ आदि का विशेष वर्णन रहता है। ऋतु-वर्णन भी उद्दीपन का ही एक अंग है। यही ऋतु वर्णन बारामासा का रूप ग्रहण कर लेता है।

इस प्रकार कवियों ने पुरुष और स्त्री के साथ प्रकृति का गठजोड़ा करके श्रृङ्गार रस को मानव के समग्र जीवन की एक अभिव्यक्ति बना दिया है। सौन्दर्य-विधान की दृष्टि से विभाव के दोनों रूप आलम्बन और उद्दीपन महत्व रखते हैं। संचारी भाव मनःस्थिति और अन्तर्दशा की मुद्रायें हैं। सात्विक भाव भी ऐसी ही सहज दशायें हैं। श्रृङ्गार रस के सौन्दर्य विकास में ये आन्तरिक सहयोग प्रदान करते हैं।

श्रृङ्गार रस के निरूपण में अनुभावों का उल्लेख करना आवश्यक है। अवलम्ब पक्ष में रसानुभूति की जो चेष्टायें होती हैं वे हाव-भाव हेला आदि नामों से पुकारी जाती हैं। आश्रय पक्ष में भी रसानुभूति से शारीरिक चेष्टायें उत्पन्न हो जाती हैं। ये रस की अभिव्यक्ति में सहायक होती हैं। भृकुटि विलास, भुजाक्षेप, आलिंगन आदि

कितनी ही कायिक, वाचिक एवं मानसिक चेष्टायें अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं।

साकेत में उर्मिला के पास लक्ष्मण आकर खड़े हो गये हैं। उस समय उर्मिला में प्रेम का विकास अनुभावों द्वारा महाकवि मैथिलीशरण ने यों प्रकट किया है :—

प्रीति से आवेग मानो आ मिला।
और हार्दिक हास आँखों में खिला॥
मुस्करा कर अमृत बरसाती हुई।
रसिकता में सुरस सरसाती हुई॥
उर्मिला बोली....

इस हास्य के अन्त में हमें नायक की ओर से रसाभिव्यक्ति के एक अनुभाव का चित्र मिलता है।

हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये।
और बोले एक परिरम्भण प्रिये॥
सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया।
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया॥
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया।
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया॥

एक कवि ने तो नायिका के सौन्दर्य-विन्यास को सँभालते संभालते नायक को इतना रस विकल कर दिया है कि वह स्वयं महावर लेकर नायिका के पैरों में लगाने को सन्नद्ध हो गया है।

ह्वै कैं रस बस लाल लाई है महावरि को।
दीबे कों निहारि रहे चरन ललित हैं॥
चूमि हाथ नाह के लगाइ रही आँखिन सों।
एहो प्राननाथ यह अति अनुचित है।

यह हिन्दी के रसवादी कवियों की शृङ्गार-रस-विधान की स्थूल रूप रेखा है। इसमें यह सिद्ध होता है कि रस-परिपाक में हिन्दी कवियों ने प्रेम और सौन्दर्य के प्रत्येक पहलू को लिया है और उसमें गहरे पैठे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि शृङ्गार रस बहुत सुकुमार रस है। यह एक ओर ब्रह्मत्व की अनुभूति से प्रोज्ज्वल है

तो दूसरी ओर मानव की मलिनता और अश्लीलता की कीचड़ में समाया हुआ है। तभी कवि ने यह स्पष्ट कर दिया था कि :—

तंत्री नाद कवित्त रस सरस रास रस रंग,
अन बूढ़े बूढ़े, तरे जे बूढ़े सब अंग।

वस्तुत: इसकी गर्हनीयता व्यवहार पक्ष के कारण है। रसदृष्टि से इसमें मलिनता वहीं है जहाँ इसका समुचित परिपाक नहीं हो सका है। जो कुछ भी हिन्दी कवि न तो इसकी ऊँचाई से आतंकित हुआ है, न इसकी अश्लीलता से भयभीत। उसने इस रस पर खूब लिखा है। शृङ्गार रस की दृष्टि से ही यदि हिन्दी साहित्य की परीक्षा की जाय तो हम समस्त हिन्दी साहित्य को तीन भागों में बाँट सकते हैं। पूर्व रीति कालीन शृङ्गार रस, रीति कालीन शृङ्गार रस और आधुनिक काल। पूर्व रीति कालीन काव्य ने शृङ्गार के सौन्दर्य-विधान को भगवान का साधक बना दिया। उसमें आध्यात्मिक अनुभूति प्रबल हो उठी है। रीतिकालीन शृङ्गार रस पूर्व कालीन शृङ्गार की आध्यात्मिकता की भी रक्षा नहीं कर सका न तत्कालीन उद्दम ऐन्द्रिकता की ही। आधुनिक काल ने प्राचीन की समस्त थाती को दादुर वृत्ति बताकर दुत्कार दिया। नये उन्मेष में नयी कविता में नये सौन्दर्य-विधान की चेष्टा करने में ये प्रवृत्त हुए पर शृङ्गार के उस शव-राश से मुक्त न हो सके। प्रकृति को उन्होंने प्रेयसि का रूप दिया और उस पर मुग्ध हो गये। उसके अन्त: सौन्दर्य को देखने के लिए रहस्य में भी ये कवि कूदे पर आज आलोचकों का कहना है कि ये रसवादी कवि नये मन की कुंठा से विवश थे। उसमें डूबने की चेष्टा कर रहे थे। जो कुछ भी हो इन कवियों ने शास्त्रीय ज्ञान की चिन्ता न की। इन्होंने अवलम्ब बनाया प्रकृति को। वह नायिका हो गयी। ये कवि स्वयं नायक अथवा आश्रय हो गये। प्रकृति प्रेयसी के मनोरम और कोमलतम चित्र इन्होंने खींचे हैं। निराला की जुही की कली की ये पंक्तियाँ लीजिए—

विजन वन वल्लरी पर,
सोती थी सुहाग भरे स्नेह स्वप्न मगन

अमल कोमल तन तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्राङ्क में।

तरुणी रूप में जुही की कली किस प्राचीन कालीन नायिका से कम है ? ऐसे अनेकानेक चित्र आधुनिक युग में मिल सकते हैं। इनमें विभाव अनुभाव सञ्चारी का शास्त्रीय दृष्टि से समावेश नहीं है पर वे सब सौन्दर्य विधायक तत्व इनमें भी मिल ही जाते हैं। और मिल जाते हैं वे नयी संश्लिष्ट कल्पना से ही नहीं प्रकृति की सघनता से भी स्फूर्त बन कर और कभी कभी अदम्य आवेगों से अतिमांसल बन कर। हिंदी का शृङ्गार रस काव्य के लिए एक महान देन है। और अपनी दीर्घ परंपरा से परिपुष्ट है।

प्रगतिवाद क्यों ?

आजतक की सभ्यताएं तथा संस्कृतियाँ न जाने कितने रूप बदल चुकी हैं। वह मनुष्य जो पत्थर के अस्त्रों से पशुओं का हनन करके कच्चा मांस खाकर तृप्ति अनुभव करता था आज पिशाच कहलायेगा। वह आज विशेष प्रकार के यन्त्रों से अन्न उत्पन्न करता है, आग पर विशेष साधनों से उस अन्न के विविध रूपान्तर कर विभिन्न भोज्य पदार्थ पकाता है, और अतृप्त रहता है। वह चाहे यह न जाने कि क्यों, पर निश्चय ही जो कुछ उसे उपलब्ध है, उससे आगे वह बढ़ना चाहता है।

"The chief danger which always confronts a society is the desire of those who possess power to prohibit ideas and conduct which may disturb them in their possession. They are rarely concerned with the possible virtues of novelty and experiment. They are interested in the preservation of a static society because in such an order their desires are more likely to be fulfiled. Their ideas of right and wrong lie at the service of those desires. The standards they formulate are nohing so much as methods of maintaining an order with which they are satisfied....

But this is not a static world, and there is no means of making it so. Curiosity, discovery, invention, all of these jeopardize by their nature the foundation of any society to which their result are denied admission" [Liberty in the Modern State : Harold J. Laski.]

इतिहास हमें बतलाता है कि आज तक संसार में अनेकों परिवर्तन और क्रान्तियाँ हुई हैं, आज का भारत वह भारत नहीं जो वेदों के समय था, अथवा उससे पूर्व था। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि यह परिवर्तन बहुधा रूप का परिवर्तन हुआ है। भारत में ही नहीं विश्व भर में अब तक की क्रान्तियों ने एक-दो अपवादों को छोड़कर रूप परिवर्तन-मात्र किया है। सभ्यता तथा संस्कृति के मूलाधारों की परम्परा में अन्तर नगण्य हुआ है। यूरुप की औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) से भौतिक सभ्यता (Material Civilisation) का, जिसे भारत में उपेक्षा-भाव से पाश्चात्य सभ्यता कहा जाता है, दौर-दौरा विशेष बढ़ा। इसने उत्पादन के साधनों में इतना विशाल परिवर्तन कर दिया, वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम ने इतनी नयी सामग्री प्रस्तुत कर दी कि हरेक क्षेत्र में नयी स्फूर्ति दिखाई पड़ने लगी। इन भूतऐश्वर्यों की प्रभूत चकाचौंध में मनुष्य आत्मा और धर्म के दार्शनिक रूप को विस्मृत करने लगे। जीवन की नयी सुविधायें प्राप्त हुईं, सन्तोष का स्थान भोग और आवश्यकता वृद्धि ने ले लिया, इक्के ताँगे और पैदल छोड़कर रेल, ट्राम तथा मोटरों को अपनाया गया। गरीब से गरीब को भी अच्छी सड़कें, अच्छे डाक्टर, अच्छे वाहन, अच्छा प्रकाश, आराम, विलास के पदार्थ मिल उठे। अब मनुष्य को अपनी मुक्ति की कम चिन्ता थी, उन्होंने बिशप के यहाँ जाना छोड़ा, बाजार अथवा सिनेमा-नाटक घरों में जाने का प्रोग्राम बनाया, किसी शारीरिक व्याधि में दैवी कारण मान कर अपने पादरी के पास उसके शमन का उपाय करने की उन्हें आवश्यकता नहीं रही, वे डाक्टर की शरण जाने लगे। यह सब हुआ पर गरीब और अधिक गरीब होते गये, अमीर और अधिक अमीर होते गये। सामाजिक व्यवस्था ज्यों की त्यों थी। आर्यों ने वेद बनाये, देवताओं को हवि से प्रसन्न कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की चाह की, पर वास्तविक पुरुषार्थ वे नहीं कर सके। उन्होंने चाहा उनके शत्रुओं का नाश हो, जूआ संसार से उठ जाय पर उनका चाहा एक न हुआ, यद्यपि अपनी चाह की पूर्ति के लिए देवताओं के नाम उन्होंने अनेकों प्राणियों की बलि दे डाली। बुद्ध ने क्रान्ति उपस्थित की, 'अहिंसा' का जयनाद अशोक के हाथों एक ओर से दूसरे छोर तक व्याप्त हो गया, पर जिन दुःखों

और पीड़ाओं को दूर करने के लिए उन्होंने दया का साम्राज्य स्थापित किया वे और बढ़ीं, घटी नहीं ।. ईसा ने जिस क्षमा का संदेश दिया उस क्षमा से उसके अनुयायियों ने इनक्विजिशन (Inquition) की सृष्टि की, शेक्सपीयर के ईसाई एण्टोनियो में यहूदी शाइलॉक के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न की, मुहम्मद ने मानवीय भ्रातृत्व का पवित्र संदेश देकर मुसलमानों की शकल-सूरत में अपने ही जैसे काफिरों का अपने से भिन्न समझने को बाध्य किया, भारत में हिन्दू-मुसलमानों का रक्त-शोषक सङ्घर्ष खड़ा किया । 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की'—क्योंकि सामाजिक व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ा । शासक और शासित का भेद बना, जनता जनार्दन का सम्मान नहीं हो सका, दस्युओं की सभ्यता और संस्कृति का प्राधान्य रहा । इतिहास जिस समय से आरम्भ होता है, उसी समय से एक दस्यु के उपरान्त दूसरा दस्यु अपनी सभ्यता को लेकर विश्व के विविध भागों में अपना आतङ्क बनाये रहे हैं । सभ्यता के सूत्रों के अध्ययन करने वाले निर्विवाद यह मानते हैं कि यौद्धेय जातियाँ दस्यु थीं ।

"So we see that, in the case of Europe, the great civilizations had, on their boundaries, warlike peoples who drew their cultural sustenanee from them, and finally threatened to destroy them. These warlike people were therefore entirely parasitic......... The picture just sketched of the barbaric conquerors of Europe is true for the whole world........The Turk, for instance, who came from somewhere in Kansu in the west of China have produced but little in art, literature, or science, they have simply been warriors who have lived parasitically on the rest of mankind. [The Growth of Civistiation. W. J. Perry.]

जिन जातियों ने दूसरी जातियों पर अपनी तलवार के बल से आधिपत्य जमाया, अथवा तलवार के बल से लोक प्रियता प्राप्त की उन्होंने क्या दस्यु से बढ़कर कार्य किया ! सिकंदर और 'डाकू' की

प्रसिद्ध कहानी निश्चयपूर्वक ही प्रत्येक राजा को दस्यु सिद्ध करती है। किन्तु हमारी सामाजिक व्यवस्था ने ऐसे बल-दस्युओं से ही अपने रूप निर्माण की सामग्री नहीं पायी, धर्म-दस्युओं और धन-दस्युओं ने भी इनके साथ हाथ बँटाया है। बल-दस्युओं ने बल एकत्रित करके शेष समुदाय को भयाक्रान्त और निर्वीर्य किया, धर्म-दस्युओं ने आचार और मानसिक निष्ठा को विमोहित कर विविध मान्यताओं से जनपदों को जकड़कर, उन्हें आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य की जटिल शृङ्खलाओं में जकड़कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और बल-दस्यु तथा अर्थ-दस्यु से समझौता कर भोले मानव को नंगा करते रहने के सतत प्रयत्न में गंभीरतम सहयोग दिया है। अर्थ-दस्यु ने भूखों के हाथ से नहीं मुख में से कौर छीनकर अपना अक्षय भंडार भरकर संसार को दरिद्र बना दिया। ये तीनों मिलकर आज भी अपना क्रूरतम चक्र चलाते जा रहे हैं, और जब तक दम में दम है चलाते चले जायँगे। बल दस्यु कहता है 'तुम्हें राजा की आवश्यकता है, सेनापति और फौज की आवश्यकता है—तुम खेती करने वाले, मजूरी करने वाले, दुकानदारी करने वाले, लिखने-पढ़ने का व्यवसाय करनेवाले, अरे तुम अपनी रक्षा कैसे कर सकोगे? इधर से देखो चंगेजखाँ आ जायगा, उधर से तैमूर लंग, कहीं से सिकन्दर, कहीं से नैपोलियन तुम पर टूट पड़नेवाले हैं। और तुम हो, तुम्हें तो तलवार पकड़ने का भी शऊर नहीं है। राजा को कर दो, उस पर तुम्हारी रक्षा, सुख और शान्ति का भार रहेगा। हम तो तुम्हारी भलाई की बात कहते हैं, राजा नहीं होगा तो तुम लोग आपस में कट मरोगे।" धर्म-दस्यु कहता है—"मनुष्य तू अपने को पहचान। तू कौन है? तू क्या शरीर है? नहीं। जिसे तू अपना समझता है वह क्या तेरा है? [अभिप्राय होता है मेरा है। थोड़ा थोड़ा करके तुझे सब कुछ मुझे देना होगा] यह तो सब नाशवान है, तू अमर आत्मा की ज्योति है—छोड़ स्त्री-पुत्र, यह माया बन्धन है—विरक्त हो जा या निष्काम कर्म कर—'मागृधा कस्य स्विद्धनम:' 'पर द्रव्येषु लोष्टवत्'—नहीं, दूसरे के धन पर ललचाना ही मत छोड़, तेरे पास जो कुछ है वह भी डाल—

"पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम,
दोऊ हाथ उलीचिये यह सज्जन कौ काम"।

[और उलीचकर हमारे घर में भर दे] अरे तू धर्मात्मा है, तू दानी है, तू पुण्यात्मा है। भगवान बुद्ध भिक्षा के लिए निकले। बड़े बड़े सेठों के यहाँ से उन्हें हताश लौटते देख एक परम हीना-दीना भिखारिन ने उन्हें अपना अकेला वस्त्र भी दे डाला। भगवान ने इस दान का सबसे अधिक आदर किया—कहानी में भिखारिन के भाव का जो उत्कर्ष है उसे न भूलकर इसका उद्देश्य तो यही समझना होगा कि 'दे डाल और नंगा हो जा।"....

"ऋतु वसंत जाचक भया हरखि दिया द्रुम पात,
तातें नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात।"
'तुरत दान महा कल्यान'
"तुलसी वे नर मरि चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं।"

ओ भूले पापी, आ गुरु की शरण आ, संघ की शरण आ, ईश्वर की शरण आ। आ, मैं तुझे बताऊँगा कि क्या पाप है क्या पुण्य है? तुझे कैसे स्वर्ग मिलेगा, कैसे नरक? "भोली भेड़! मैं न रहूँगा तो तुझे सब मूड़ लेंगे—तू चर्च में आ, मन्दिर में आ, मस्जिद में आ, इबादत कर।" अर्थ-दस्यु कहता है "जिसकी आवश्यकताएँ कम हैं वह असभ्य है। सभ्य वह हैं जिनकी आवश्यकतायें बढ़ी हुई हैं। तू गँवार मत रह, अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा—नया से नया फैशन अपना, अपनी सुन्दरता बढ़ा, अपनी प्रतिष्ठा बढ़ा, अपना स्वास्थ्य बढ़ा, इन सबके लिए हमने नयी और अद्भुत वस्तुएँ तय्यार की हैं। अपना धन हमारे पास जमा कर, जो पैदा करे हमें दे। तू अर्थ की समस्यायें क्या समझे? हम इसके विशेषज्ञ हैं। हमारे पास अधिक रुपया होगा तो बड़े-बड़े व्यवसाय और उद्योग तथा आविष्कार हो सकेंगे।" धर्म ने कहा—ईश्वर सर्व-शक्तिमान् है, सर्व व्यापक है—राजा में ईश्वर का अंश है। बल-दस्यु का प्रतिनिधि राजा कहता है: "धर्म बिना मेरी प्रजा का कल्याण नहीं। मैं मठ-मन्दिर-मस्जिदें बनवाऊँगा और उसके प्रबन्ध का भार भी मेरे ऊपर है।" अर्थ दस्यु कहता है—मैं तुम सबका आधार हूँ। वर्तमान विधान मेरे लिए सबसे हितकर है, इसमें परिवर्तन न होने पावे। अर्थ राजा से कानून बनवाता है—और इन तीनों ने मिलकर संसार को बल

बुद्धि और धन से सर्वथा हीन कर दिया है। ये दस्यु अपनी लूट में लगे रहे हैं—और जिन महान् पुरुषों ने यहाँ क्रान्ति करायी है उन्होंने अभी तक भक्ति-सेवा-पलायन का उपदेश देकर इनका पोषण किया है। इन दस्युओं के साथ मिलकर महान् स्मृतिकारों ने ऐसी संस्थाएँ बनायी हैं कि मनुष्य उनमें जकड़ा रहे, अपनी शक्ति तथा प्रतिभा को ऐसे कार्यों में व्यय करता रहे जो गौण हैं, और जिनमें उसकी प्रतिभा का उपयोग नहीं, जिससे वह सर्वतः विसर्जित हो जाय। उसमें इतना साहस शेष न रह जाय कि इन दस्युओं के षड्यन्त्र का कोई विरोध कर सके : स्वत्व, स्वत्व की रक्षा के लिए शासन, शासन की रक्षा के लिए सैन्य, सैन्य की रक्षा के लिए अर्थ, और अर्थ की रक्षा के लिए स्वत्व। 'स्वत्व' जमीन पर जमींदार बने, राजा बने; स्वत्व मनुष्यों पर पति बने, पत्नी बने, स्वामी बने, नौकर बने, दास और गुलाम बने; स्वत्व धन पर—पूँजीपति बने, दरिद्र बने, महाजन बने, ऋणी बने। भूमि के लिए और धन के लिए उत्तराधिकार-नियम, मनुष्यों के स्वत्व के लिए विवाह नियम और विविध सामाजिक प्रथायें—Social Sanctions—सामाजिक भय, उसके साथ धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा-भाग्य, पुनर्जन्म इत्यादि को लिए हुए धार्मिक भय। मानव का स्वातन्त्र्य हरने के लिए क्या नहीं किया गया? बड़े-बड़े धर्मोपदेष्टाओं ने माया और मोह तथा जगत-जञ्जाल को छोड़ने के मार्ग सुझाये, उन सबने समाज-व्यवस्था को अटल मान लिया—ये सभी महान् पुरुष वास्तविक क्रान्ति से भय-भीत थे अथवा मानव की मौलिक समस्या को ठीक समझ नहीं पाये थे, फलतः वैराग्य और त्याग या दान की प्रशंसा गाते रहे। युग-युग के इतिहास का अध्ययन—वैज्ञानिक अध्ययन आज बाध्य कर रहा है कि अब नया कदम उठाया जाय। आज तक जितने कदम उठाये गये, गलत उठाये गये। उन्होंने जो अवस्था उत्पन्न की उससे मानव हीन ही होता गया—उनके कदमों से मार्ग तो तय नहीं हुआ धूल अवश्य उड़ी और उस धूल से मानव शरीर रुक्ष और बोझल हो उठा है, उसकी आँखें मन्द हो गयी हैं—वह क्या करे? उसने भक्ति की जी तोड़ कर, पर मानव कल्याण नहीं हुआ, संसार से विरक्त हुआ, पर इससे तो कैसे संसार का लाभ होगा? वह लड़ा है। आज

तक भयानकता से लड़ता रहा है--सभ्यता और संस्कृति के सुनहले नामों की रक्षा के लिए, सुख और शान्ति, उन्नति और उत्कर्ष के लिए, उसने इसी निमित्त बड़े-बड़े वैज्ञानिक शोध किये, एड़ी और चोटी का पसीना एक किया, उसने कल्पित स्वर्ग के इन्द्रप्रस्थ खड़े किए, मनोरञ्जन की दिव्य सामग्रियाँ बनायीं—पर हुआ क्या ? ये सब उसे अगति अथवा दुर्गति की ओर ही धकेलते चले गये हैं। तो क्या मानव यही चाहता है ?

इन दस्युओं का साथ साहित्यकार ने निस्सङ्कोच होकर दिया है—इस साहित्यकार ने मानव को Sentimental राग-रस समूह बना दिया; प्रेम और सौन्दर्य की अकथ कथाएँ इसने गढ़ीं और फैलायीं—दुष्यन्त शकुन्तला पर मोहित हो रहा है, राम सीता पर, कृष्ण राधा पर और..........उसने कहा प्रेम शाश्वत सत्य है, या कहा: Beauty is Truth and Truth is Beauty"—इसने मनुष्य को भटका दिया:

"I wander'd lonely as a cloud
That floats on high o'er vales and hills,
When all at once I saw a crowd,
A host of golden daffodils,
Beside the lake, beneath the trees
Fluttering and dancing in the breeze.
Continuous as the stars that shine
And twinkle on the milky way,
They stretch'd in never ending line
Along the margin of bay:
The thousand saw I at a glance
Tossing their heads in sprightly dance
The waves besides them danced, but they
Out-did the sparkling waves in glee:
A poet could not but be gay
In such a jocund comyany !
I gazed and gazed but little thought,

What wealth the show to me had brought.
For oft, when on my couch I lie
In vacant or in pensive mood
They flash upon that inward eye
Which is the bliss of solitude;
And then my heart with pleasure fills
And dances with the daffodils.

Wordsworth.

सौन्दर्य और प्रेम के मद से मानव को विभोर कर विक्षिप्त, अकर्मण्य, रागजीवी और पलायनवादी बना दिया उसने—उसने मनुष्य के स्वास्थ्य को नहीं विकार को दृष्टि में रखा।

अथवा कवि वीर-पूजक बना और तब उसने राम की मूर्ति खड़ी की अथवा कृष्ण की। उन्हें सभ्यता प्रसारक अथवा सभ्यता पोषक चित्रित किया। राम राक्षसों का वध करने वाले और ऋषियों के हितैषी बने, माता, पिता, भार्या, भाई, गुरु आदि के प्रति कर्तव्य की रूप रेखा उपस्थित करने वाले; कृष्ण प्रेम और राजनीति के कर्मण्य सूत्रधार—किन्तु इस सबमें राम और कृष्ण दस्यु सभ्यता के ही केन्द्र हैं—प्रजा को अपने ऊपर निर्भर करने वाले। इनका प्रजाहित भी राजाश्रित था—आखिर राम और कृष्ण जो समझें वही तो न्याय और वही तो प्रजा का हित था। वीरपूजकों ने रक्त बहाने वाले मनुष्यों को देवता और ईश्वर का स्थान दिया, और ऐसे व्यक्तियों के हाथ में मनुष्य का दुख-सुख छोड़ दिया। वाल्मीकि ने राम और व्यास ने कृष्ण देकर चाहा कि मनुष्य को पाप से मुक्त करें, सूर और तुलसी ने भी यही चाहा। पर ये धर्मात्मा भी भीषण पाप कर गये राम और कृष्ण देकर।

'दिमागी ऐयासी' के लिए लिखी गयी रचनाओं के सम्बन्ध में क्या कहा जाय? कला की अभिराम चमत्कारपूर्ण व्यञ्जना से साहित्य की वृद्धि हुई—स्त्री-सौन्दर्य की परख हुई, उसके हाव-भावों की एक-एक सूक्ष्म रेखा भी इन कलाकारों ने उभार कर रख दी। क्यों? किसलिए? मानव को राग के दुर्बल संस्कारों के स्वाद में मग्न रखने के लिए।

एक विशाल मानव वर्ग जब यहाँ पीड़ित हो, उसे भोजन, वस्त्र, नित्य आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध न हो तब 'सत्य' शिव, और सुन्दर' की व्याख्या मानवता का उपहास है। पड़ोस में मृत्यु हो जाये और पड़ोसी के यहाँ नगाड़े बजें यह कोई चाहने की बात नहीं हो सकती। साहित्यकार अभी तक यही करता रहा है। उसने 'सत्य' के लिये जो कुछ लिखा है, वह असत्य रहा है। उसके शिव में अशिव की उद्भावना हुई है, और उसका सुन्दर निर्जीव, निस्पन्द और दुर्गन्धित रहा है। यही कारण है कि युग युगान्तरों से विराट साहित्य कर्म होता चला आया और मानव को कुछ भी न दे पाया। साहित्य ने अभी तक पत्तों को सींचा है। यह बात विश्व के महान कलाकारों से लेकर आज के छोटे से छोटे कवि के सम्बन्ध में सत्य है।

हिन्दी का एक युग अभी अभी हो कर चुका है। कवि नरेन्द्र ने 'प्रवासी के गीत' के वक्तव्य में लिखा है: "पूर्वार्ध के कवि प्रधानत: सौन्दर्योपासक और असीम तथा अनन्त के अनुरागी थे। सौन्दर्योपासकों में से कुछ की रुचि काव्य की प्रकार-योजना में नयेपन तथा विलक्षणता की ओर भी गई। असीम के उपासक बहुधा सीमाहीन में अपनी ऐहिक सीमाओं को भुला देने के लिए प्रयत्न-शील रहे।

"सौन्दर्योपासक तथा असीमोपासक, दोनों में एक विशेष समानता थी। दोनों ही वास्तविकता से दूर हटकर अपने को कल्पना-जन्य स्वप्नों में भुलाते रहे।.......हमें उनके मनोभावों को संक्रान्ति-कालीन सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में समझना चाहिए।"—अंशत: यह कथन ठीक ही है। समाजव्यवस्था में कवि का कोई स्थान नहीं बन पाया। वर्ग-विभाजन से वह मध्यवर्ग का ही ठहरेगा—और मध्यवर्ग साहित्य से लाभ नहीं उठाना चाहता। और मध्यवर्ग से उसे सहानुभूति तक नहीं मिलती क्योंकि वकीलों और डाक्टरों की भाँति वह उनकी सहायता करता नहीं प्रतीत होता, न वणिक् की भाँति उन्हें उनकी आवश्यकता का सामान ही बेचता है। वास्तविक बात तो यह है कि समाज में उसे अपने बैठने योग्य कोई स्थान ही नहीं दीखता—वह समाज में खप नहीं पाता।

ऐतिहासिक दृष्टि से वह अनन्तकालीन दासता से छुट-

राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के लिए वह तड़पता है पर अपनी और अपने समाज की विवशता से आहत होकर वह किसी शिलाखंड पर नदी के किनारे बैठा अपने मुक्त स्वर्ग की रचना करता है, ईश्वर का स्मरण करता है; संसार से तिरस्कृत वह अपने को उस महान से आहूत और आमंत्रित देखता है, उसे अपने पास आते और उसकी अनुभूति पाते देखता है। अथवा वह इतना हताश हो जाता है कि उसके समक्ष अपनी अभीष्ट सिद्धि का अर्थ ही नहीं रह जाता और तब वह वेदना को अनन्त मानकर उसी में अपनत्व को विसर्जित कर देता है। उसी के लिए जीने-मरने का काव्य रच उठता है :

> नित जलता रहने दो तिल तिल,
> अपनी ज्वाला में उर मेरा,
> इसकी विभूति में फिर आकर,
> अपने पद-चिह्न बना जाना!

मनोविश्लेषणात्मक—दृष्टि से देखें तो यह कवि उच्चवर्ग के वातावरण के निकट विश्वविद्यालयों की राजसी अपदार्थ शिक्षा से विविध सुख-सौन्दर्य विलास का उन्माद पाये हुए है। उसका तारुण्य अवहेलित है, उसके यौवनोद्दाम भावों के ज्वार-भाटे के रेचन का मार्ग उसके लिए अवरुद्ध है। हूक है उसमें, नीरवनिशा में वह अपने बेकलो के दीपक जलाकर अपने अवरुद्ध भावों को इन सौन्दर्य रूपकों द्वारा उन्मोचित करता है। उसका अतृप्त उद्दाम काम शतशः रङ्गीन पुष्पवाणों से अनन्त विमोहक रूप निर्माण कर देता है। वे रूप उसे प्रकृति के विविध व्यापारों में झिलमिलाते, उसे अभिसार के लिए बुलाते प्रतीत होते हैं। उन रूपों में प्रेयसी और सजनी तो है, पर वह उन्हें नायिका नहीं कह सकता, रीतिकालीन कवियों की कोटि में कहीं उसे न रख दिया जाय यह भय है उसे, अतः वह नये नये नाम रखकर अपने भावों को संतुष्ट करता है। मूर्त इन्द्रिय-भोग्य सौन्दर्य की कल्पना को तब वह अनुभूति से पावन बनाकर किसी रहस्य की संयोजना उपस्थित कर देता है। नवीन शब्द संयोजन, नवीन छंद प्रणाली, प्राचीन के प्रति विद्रोह लेकर वह खड़ा होता है और इन साधनों से वह अपने मुक्त और बन्धनहीन होने का संतोष साहित्य में मनमानी कर प्राप्त करता है। वह अपने शब्दों में ओज

भर देना चाहता है कि जो सुने पढ़े उसको अपनी तड़पन से वह भी तड़प उठे।

पर प्रश्न यह है कि क्या यह सब पलायन नहीं। और क्या इससे कुछ भी संतोष हो सकता है। महादेवी वर्मा ने अपने युग की रचनाओं के कवियों के सम्बन्ध में लिखा है:—'हमारा व्यस्त और व्यक्ति-प्रधान जीवन हमें काव्य के किसी और अंग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपनी प्रत्येक कम्पन को अंकित कर लेने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिये विकल हैं। सम्भव है यह उस युग की प्रतिक्रिया हो जिसमें कवि का आदर्श अपने विषय में कुछ न कह कर संसार भर का इतिहास कहता था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आहत करता था।' इस प्रतिक्रिया तक ही क्या रहा जा सकता है। प्रतिक्रियाओं की परम्परा होती है। छायावाद की प्रतिक्रिया क्या है?

महादेवी से एक उद्धरण और लें—

"आज गीत में हम जिसे नये रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय का अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय का मस्तिष्कमय बना सका।" मनुष्य को छायावाद और रहस्यवाद से मिलने वाला अवलम्ब, भक्तिमार्ग के राम और कृष्ण तथा वेदान्त के अद्वैत की भाँति ही अति वैयक्तिक हो गया। कवि की अपनी अनुभूति अपने विशेषार्थी शब्दों के द्वारा भी प्रकट होगी, उसमें उसका अपना ही अर्थ होगा या अपना ही अवलम्ब, उसी के अनुसार वह व्यक्तियों के साथ भिन्न हो जायगा, उसमें राम कृष्ण अथवा ब्रह्म जैसी पहचान कराने वाला, एकता स्थापित कराने वाली कोई

एक भी रेखा नहीं मिलेगी। इस अपने अपने अवलम्ब से—जिसके वे अवलम्ब हैं—उन्हें कुछ सबल मिल सकता है। मानवता को वह विभ्रम में ही डालेगा। जिस अपार्थिव प्रेम ने भक्ति को प्रोद्भासित किया, जिस पार्थिव प्रेम ने शृङ्गार को विलक्षण बनाया वही प्रेम रहस्यवाद में मिलकर भी अवलम्ब की दुर्बलता के अभाव के कारण शीघ्र ही रहस्यवाद को ही खा गया। जिन तत्वों पर रहस्यवाद खड़ा हुआ है वे सब पुराने जजरित युग के तत्व हैं, वे सब मिल कर निराली स्थान से अनुप्राणित होकर भी परिवर्तन और क्रान्ति की वेगवती धारा का सामना किस प्रकार कर सकते हैं—एक धक्के में वे भूमिसात् होते दिखाई पड़ रहे हैं।

रहस्यवाद के सभी प्रमुख लेखक, महादेवी को छोड़कर, क्यों रहस्यवाद से विमुख हो उठे हैं?

एक राजनीतिक कारण है—१९१९-२० में महात्मा गान्धी का 'अहिंसा' आन्दोलन प्रबल था। आन्दोलन क्रान्ति के लिए अग्रसर था, पर आन्दोलन हो होकर रह गया। उसने जन मन को आलोड़ित कर दिया और यह भी अत्यन्त स्पष्ट कर दिया कि वर्तमान व्यवस्था की लौह शृङ्खलायें बड़ी कठोर और प्रबल हैं। जिस प्रकार इस व्यवस्था के संस्थापक अपने व्यवसाय में सुशिक्षित हैं, उस प्रकार उनके विरोधी नहीं। विरोध अहिंसात्मक था, नये प्रकार का था फिर भी व्यवस्थाधिपति उसे सम्हाल ले गये—वैसी योग्यता जनता में नहीं आ पायी थी। गांधीजी के विचार और तीव्रता से फैले—गांधीवाद की रूप रेखा-सी खड़ी होने लगी। आस्तिकता के साथ अहिंसा, मानव में गुण और सत्य के प्रति प्रेम होने का विश्वास, मत-परिवर्तन (Conversion) से स्वार्थ के शिकंजे को भी शिथिल किया जा सकता है, व्यक्तिगत शुद्धि और आत्म-पीड़न (Self-suffering) सत्य के लिए, व्यक्ति का महान् शक्ति प्रदान करती है, इन तत्वों के साथ क्रियात्मक विज्ञापन, भेद-विभेद का अभाव, मानव मात्र के प्रति सहज प्रेम, केवल मानव कल्याण की कल्पना—ये सब तत्व अत्यन्त गति से चले, फैले। १९३० में फिर इनकी परीक्षा हुई—पर भारत के मानव पर लदा हुआ वह बोझ अत्यन्त भारी ठहरा। तब क्रान्ति हुई। विदित हुआ कि सारे उद्योगों को व्यर्थ कर देने वाली व्यवस्था

जिन आधारों पर टिकी हुई है जब तक वे नष्ट नहीं होते तबतक वास्तविक मत परिवर्तन नहीं हो सकता। उन आधारों का ध्वंस होना आवश्यक है—प्राथमिक आवश्यकता है। शरीर की जड़ें जिन आवश्यकताओं में हैं, उन्हें बदलो। मानव में मानव भले ही हो पर वह वर्गों में विभाजित है और उसे अपना सजातीय सत्य ही सत्य प्रतीत होता है, वह उसी में विश्वास करता है और उसके लिए अपने प्राण भी देता है। रेलवे यात्रियों की भी अपनी तर्कना होती है—जब तक वे डिब्बे के बाहर हैं वे समझते हैं कि न्याय कहता है कि डिब्बेवालों को उन्हें डिब्बे में आने देना चाहिए, उन्होंने भी पैसे दिये हैं, और उनका अधिकार है कि डिब्बे में बैठें। वह जब डिब्बे में बैठ जाता है तो समझता है कि डिब्बे में किसी दूसरे को अब न आना चाहिए। डिब्बा भर गया, अब किसी भी यात्री का उसमें प्रवेश करना अत्याचार और अन्याय होगा। इसी के लिए स्टेशनों पर डिब्बों में लड़ाइयाँ होती मिलती हैं। लाठी से अक्षर नहीं सीखे जा सकते, कलम से लाठी का वार नहीं झेला जा सकता। पूँजीपति के रहने से पूँजीवाद रहेगा, पूँजीपति उन साधनों के कारण पूँजीपति हैं जो शोषण करके उसके कोष को द्रुतगति से भरते चले जाते हैं; वे साधन उसके हाथ में होंगे; संपत्ति उसके पास संग्रहीत होगी, और वह कितना ही मत परिवर्तन करे इस भाव को हृदय से कैसे निकाल सकेगा कि यह संपत्ति उसके कारण है और उसकी दया पर इतने निर्भर करते हैं। जो उन साधनों से हीन हैं कैसे वे उन साधनों से सम्पन्न व्यक्ति को आश्चर्य और उच्चता से न देखेंगे। उस ऐश्वर्य का मद किसी कानून से भी नहीं रोका जा सकता जब तक कि ऐश्वर्य ही अपहृत न कर लिया जाय। यह स्पष्ट है कि मौलिक परिवर्तन हो नहीं सकेगा जब तक उसके आधार-भूत भौतिक सम्बन्धों में समुचित हेरफेर नहीं हो जाता। क्या हम ईश्वर, धर्म, स्त्री-पुरुष के वर्तमान सम्बन्ध की प्रणालियों को लेकर समाज में कोई भी वास्तविक समस्या हल कर सकते हैं? गोर्की ने एक बार ईश्वर को बनाने का प्रस्ताव कर दिया एक पत्र में लेख लिखकर। उसके उत्तर में लेनिन ने गोर्की को जो पत्र भेजा उसके कुछ स्थल ध्यान देने योग्य हैं।

"ईश्वर को खोजने या बनाने में बहुत थोड़ा अन्तर है। केवल

उतना ही, जितना पीले और नीले भूत में।........ईश्वर को चाहे खोजा जाए, चाहे स्वयं बना लिया जाय वह जनता को अज्ञान के अन्धकार से बाहर नहीं निकलने देगा।

"अत्यन्त सुशिक्षित और सुसंस्कृत देश अमेरिका, स्विटजरलैंड आदि में भी किसी नवीन विचार को जनता को समझाना कठिन है। ईश्वर-विश्वास और अध्यात्मवाद ने जनता के मस्तिष्क को जड़ बना दिया है। किसी भी प्रकार का धर्म-विश्वास, परलोक का ध्यान, आध्यात्मिकता अथवा इससे सम्बन्ध रखने वाले विचार जनता की मानसिक दासता के कारण हैं। शोक इस बात का है कि जनता इस दासता का स्वागत करने के लिए सदा तत्पर रहती है। ये विचार स्वतंत्रता के लिये भयङ्कर रोगों के कीटाणुओं के समान हैं। धर्म की ओट में सैकड़ों-करोड़ों अपराध, अन्याय और अत्याचार छिपे रहते हैं। मेरी दृष्टि में जनता को ईश्वर पर विश्वास दिलाने का यत्न करना समाज के प्रति सबसे भयंकर अपराध है।.........."

"आत्मचिंतन के नाम पर आत्म-प्रवंचन से क्या लाभ? जो कोई भी मनुष्य ईश्वर के निर्माण अथवा खोज के लिये जनता को उत्साहित करता है, अथवा इस कार्य में अपनी अनुमति देता है, वह अपने कर्तव्य और बुद्धि के साथ व्यभिचार करता है। आत्म-चिंतन और मनन अपने आपको धोखा देने के साधन हैं। क्रियात्मक क्षेत्र को छोड़कर केवल कल्पना के राज्य में विचरना अपनी निर्बलता और गुणों को छिपाने का यत्न करना है। यह अमीरों का एक नखरा है, कल्पना द्वारा अपने आपको सन्तुष्ट करना है।...........इस अध्यात्म-वाद का उद्देश्य जनता को अज्ञान और दासता में फँसाये रखना है।"
इन शब्दों में एक महान अनुभवी क्रान्तिकारी के स्पष्ट विचार दिये हुए हैं, और उनसे यह समझा जा सकता है कि जिन साधनों से अज्ञान बना हुआ है उन्हें नष्ट करना ही होगा। मनुष्य के मस्तिष्क में से ऐसी प्रत्येक धारणा को निकालना होगा जो अवैज्ञानिक धरातल पर है, जो Superstition (मूढ़ग्राहों) की भांति है, जिसने मनुष्य को मानसिक दासता और जड़ता से आक्रान्त कर रखा है। इस काल में हिन्दू-मुसलमानों के दलों ने धर्म और सम्प्रदायों की प्रतिक्रिया-त्मक प्रवृत्ति (reactionary tendency) को खोलकर रख दिया।

हिन्दू और मुसलमानों का विरोध किसलिए, अपने अपने ईश्वर तथा खुदा के लिए ? अपने अपने नेतृत्व के लिए ? अपने अपने उत्तराधिकार नियम के लिए ? अपनी अपनी तहजीब और संस्कृति के लिए ? मुसलमानों को हिन्दुओं का भय क्यों ? हिन्दुओं को मुसलमानों का भय क्यों ? इसीलिए कि धर्म के मूढ़ग्राह ने उन्हें ग्रस रखा है, वे जड़ हो गये हैं और अपरिवर्तनवादी बन गये हैं। उन्हें न्याय से दूर कर दिया है। यहीं यह भी विदित हुआ कि भारत का जन गांवों में है। १९३५ के गवर्नमेण्ट आव् इण्डिया ऐक्ट ने मतदाताओं की योग्यता की सीमा बढ़ा कर बहुत हद तक मजदूर और किसानों को भी उसमें सम्मिलित कर लिया, इसके कारण गाँव और भी उभर कर सामने आ गये। गाँव-सुधार, निरक्षरता-निवारण जैसे कार्यों की गति बढ़ी, पढ़े लिखे का ध्यान इधर आकर्षित हुआ। इस सब राजनीतिक स्थिति ने साहित्यकार को विवश किया कि वह इधर ध्यान दे।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद धीरे धीरे साहित्यकार की मनसा को प्रभावित करने लगा है। सबसे पहला विश्वास उसे यह होने लगा है कि पलायनवाद अथवा कल्पना को अपनी छोड़नी पड़ेगी। कला कला के लिए का सिद्धान्त अमान्य है। उद्देश्यशून्य सुन्दर दृश्य-चित्रों का अङ्कन केवल सौन्दर्य के लिए अवाञ्छनीय है। उद्देश्य भी कला का वह होना चाहिए जो मौलिक समस्याओं को उधेड़ कर रख दे। इसी के साथ उसे यह विदित हुआ कि अब तक उसने साहित्यकार की शक्ति को समझ नहीं पाया। उसे तो अग्रदूत होना चाहिए, वह जनता के मस्तिष्क का निर्माता है, वह आज अपना उत्तरदायित्व पूरा नहीं कर रहा। वह इन विविध घातक प्रवृत्तियों का चारण-मात्र बनकर रह गया। उसे दिग्दर्शक होना है। यह उसी का उत्तरदायित्व है कि वह जनता को मूढ़ग्राहों और भ्रमित धारणाओं से उन्मुक्त करे। उसने यह भी अनुभव किया कि कल्पना जगत की सामग्री न लेकर वास्तविक जगत, नहीं नग्नवास्तव को लेकर उसे अपना कार्य सम्पादित करना होगा। कल्पनात्मक पात्रों के प्रति अपनी सहानुभूति का रस उँडेलना अपना क्षय करना है, वास्तविक जगत के प्राणी उस सहानुभूति के विशेष अधिकारी हैं, काल्पनिक स्वर्ग में अपने को भुलाना प्रवञ्चना है, वास्तव में जो यथार्थ नरक है उसे धीरे धीरे

अपनी शक्ति से परिष्कृत करता हुआ उनमें से स्वर्ग की उद्भावना करना ही श्रेयस्कर होगा। विश्व की पीड़ित आत्मा ने उससे कान में कहा—"ओ तू साहित्यकार उठ, क्रान्ति के लिए मुझे तैयार कर, मानवता को शुद्ध मानवता और मुक्त मानवता बनाने के लिए तू कटिबद्ध हो जा।" रहस्यवाद और छायावाद की उद्दीपक अतृप्तकाम रङ्गीनी ने उसमें जो तीव्रतम वेदना जगा दी थी, असीम क उस परिस्थिति प्रसूतन्याय (Logic of the situation) से यों भी लौट पड़ने का विकल्प था। और वह उस वेदना और उस सहानुभूति के साथ गाँवों, किसानों, मजदूरों की ओर लौट पड़ा। राजनीतिक और मानसिक अवस्था ने उसे इस प्रगति के लिए बाध्य किया।

रहस्यवाद की प्रतिक्रिया उसे किसान और मजदूरों के पास ही क्यों ले गया या क्यों ले जा रही है। रहस्यवाद की रहस्यात्मक अनन्त शून्यता ने प्रतिक्रिया के अपने खोखले को घोर ठोस यथार्थता से ठसाठस भर लेना चाहा। समाजवाद ने यहीं यह परामर्श दिया—"अर्थ के विषम वितरण ने वास्तव को मिथ्या यथार्थ का रूप दे दिया है। अर्थ के विषम वितरण का परिणाम बड़ा भयङ्कर होता है, हुआ है।"

"In politics it defeats every form of government except that of a necessarily corrupt oligarchy. Democracy in the most democratic modern republics: France and the United States for example, is an imposture and delusion, It reduces justice and law to a farce, law becomes merely an instrument for keeping the poor in subjection; and accused workmen are fired, not by a jury of their peers, but conspiracies of their exploiters. The press is the press of the rich and the curse of the poor: it becomes dangerous to teach men to read. The priest becomes the mere complement of the policemen in the machinery by which the country-house oppresses the village. Worst of all marriage becomes a class affair:

The infinite variety of choice which nature offers to the young in search of a mate is narrowed to a handful of persons of similar income; and beauty and health become the dreams of artists and the advertisements of quacks instead of the normal conditions of life. Society is not only divided but actually destroyed in all directions by inequality of income between classes—" [B. Shaw ; Preface to Androcles And The Lion]

यह आर्थिक विषमता दस्यु-सभ्यता का परिणाम है, जिसमें दस्युओं ने अपने कुकृत्यों को भाग्य और ईश्वरीय विधान के नाम पर निरन्तर चलाया है, और उनसे शोषित संपत्ति के कुछ टुकड़े फेंककर अपने चतुर विरोधियों को मौन कर दिया है। तो कवियों को शोषकों और दस्युओं को त्याग कर शोषितों की ओर जाना पड़ेगा। शोषित ही उत्पादक है, शोषित ही समाज के मूल-आधार और स्रोत हैं। समाज की एक मात्र वास्तविक इकाई (unit) यही शोषित हैं जो पसीना बहाकर धन उत्पन्न करते हैं—ये श्रमिक और किसान, समाज के सबसे नीचे के स्तर पर पड़े हुए हैं और दस्यु-सभ्यता से प्रेरित सम्पूर्ण समाज उन्हें चूसे जा रहा है। इसीलिए साहित्यकार इनकी ओर चल पड़ा है। उसके लिए आवश्यक होगया है कि इधर जाय, यदि उसे अपने प्रति ईमानदार रहना है और यदि उसे अपने कर्म को निष्कलुष रखना है।

हमारे सम्पूर्ण साहित्य का एक बड़ा भारी दोष अभी तक यही रहा है कि उसने यथार्थ को कहने का साहस नहीं किया। उसके साहित्य की टेकनीक वही रही है जो किसी दस्यु की होती है। दस्यु या शोषक कभी सत्य से आँखें चार नहीं करता। अपने पाप के प्रति वह इतना चैतन्य होता है कि वह उसे पद-पद पर पुण्य कह कर पुकारना चाहता है—दान जैसे गर्हित कर्म को, जो समाज में भिक्षोपजीवियों की सृष्टि करता है, जो दरिद्रता को मौलिक मान कर चलता है, यह मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता है और इसे सम्पूर्ण गुणों से श्रेष्ठ बतलाता है। दरिद्रता और दुःख को वरणीय मानता है, क्योंकि उससे ईश्वर का स्मरण सदा बना रहता है :

"सुख के माथे सिल परै नाम हृदय ते जाय।
बलिहारी वा दुःख की पल-पल नाम रटाय।"

इस पाप को छिपाने की प्रवृत्ति की परिवृद्धि साहित्य में होती है अभिव्यञ्जनावाद में। स्पष्ट खुलकर स्वस्थ बातें करना अश्लील और ग्राम्य कहकर भर्त्सना का पात्र समझा जाता है, उसी को ढँककर, घुमा फिराकर ललित शब्दावली में रखना, व्यङ्ग से, अस्पष्ट भाव से उसे उपस्थित करना पुरस्कार के योग्य घोषित किया जाता है। लज्जा और शर्म का महत्व बढ़ जाता है। सभ्यता और शिष्टता में इसका रूप 'धन्यवाद की सभ्यता' का रूप ग्रहण कर लेता है। एटीकेट से मनुष्य इतना बँध जाता है कि वह एक उँगली भी निर्धारित शिष्टाचार के विरुद्ध नहीं चला सकता। नियम, सभ्यता और शिष्टता का आतङ्क, मानापमान का रौब ऐसी विधि से जमा दिया जाता है कि मनुष्य की वास्तविकता कुचल जाती है, वह ऐसी कोई भी बात उस आतङ्क में करने का साहस नहीं कर सकता जो वह ठीक समझता हो, पर जो वहाँ के नियमों से प्रतिकूल हो। इन सभ्यतावादियों ने संसार को गुड़ियों और गुड्डों का घर बना रखा है। बड़े-बड़े घुमाव फेर दे रखे हैं। इस प्रकार के घुमाव-फेर की सभ्यता का पोषण नहीं करना तो क्या उसके द्वारा मिली हुई टेकनीक का पोषण करना होगा? निश्चय ही नहीं। यदि साहित्यकार सम्पूर्ण स्वास्थ्य को प्रस्तुत करना चाहता है तो उसे इस बनावट का त्याग करना होगा। शब्दों को भी उन गोहृत धारणाओं से मुक्त करना होगा जो बलपूर्वक उसके सिर मढ़ दी गई हैं। जब तक यह साहस साहित्यकार में नहीं आता, उस समय तक वह अपना उत्तरदायित्व पूरा नहीं कर सकेगा।

उसका उत्तरयित्व है मानव की मुक्ति, मानव को पूर्ण स्वस्थ करना, उसे यथार्थ मानव बना देना। अतिमानव (Superman) की कल्पना करना व्यर्थ है। पूर्ण स्वस्थ मानव की कल्पना करना ही ठीक है। उस कल्पना को सिद्ध करना—इसके लिये विकास का मार्ग ढूँढना आज की जर्जरित सभ्यता के सहारे असम्भव है। अन्तर से नये बीज वपन कर अथवा बाहर से नयी अक्रामक शक्तियाँ लाकर मौजूदा व्यवस्था को हटाने की व्यवस्था करनी होगी—तभी मानव की प्रगति होगी, तभी मानव अगति और दुर्गति से बच सकेगा।

सुनिश्चित परम्परा में क्यों न नियोजित कर दिया जाय ? वासनाओं के दमन से अवरुद्ध, अभिशप्त और त्रस्त मानस कार्य प्रणाली को दिखाने के लिए कितने ही अद्भुत ग्रंथों की रचना क्यों न कर डाली जाय ? पर क्या प्रगति हो सकती है ? इनसे मानव बुनियादी प्रगति का कदम नहीं उठाता। इन्होंने भिन्न समयों पर हमारे समाज को प्रगति-पथ पर आगे बढ़ाया है, लेकिन आज की ऐतिहासिक परिस्थितियों में वे नाकाफी हैं।

अब समय आ गया है कि साहित्य इस भोंड़े वितण्डावाद से अपने को निकाल ले—नहीं वीररास रसराज है, वाह शृङ्गार रसराज है, वह भी नहीं करुण है जनाब; आदर्शवाद, नहीं उपयोगितावाद, नहीं यथार्थवाद, नहीं अतियथार्थतवाद, नहीं बुद्धिवाद; साहित्य गोष्ठी, नहीं मण्डल, नहीं सम्मेलन; व्रजभाषा, नहीं खड़ी बोली, नहीं अवधी; देव, नहीं बिहारी, सूर, नहीं तुलसी; ज्ञान, नहीं भक्ति; ब्रह्मा, नहीं विष्णु, नहीं शिव; नाटक-नाटिकायें, नहीं पुरुष-प्रकृति; त्रैत, नहीं द्वैत, नहीं अद्वैत; अश्लील, नहीं श्लील; पत्रकार-लेखक, नहीं प्रकाशक; पुराने कवि नहीं नये कवि, उर्दू, नहीं हिन्दी नहीं हिन्दुस्तानी—इन्हीं में साहित्य जूझ रहा है, प्रतिभायें इन्हीं में विगलित हुई जा रही हैं, जड़ताओं में जागृति कहाँ ? जड़ता को दूर करने, प्रतिभा को प्रकाश में लाने, जीवन सशक्त और निर्मल करने के लिए प्रगति की, और उसके लिए प्रगतिवाद की आवश्यकता है। साहित्यकार को वर्तमान व्यवस्था के Merry-go-round चर्खे से उतार कर किसी घोड़े या टट्टू पर बिठाना होगा, गदहे पर बिठाने में भी हानि नहीं। वह लेकर आगे तो बढ़ेगा, इस व्यवसायी के तमाशघर के Merry-go-round चर्खे पर ही घूमते-घूमते तो आयु नहीं बीतेगी।

काव्य में दोष

इतिहास—

काव्य-शास्त्र की रचना के समय से ही काव्य के दोषों की ओर आचार्यों की दृष्टि गयी है। संस्कृत में भरत-मुनि ही काव्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने काव्य में दस दोष माने हैं:—अर्थ हीन, एकार्थ, गूढ़ार्थ, अर्थान्तर, विसन्धि, शब्दच्युत (शब्दहीन), विषम, भिन्नार्थ, अभिप्लुतार्थ और न्यायादपेत। अग्निपुराण में भी 'साहित्य-शास्त्र' का समावेश हुआ है, किन्तु उसमें कई विलक्षणताएँ हैं। दोष भी विलक्षण हैं—उसमें केवल तीन दोष माने गये हैं: वक्तृ, वाचक और वाच्य। दण्डी ने दस दोष माने हैं, भामह ने ग्यारह। दण्डी से भामह के दस दोष तो समान हैं, एक उसने और अधिक दिया। भरत मुनि से दोषां के सम्बन्ध में इस प्रकार तुलना हो सकती है:

भरत—	भामह तथा दण्डी—
१—अर्थहीन	१—अपार्थ १० व्यर्थ
२—एकार्थ	२—एकार्थ
३—गूढ़ार्थ	३—ससंशय
४—अर्थान्तर	४—अपक्रम
५—विसन्धि	५—विसन्धि
६—शब्दच्युत	६—शब्द हीन
७—विषम	७—भिन्नवृत ६ यतिभ्रष्ट दोष
८—भिन्नार्थ	८—असभ्य (ग्राम्य)
९—अभिप्लुतार्थ	
१०—न्यायादपेत	

इस तुलना से विदित होगा कि दण्डी ने प्राय: भरत के ८ दोष सम्मिलित किये हैं। व्यर्थ और यतिभ्रष्ट भरत के अन्य दो

दोषों में समा जा सकते हैं। भामह ने दण्डी से अधिक 'प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त हानि' नामक दोष और बताया है। किन्तु यहाँ तक दोषों की विवेचना वैज्ञानिक प्रणाली पर नहीं था। वामन ने इन सब दोषों को विधिवत् वर्गों में विभाजित कर दिया—उसने पद-दोष, वाक्य-दोष, पदार्थ-दोष और वाक्यार्थ-दोष नाम से दोषों के चार वर्ग बना दिये। मम्मट ने पद, वाक्य और अर्थ के दोषों का विवेचन करते हुए रस-दोषों का एक चौथा वर्ग और माना है। ध्वन्यालोक ने दोषों का उल्लेख दोष नाम से किया है, रस-वर्णन में औचित्य विचार पर ज़ोर दिया है, अतः अनौचित्य दोष के अन्तर्गत माना जायगा। 'अनौचित्यादृते न्यायद्रसभङ्गस्य कारणम्'—ध्वन्यालोक पृष्ठ १४५। इस प्रकार जब दोषों का अनुसन्धान शुरू हुआ तो उनकी गिनती बढ़ती गयी। मम्मट ने ही १६ पद-दोष तथा तथा १३ वाक्य-दोष माने हैं। आगे चल कर काव्य-दोष ७० से अधिक हो गये। पद-दोष १६, वाक्य दोष ३१, अर्थ-दोष २३ और रस-दोष १०। यहाँ पर इन पर इतने विस्तार और सूक्ष्मता से विचार नहीं किया जा सकता। यह तो दोषों की परम्परा और इतिहास है।

दोष की परिभाषा—

सभी आचार्यों ने यह माना है कि काव्य में दोषों का अभाव होना चाहिए। मम्मट की काव्य-परिभाषा प्रसिद्ध है 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" जिसमें काव्य का 'अदोष' होना सबसे पहले आवश्यक बताया गया है। प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य के लिये निर्दोषिता पर ज़ोर दिया है। दोष क्या है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। "मुख्यार्थ हतिर्दोषः" जिसमें मुख्यार्थ अथवा उद्देश्य-प्रतीति का अपकर्ष हो, हानि हो, अथवा घात हो, वही दोष है। फलतः काव्य के अर्थ को उज्ज्वल और स्पष्ट रखने के लिए दोष-ज्ञान आवश्यक है। दोष होने से काव्य अपना अर्थ भली प्रकार प्रकट नहीं कर सकता। कुछ लोगों का विचार रहा कि गुणों की विपरीतता ही दोष है। दोष इस दृष्टि से अभावात्मक हो जाते हैं। पर यह स्पष्ट है कि 'दोष' अपना पृथक अस्तित्व रखते हैं, वे केवल गुण-विपरीत नहीं हैं। किसी कवि ने दोषों के सम्बन्ध में कहा है;

"कहूँ दोष है उचित कर, कहूँ दोष गुण होइ।
कहूँ दोष नहिं गुण नहीं, ऐसा कै तू जोइ"

जहाँ दोष औचित्य पोषक हैं, अथवा जहाँ वे गुण हो जाते हैं, वहाँ उनके दोषत्व का परिहार हो जाता है, अतः दोषों के विवेचन में उनके प्रयोग पर भी ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। दोष गुणों की भाँति नित्य पदार्थ नहीं कि वे सब अवस्थाओं में विद्यमान रहें और एक से रहें। किन्तु दोष से बचना सरल नहीं, किसी न किसी प्रकार का दोष कहीं न कहीं काव्य में मिल ही जायगा। मम्मट 'अदोष' होना काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं, पर सर्वथा 'अदोष'—काव्य बहुधा सम्भव नहीं। और जब 'दोषों' को शास्त्रीय अर्थ में ग्रहण किया जाय, तब तो कैसे भी निस्तार नहीं होता। इस दृष्टि से दोष को केवल उसकी परिभाषा की दृष्टि के मूल-भाव से ही ग्रहण करना उचित है। यदि काव्य के अर्थ और सौन्दर्य में निरन्तर उत्कर्ष होता रहता है, किसी प्रकार का उनमें व्याघात पैदा नहीं होता तो वहाँ दोषान्वेषण के लिए व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं।

दोष के भेद—

दोष के अगणित भेदों की बात ऊपर हो चुकी है। उन सब पर विचार करना अनावश्यक है। वह तो भिखारीदास के काव्य-निर्णय से, संस्कृत के अन्य शास्त्र ग्रंथों से—उदाहरण के लिए मम्मटाँ के काव्य-प्रकाश से अथवा विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण से पढ़ा और समझा जा सकता है। यहाँ तो कुछ प्रमुख दोषों पर विचार कर लेना ही पर्याप्त होगा।

दोषों को प्रधानतः चार भागों में ही बाँटना समुचित होता है: एक—पद-दोष, दूसरा—वाक्य-दोष, तीसरा—अर्थ-दोष, और चौथा—रस-दोष। यह स्वाभाविक और वैज्ञानिक वर्गीकरण माना जा सकता है। पहले दो दोष काव्य के रूप से सम्बन्धित हैं। 'शब्द' अर्थ-ग्रहण के माध्यम की एक इकाई है। शब्द स्वयं रूप-मात्र है, और अकेला कोई अभिप्राय प्रकट नहीं कर सकता। पर शब्द से ही और शब्द से वाक्य तक पहुँचते हैं। वाक्य अर्थ का माध्यम है, और अर्थ 'रस' का है।

पद-दोष वहाँ होता है जहाँ अनुचित और व्याघात करने वाले शब्दों का अथवा पदों का प्रयोग होगया हो। पद-दोष में पहला है 'श्रुति कटुत्व'। शब्द से ही इसका लक्षण स्पष्ट है। जिस

काव्य में कर्णकटु शब्दों का प्रयोग हुआ हो, उसमें कर्णकटु दोष अथवा श्रुति कटुत्व माना जायगा। श्रुति की कटुता तीन प्रकार से सम्भव है, एक तो कठोर अक्षरों के अथवा संयुक्त वर्णों के प्रयोग से, किन्तु यदि इन अक्षरों का प्रयोग परुषावृत्ति के अनुकूल हो तो यह दोष वहाँ नहीं होगा। कारण स्पष्ट है : ऐसे स्थान पर कर्ण-कटुत्व अर्थ के बोध में साधक ही होता है। यथार्थ में हम ऐसे स्थल पर कर्णकटुता का आरोप ही नहीं कर सकते। दूसरे वृत्ति के विरोध में कोई शब्द आ जाय। मधुर उपनागरिका वृत्ति का चरण हो उसमें परुषा-वृत्ति का वर्ण-विन्यास आ जाय तो भी वह श्रुति-कटु विदित होगा। जहाँ किसी शब्द के उच्चारण में भी कठिनाई हो वहाँ भी यह दोष रहता है।

'च्युत-संस्कार' दूसरा दोष है। व्याकरण के विरुद्ध किसी पद का प्रयोग हुआ हो तो वहाँ यही दोष माना जायगा। भाषा का 'संस्कार' व्याकरण से ही होता है। अतः व्याकरण विरुद्ध पद का प्रयोग 'च्युत-संस्कार' कहलायेगा। इसी को 'भाषाहीन' भी कह सकते हैं। उदाहरण के लिए कहीं 'स्थायी' भाव के लिए 'अस्थाई' शब्द का प्रयोग किया जाय तो यह दोष हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि 'स्थायी' का व्रज रूप 'थायी' होगा। थायी का ही अर्थ स्थायी है। असथायी तो अ-स्थायी का भ्रामक अर्थ प्रदान करेगा।

'भाषा-हीन' की परिभाषा हिन्दी-आचार्य यह करते हैं कि जहाँ बिना किसी नियम के ही मात्रा अथवा वर्ण अदल-बदल जायँ या घट-बढ़ जायँ, वहाँ यह दोष होता है, 'कृष्ण' के लिए कान्ह के स्थान पर 'कान' का प्रयोग ऐसा ही दोष है।

तीसरा दोष 'अप्रयुक्त दोष' है। अप्रयुक्त दोष वहाँ होता है जहाँ अप्रचलित शब्द का प्रयोग कर दिया जाय। 'स्पर्श' का अर्थ कोष में 'दान' भी है, किन्तु इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं होता। फिर यदि इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया जाय तो यह दोष होगा। यदि चन्द्रग्रहण के दिन माँगनेवाले 'दान करो, 'दान करो' की जगह 'स्पर्श करो, स्पर्श करो' कहें तो क्या परिणाम निकले।

इसी से मिलते-जुलते कुछ दोष और हैं, यथा 'असमर्थ

'निहतार्थ' 'अप्रतीतार्थ', 'प्रसिद्ध त्याग' आदि; इनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। अप्रयुक्त तो जैसा शब्द से प्रकट होता है 'प्रयोग' के आधार पर है। जो शब्द प्रयोग बाहर हो गया है उसे प्रयोग में लाना उचित नहीं होता। 'अतिथि' के लिए 'गोघ्न' अब अप्रयुक्त हो चुका है। इसका प्रयोग दोष होगा। 'असमर्थ' दोष शब्द की अपनी सामर्थ्य पर निर्भर है। कभी-कभी शब्द आवश्यक अर्थ देने में समर्थ नहीं होते। यहाँ प्रयोग का क्षेत्र नहीं, शब्द की सामर्थ्य देखी जाती है। किसी किसी ने इसी को 'वाग्छल' बताया है और परिभाषा में कहा है कि जहाँ लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे के लिए भी मन दौड़े—जैसे 'मति गाम हरी चुरियाँ खनकैं।' पर इस वाक्य में 'समास' का दोष विशेष है, उतना सामर्थ्य का नहीं। निहतार्थ में शब्दों के ऐसे प्रयोग पर आपत्ति होती है जहाँ उसके कई अर्थ होते हों, पर प्रयोग उसका ऐसे अर्थ में हुआ हो जो प्रसिद्ध न हो। यहाँ पर आने वाला शब्द प्रयोग के बाहर नहीं हुआ, पर उसमें जो दूसरा अर्थ है, जिसके लिए उसका प्रयोग किया गया है वह अप्रसिद्ध है, उससे लोग कम परिचित हैं। उदाहरण के लिए शम्बर का अर्थ जल भी है और यह एक राक्षस का नाम भी है। यह शब्द 'असुर' के नाम के रूप में ही प्रसिद्ध है, जल के रूप में नहीं, किन्तु इसे जल के लिए काम में लाया जाय तो, यह दोष होगा। अप्रयुक्त में तो वह अर्थ प्रयोग के बाहर हो चुका होता है, यहाँ उसका एक अर्थ तो प्रयोग में रहता है, दूसरा कम। इसी से मिलता हुआ 'अप्रतीतार्थ' है। लोक-व्यवहार में शब्द प्रयोग में नहीं आ रहा किन्तु उसका प्रयोग कर दिया जाय। यह शब्द अन्यत्र प्रचलित हो सकता है, जैसे विज्ञान, दर्शन अथवा अन्यत्र कहीं यह पारिभाषिक अथवा विशेषार्थक शब्द हो सकता है, पर लोक-व्यवहार में प्रचलित नहीं। जहाँ ऐसे शब्द का प्रयोग होगा, वहाँ अर्थ की प्रतीति में बाधा होगी ही। यह दोष प्रयोग के सीमित-और-विशेष-क्षेत्र के कारण होता है। उदाहरण के लिए 'आशय' शब्द 'मिथ्या-ज्ञान' के अर्थ में केवल योग-शास्त्र में आता है; साधारण काव्य में यह दोष हो जायगा। 'प्रसिद्ध त्याग' में शब्द अपना प्रसिद्ध अर्थ त्याग देता है, तब प्रयोग में आता है। यह प्रसिद्धि सापेक्षिक होती है, और अन्य किसी शब्द के अर्थ से सम्बन्धित होती है। चिड़ियों के लिए चहकना उपयुक्त शब्द है, प्रसिद्ध है, कूजना मोरों के लिए

उचित है, पर यदि चिड़िया के लिए 'कूजना' कह दिया जाय तो शब्द प्रसिद्ध अर्थ को त्याग कर प्रसङ्ग का अर्थ दे सकेंगे, ऐसे स्थल पर ही यह दोष होगा।

अश्लीलत्व भी एक प्रधान दोष है। यह तीन प्रकार का हो सकता है, १—व्रीड़ा व्यञ्जक, २—घृणा व्यञ्जक और ३—अमङ्गल व्यञ्जक। व्रीड़ा व्यञ्जक अश्लीलता ऐसे शब्दों के प्रयोग से होती है जिनसे लज्जा हो। उदाहरणार्थ कहीं बादलों के लिए 'जीमूत' शब्द का प्रयोग किया गया हो तो व्रीड़ा का भाव उदय होता है। 'घृणा व्यञ्जक' वहाँ होगा जहाँ घृणा होगी 'मिची आँख पिय की निरखि वायु दीन तत्काल' इसमें 'वायु' से अधावायु का भाव झलकने से घृणा होती है। इसी प्रकार कहीं अमङ्गल सूचक शब्द आ जाय तो वहाँ अमङ्गल व्यञ्जक अश्लीलता होती है। हतवृत्त भी ध्यान देने योग्य दोष है। यह दोष वहाँ होता है जहाँ पिङ्गल आदि के नियमों का पालन होते हुए भी छन्द अथवा काव्य के पढ़ने में अथवा सुनने में कुछ खटक प्रतीत हो। यह दोष कभी-कभी कवियों को बहुत परेशान करता है, पिङ्गल की दृष्टि से उन्हें कोई दोष नहीं दीखता किन्तु उन्हें उसके समुचित प्रवाह में अवरोध और कठिनता प्रतीत होती है।

अच्छे कवि को 'अधिक पद' का दोष भी बचाना चाहिए। जहाँ एक शब्द से ही पूर्ण अर्थ प्रतीत हो जाता हो वहाँ उसका अथवा उसके अंश का उल्लेख व्यर्थ है, और दोष है। कहीं पर 'पुष्प पराग' कहा जाय तो दोष होगा, क्योंकि 'पुष्प' शब्द अधिक है। पराग से ही उसका ज्ञान हो जाता है। अधिक पद दोष के समान ही 'अपुष्ट' दोष होता है। इसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जाता है जिनके न होने से भी अर्थ में कोई बाधा नहीं पड़ती। 'अधिक पद' में तो प्रायः वह पद अपने अर्थ के साथ किसी दूसरे पद में विद्यमान रहता है, अपनी अनिवार्यता के कारण, जैसे 'पराग' में 'पुष्प' का 'अर्जुन' में 'पाण्डव' का। किन्तु 'अपुष्ट' में वह इस प्रकार गर्भित नहीं होता, फिर भी अर्थ के लिए आवश्यक नहीं होता। "उदित विपुल नभ मांहि ससि अरी! छोड़ अब मान।" मान छुड़ाने में चन्द्रमा ही सहायक है, 'विपुल नभ' व्यर्थ है। इसी प्रकार कहीं

कोई आवश्यक पद छूट जाने से न्यून पद दोष हो जाता। "राजा तिहारे खड्गते, प्रगट भयो यश फूल।" खड्ग से फूल कैसे पैदा होगा यश में फूल के रूपक के लिए खड्ग को लता मानना होगा। 'लता' के अभाव से दोष आ गया है। इसी प्रकार किसी शब्द की 'पुनरावृत्ति' भी काव्य में शैथिल्य पैदा करती है, 'जो तिय मोमन लै गई, कहाँ गई वह तीय।' यहाँ 'तीय' की पुनरावृत्ति से कोई सौन्दर्य नहीं बढ़ता अत: 'कथितपद' या पुनरुक्ति दोष है।

भग्न-प्रक्रम भी दोष है। इसे तीन प्रकार का माना जा सकता है: एक विधि अनुकूल प्रयोग न होना: विधि से जहाँ शब्द का एक रूप आना आवश्यक हो वहाँ दूसरा प्रयोग किया जाय—"जहाँ मीन तुअ बसत हैं, ताहीं पै किन जात", यहाँ 'जहाँ' के लिए नित्य सम्बन्धी 'तहाँ' का प्रयोग विधि अनुकूल होगा, स्थान का ही बोध यहाँ उचित है, अत: सर्वनाम 'ता' विधि प्रतिकूल है। 'तहाँ क्यों न तू जात' ऐसा चरण ठीक होगा। दूसरा जहाँ यथाक्रम वर्णन नहीं, यह 'अक्रम' दोष भी कहा जाता है। तीसरे जहाँ 'समान वचन' नहीं—"तू हरि की अँखियाँ बसी, कान्ह बसे तुअ नैन" यहाँ 'अँखियाँ' के समान 'नैन' नहीं, या तो दोनों स्थानों पर 'नैन' होना चाहिए, या 'आँख' हो; तभी अर्थ का सौन्दर्य प्रतीत होता है।

उपसंहार—

इस प्रकार इस दोष-विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य में दोष से बचने में सचेत रहना चाहिये। दोषों की संख्या बँधी हुई नहीं हो सकती; जहाँ भी अर्थ-ग्रहण में शब्द के अनुचित अथवा जटिल, व्याकरण विरुद्ध अथवा संदिग्ध वाक्य रचना से, या अर्थ के उत्कर्षापकर्ष या विधि-विहितत्व से, अथवा 'रस' के यथार्थ परिपाक में बाधा या विरोध से काव्य और उसके सौन्दर्य का भली प्रकार हृदयङ्गम न किया जा सके वहाँ दोष होंगे, और ये दोष अगणित हो सकते हैं।

प्रेम-पीर का प्रचारक मलिक मुहम्मद जायसी

जन्म-काल—मलिक मुहम्मद जायसी की जन्म-तिथि का अभी तक ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है। हिन्दी के कुछ अन्य कवियों की भाँति इस विषय में जायसी बिल्कुल मौन तो नहीं हैं। उन्होंने 'आखिरी कलाम' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है—

भा औतार मोर नौ सदी।
तीस बरिस ऊपर कवि बदी॥

किन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। यह कठिनाई इसलिए विशेष बढ़ जाती है कि जायसी की सभी पुस्तकें फारसी लिपि में लिखी हुई मिली हैं, इस से पाठ की ठीक जानकारी नहीं हो सकती। फिर भी उक्त चरण के आधार पर यह अर्थ लगाया जा सकता है कि 'मेरा जन्म नवीं सदी में हुआ, और तीस वर्ष हो जाने पर मैं कवि मान लिया गया'। यहाँ नवीं सदी ९०० हिजरी माननी होगी। इस हिसाब से जायसी का जन्म सन् १४९२ के लगभग ठहरेगा। इस वर्ष में जायसी का जन्म मानने से कई कठिनाइयाँ आती हैं, जैसे कवि ने पद्मावत में लिखा है:—

सन नव सै सत्ताइस अहा।
कथा-अरम्भ-बैन कवि कहा॥

पद्मावत ९२७ हिजरी में आरम्भ हुई। उस समय वे २७ वर्ष के ही रहे होंगे। फिर तीस 'बरिस ऊपर कवि बदी' का अर्थ कैसे लगेगा? अनुमान से यह कहा जा सकता है कि कवि ने ९२७ हिजरी में कविता लिखना आरम्भ किया होगा! और उनकी पहली रचना पद्मावत ही होगी। तीन वर्ष में उन्होंने कवि होने की ख्याति प्राप्ति करली होगी। पद्मावत आरम्भ करके कवि ने छोड़ दिया होगा,

बीच में 'आखिरी कलाम' नाम की पुस्तिका लिखी होगी, क्योंकि 'आखिरी कलाम' में बाबर को बादशाह बतलाया गया है—

बाबर शाह छत्रपति राजा।
राज-पाट उन कहँ बिधि साजा॥

इसकी पुष्टि इसी पुस्तक में दिये हुए इस रचना काल से भी हो जाती है:—

नौ सैं बरस छतीस जो भए।
तब एहि कथा के आखर कहे॥

९३६ हिजरी में 'आखिरी कलाम' लिखा गया। उस समय जायसी ३६ वर्ष के हुए। फिर 'पद्मावत' पूरा किया, क्योंकि पद्मावत में 'शाहे वक्त' उस काल के बादशाह 'शेरशाह' का उल्लेख है:—

सेरसाह देहली-सुलतानू,
चारिउ खंड तपै जस भानू।

❀ ❀ ❀ ❀

जाति सूर औ खांड़े सूरा,
औ बुधि-वंत सबै गुन पूरा।

शेरशाह का शासन काल ९४७ हिजरी से आरम्भ हुआ। अतः पद्मावत शेरशाह के शासन में लिखा गया होगा। उसमें शेरशाह के शौर्य और प्रताप का अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है:—

बरना सूर भूमि पति राजा,
भूमि न भार सहै जिहि साजा।

❀ ❀ ❀ ❀

जो गढ़ नएउ न काहुहि, चलत होइ सो चूर।
जब वह चढ़ै भूमि पति, सेरसाह जग-सूर॥

❀ ❀ ❀ ❀

गऊ सिंह रेंगहिं एक बाटा,
दूनौ पानि पियहिं एक घाटा।

किन्तु यह कठिनाई अब नहीं रही। गम्भीर दृष्टि से पाठ पर

ध्यान देकर विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पद्मावत का यह पाठ 'सन् नवसौ सत्ताइस' नहीं है, सन् नवसौ सैंतालीस है। यह पाठ ही विशेष मान्य प्रतीत होता है, इससे ऊपर जिन कठिनाइयों का उल्लेख किया गया है, वे नहीं रहतीं। ६४७ में पद्मावत लिखा गया, इसी सन् में शेरशाह का राज्य स्थापित हुआ। जायसी का जन्म ६०० हिजरी भी अब ठीक प्रतीत होता है।

किन्तु यहाँ एक बड़ी अड़चन उपस्थित होती है। काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने अपनी याददाश्त में जायसी का मृत्युकाल ४ रजब ६४६ हिजरी दिया है। यदि उसे ठीक मान लिया जाय तो जायसी की मृत्यु ४६ वर्ष की अवस्था में हुई। इस समय शेरशाह को राज्य करते दूसरा वर्ष होगा। दूसरे ही वर्ष में उसका वैसा प्रताप सम्भव नहीं, जैसा जायसी ने लिखा है। और न यही सम्भव है कि इसी वर्ष पद्मावत समाप्त करली हो। इसकी सङ्गति पद्मावत के उपसंहार में वर्णित वृद्धावस्था से तो किसी भी प्रकार नहीं बैठती। पद्मावत के अन्त में जायसी ने कहा है:—

मुहमद बिरिध बैस जो भई।
जोबन हुत, सो अवस्था गई॥
बल जो गएउ कै खीन सरीरू।
दृष्टि गई नैनहिं देइ नीरू॥
दसन गये कै पचा कपोला।
बैन गये अनरुच देइ बोला॥ आदि,

४६ वर्ष की अवस्था में ऐसी दशा किसी भी व्यक्ति की नहीं हो सकती। अतएव जब तक कोई अन्य अत्यन्त प्रमाणिक साक्षी नहीं मिलती, यह मृत्यु समय की विषमता ऐसी ही बनी रहेगी।

निवास-स्थान—इस सम्बन्ध में जायसी ने पद्मावत में लिखा है:—

जायस नगर धरम अस्थानू
तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू

और "आखिरी कलाम" में उल्लेख है कि:—

"जायस नगर मोर अस्थानू
नगर के नाँव आदि उदयानू

तहाँ दिवस दस पहुने आएउ
भा वैराग बहुत सुख पाएउँ"

इन उल्लेखों से यह विदित होता है कि जायसी 'जायस' के रहने वाले थे, उन्होंने वहीं रह कर काव्य-रचना की, किन्तु साथ ही यह भी सूचित होता है कि वे वहाँ कहीं से आकर बसे थे, 'तहाँ आइ' शब्दों से यही अर्थ निकल सकता है। 'आखिरी कलाम' से यह भी प्रकट होता है कि वे वहाँ दस दिन के लिए महमान होकर आये थे, किन्तु वहाँ सत्संग का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वहीं रम गये, उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ, जिससे वे बड़े सुखी हुए। यह सत्संग उन चार मित्रों का हो सकता है जो उन्हें जायस में मिले थे; जिनके साथ रहकर जायसी की वही दशा हुई थी जो अन्य वृक्ष की चन्दन के वृक्षों के पास रहने से होती है:—

"विरिछ होइ जौं चन्दन पासा
चन्दन होइ बेधि तेहि बासा"

यहीं पर उन्हें सूफी फकीरों का संपर्क मिला, और वे उनके शिष्य हो गये। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी २५-२६ की अवस्था तक कहीं और थे, वहाँ से जायस आये और वहीं रम गये। किन्तु जायस में प्रचलित मान्यता के आधार पर शुक्लजी ने कहा है कि जायसी जन्म से ही जायस के थे। उनके चारों मित्रों की जन्म भूमि भी जायस ही थी। यदि यह मत माना जाय तो जायसी के अपने कथनों का अर्थ लाक्षणिक दृष्टि से लगाना होगा। 'तहाँ आइ' और 'तहाँ दिवस दस पहुँने आएउ' का अर्थ करना होगा 'जन्म लिया', कुछ 'काल के लिये जायस में आकर जन्म ग्रहण किया'—'दस दिन के महमान' होना मुहावरों की भाँति माना जा सकता है। प्रश्न केवल यही उठता है कि 'जायसी' यदि जन्म से ही जायस के निवासी नहीं थे तो उन्होंने अपने पहले के निवास-स्थान अथवा जन्म-भूमि का नाम क्यों नहीं दिया? यदि वे जायस के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र पैदा हुए होते तो उसका भी नाम अवश्य देते। किसी अन्य स्थान के नाम का उल्लेख न होने से भी यह माना जा सकता है कि वे जायस के ही रहने वाले थे, वहाँ आकर बसे नहीं थे। इस सम्बन्ध में भी यथार्थतः किसी अन्तिम निश्चय पर पहुँचने

से पूर्व अन्य प्रामाणिक साक्षियों की आवश्यकता है। जायसी की कब्र अमेठी राज्य में बनी हुई है।

जायसी के गुरु—जायसी ने पद्मावत, अखरावट तथा आखिरी कलाम इन तीनों पुस्तकों में अपने गुरुओं के सम्बन्ध में सूचना दी है। उससे यह तो निश्चय विदित होता है कि उनके गुरु निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में थे। निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा दो शाखाओं में बंट गयी थी—एक मानिकपुर-कालपी वाला, दूसरी जायस वाली। कवि ने मानिकपुर कालपी वाली शाखा की परम्परा का कुछ विस्तार से उल्लेख किया है और उसके कितने ही नाम दिये हैं, किन्तु जायस वाली परम्परा के दो-तीन नाम ही दिये हैं। इससे यह अनुमान होना स्वाभाविक ही है कि जायसी मानिकपुर-कालपी वाली परम्परा के शिष्य होंगे। किन्तु कुछ गम्भीर विचार करने पर पता चलता है कि सैयद अशरफ के प्रति उनका विशेष आदर-भाव था। सैयद अशरफ का नाम उन्होंने तीनों ग्रन्थों में लिया है, 'आखिरी कलाम' में केवल इन्हीं का नाम है :—

"मानिक एक पाएउँ उजियारा
सैयद अशरफ पीर पियारा"
जहाँगीर चिस्ती निरमरा,
कुल जग महँ दीपक विधि धरा।
तिन्ह घर हों मुरीद सो पीरू॥

इन्होंने पीर केवल सैयद अशरफ जहाँगीर को ही बताया है। अतः इनके दीक्षा-गुरु सैयद अशरफ ही थे :—

"सैयद अशरफ पीर पियारा
जेइ मोहि पन्थ दीन्ह उजियारा।"

सैयद अशरफ के द्वारा उन्हें पन्थ का ज्ञान हुआ, और इसी नाते वे निजामुद्दीन औलिया की समस्त शिष्य परम्परा में गुरु-भाव रखते थे।

ग्रन्थ-निर्माण—जायसी ने तीन ग्रन्थ बनाये : पद्मावत, अखरावट तथा आखिरी कलाम।

ऊपर इन ग्रन्थों के निर्माण-काल पर कुछ विचार हो चुका है। इन ग्रन्थों में से पद्मावत तथा आखिरी कलाम में ग्रन्थारम्भ की तिथियाँ दी हुई हैं। पद्मावत में लिखा है—

सन नव से सैंतालिस अहा। कथा आरम्भ बैन कवि कहा॥
सन् ९४७ हिजरी (१५३६ ई०)

आखिरी कलाम में दिया है—

नौ सै बरस छत्तीस जो भए। तब एहि कथा के आखर कहे॥

सन् ९३६ हिजरी (१५२८ ई०) में आखिरी कलाम आरम्भ किया गया। किन्तु जैसा ऊपर बताया गया है आखिरी कलाम में तो बाबर का वर्णन है, वह ठीक है, पर पद्मावत में शेरशाह सूर का वर्णन है। 'अखरावट' पद्मावत के बाद लिखा गया, ऐसा विदित होता है।

'आखिरी कलाम' में कवि ने सृष्टि के अन्त और मुहम्मद साहब के महत्व का वर्णन किया है। प्रलय-काल के समय क्या अवस्था होती है, विविध फरिश्ते मैकाइल, जिबराईल, इसराफील अजराइल आदि इस प्रलय में क्या करते हैं, तथा फिर किस प्रकार 'आप गोसाईं' की इच्छा से ये चारों फरिश्ते पुनरुज्जीवन प्राप्त करते हैं, मुहम्मद को ढूंढ़ कर कहा जाता है चलो अपनी उम्मत लेकर चलो। वहाँ न्याय होगा। पापियों को नरक में डाल दिया जायगा। मुहम्मद साहब को बड़ी चिन्ता होती है, वे अपनी उम्मत को पार पहुँचाने के लिए आदम, मूसा, ईसा, इब्राहीम, नूह सभी के पास गये, कोई भी उम्मत को पार पहुँचाने में सहायक नहीं हो सके, सभी अपनी-अपनी परेशानी की शिकायत करने लगे। तब रसूल ने स्वयं 'गोसाईं' से ही प्रार्थना की कि मेरी उम्मत की किसी को चिन्ता नहीं। आप मेरी उम्मत को जो दुःख देना चाहते हैं, वह मुझे दीजिये, मैं उनका दुःख अपने ऊपर लेता हूँ, पर उम्मत को मोक्ष दीजिए। विधि ने कहा—फातिमा को ढूढ़ो, उससे कहो कि वह क्रोध छोड़ दे।

अपने पिता रसूल के दुःख को देख कर फातिमा शान्त हो गई। विधाता ने नबी की बात मान कर समस्त उम्मत को नबी के साथ बहिश्त भेजने की योजना की। रसूल ने समस्त उम्मत की

'ज्यौनार' की। अद्भुत भोजन थे, अमृत पीने को भर-भर कटोरा दिया गया। तब रसूल ने 'गोसाईं' से कहा कि जब तक आपके दर्शन सब को नहीं हो जाते हम बहिश्त में नहीं जायँगे। विधाता ने प्रसन्न होकर दर्शन दिये। तब जिबराइल दूलह मुहम्मद को उनकी समस्त उम्मत की बरात के साथ बहिश्त में ले चला, वहाँ अप्सरायें मिलीं; सोने रूपे के विविध भवन मिले। वहाँ सब आनन्द और सुख था—

तहाँ न मींचु, न नींद दुख, रह न देह में रोग।
सदा अनन्द 'मुहम्मद' सब सुख मानैं भोग॥

'पद्मावत' में एक प्रेम-कहानी है, जिसका पूर्व-भाग लोक-वार्ता है और उत्तर भाग ऐतिहासिक आधार पर है। लोक-वार्ता वाला भाग सिंहलद्वीप की रानी पद्मावती को प्राप्त करने के उद्योग से सम्बन्ध रखता है। चित्तौड़ के राजा रत्नसेन ने तोते से पद्मावती का सौन्दर्य सुना और मुग्ध होकर उसे पाने के लिए सिंहल को चल पड़ा। तोते के सहयोग से, अनेकों कष्ट झेलते हुए भी, अन्त में शिवजी की कृपा पाकर पद्मावती से रत्नसेन का विवाह हुआ। रत्नसेन चित्तौड़ आया। ऐतिहासिक आधार अब यहाँ से आरम्भ होता है। पद्मावती से रुष्ट होकर राघव चेतन अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में गया। उससे पद्मावती के रूप की प्रशंसा की। अलाउद्दीन ने पद्मावती को प्राप्त करने के लिए चित्तौड़ पर चढ़ाई की, तब गोरा बादल ने रक्षा की। वे कौशल से रत्नसेन को अलाउद्दीन के फन्दे से भी छुड़ा लाये थे। रत्नसेन की अनुपस्थिति में देवपाल पद्मावती से प्रेम-याचना करता है; जब रत्नसेन को विदित होता है तो वह देवपाल का सिर काट लेता है, किन्तु देवपाल के आघात से उसके भी प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। पद्मावती और नागमती दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं। इतिहास में देवपाल और राघव चेतन की घटना नहीं मिलती, यह भी कवि ने अपने काव्य की दृष्टि से कल्पित करके लिखी है।

अखरावट—अखरावट लिखने की प्रणाली प्राचीन है। 'कबीर की बारह खड़ी' प्रसिद्ध ही है। इसी परिपाटी में यह अखरावट है। इसमें वर्णमाला के अक्षरों के क्रम से रचना की जाती

है। वर्णमाला का अक्षर पहले देकर फिर उसी अक्षर से आरम्भ कर के छन्द लिखा जाता है। इस प्रणाली में बहुधा धर्म के सिद्धान्तों का ही उल्लेख रहता है। जायसी के अखरावट में भी यही बात है। सृष्टि-रचना और ब्रह्मतत्व के साथ गुरु और धर्म-आचार की व्याख्या इसमें की गयी है।

जायसी के इन सभी ग्रन्थों में पद्मावत का महत्व अद्वितीय है और वे पद्मावत के कारण ही हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर सके हैं।

प्रेम-गाथा-काव्य—पद्मावत प्रेम-गाथा है। प्रेमगाथाओं की हिन्दी में एक लम्बी परम्परा मिलती है, जिसका आरम्भ जायसी के पद्मावत से पूर्व हो चुका था। स्वयं जायसी ने विक्रम और स्वप्नावति; श्री भोज और खंडरावति, मृगावती तथा मधुमालती नामक प्रेम-गाथाओं का नाम स्मरण किया है। संस्कृत तथा प्राकृत में भी प्रेम-कथा की परिपाटी पुराने समय से रही है। नल और दमयन्ती में 'हंस' ने माध्यम बन कर 'नल' को 'दमयन्ती' के लिये वर बनाया था। ऐसी ही और भी कई कहानियाँ हैं। जायसी के उपरान्त तो और भी कितने ही कवि हुए जिन्होंने प्रेम-गाथाएँ लिखीं। ये सभी गाथाएँ अधिकांशतः लोक-वार्ता से ली गयी हैं, प्रचलित जन-कहानियों को साहित्यिक रूप दे दिया गया है। इनमें कभी कहीं ऐतिहासिकता भी आई है तो वह भी बहुत विकृत हो कर, कवि की कल्पना द्वारा रूप बदल कर, जैसे जायसी के पद्मावत में। इन सभी प्रेम-गाथाओं की कथावस्तु का एक ढाँचा एक-सा है। 'एक राजा किसी सुन्दरी पर गुण-श्रवण, चित्र दर्शन या स्वप्नदर्शन से प्रभावित होकर आसक्त हो जाता है। वह उसे पाने के लिए निकल पड़ता है। एक सहायक या मार्ग-दर्शक उसे मिल जाता है। बड़ी कठिनाई से वह अपने अभीष्ट को प्राप्त कर पाता है, प्राणों को अनेकों बार सङ्कट में डाल कर ही वह सफल हो सकता है। युद्ध की भी नौबत आ जाती है। इन प्रेम-कहानियों में कई बातें विशेष द्रष्टव्य हैं—

१—राजकुमार और राजकुमारी में अप्रत्यक्ष प्रेम। यह प्रेम

इस मान्यता को सिद्ध करता है कि वह आकस्मिक नहीं, या तो विधि-विधान है या पूर्व-जन्म के संस्कार से सम्बन्धित है।

२—प्रिय को प्राप्त करने के लिए अपने समस्त वैभव का त्याग और यात्रा। इस यात्रा में अनेकों आकर्षक और रोमाञ्चक घटनाएँ तथा सङ्कट आते हैं, जिससे नायक बाल-बाल बच जाता है।

३—नायक को एक सहायक भी मिल जाता है, यह राज-कुमारी का भेजा हुआ दूत या दूती हो सकता है। कोई पक्षी विशेषतः तोता भी यह काम कर सकता है।

४—नायक के प्रेम की बड़ी कठिन परीक्षायें होती हैं।

५—अन्त में राजकुमारी उसे मिल जाती है।

जायसी के पद्मावत में ये सभी तत्व मिलते हैं, पर उनकी कहानी यहीं नहीं रुक जाती। वह एक विशेष उद्देश्य से आगे भी बढ़ती है। हिन्दी-प्रेम-गाथाओं के लेखक प्रायः सभी सूफी हुए हैं उन्होंने प्रेम का सन्देश ही इन गाथाओं के द्वारा दिया है। प्रेम की प्राप्ति हो जाने पर मानव उद्योग की समाप्ति हो जानी चाहिए, जैसे ब्रह्म की प्राप्ति पर हो जाती है। जायसी केवल प्रेम की प्राप्ति से ही सन्तुष्ट नहीं होते, और न वे वहीं तक मानव की इतिकर्तव्यता मानते हैं। प्रेम को प्राप्त करना भी कठिन है और अत्यन्त कठिन है; वह साधना से मिलता है पर प्रेम प्राप्त हो जाने के उपरान्त, संयोग हो जाने के उपरान्त उसे अक्षुण्ण रखना और विकृत न होने देना भी सरल नहीं। मानव को प्रेम की रक्षा करने में भी पूर्ण समर्थ होना चाहिए, अन्यथा पूर्व उद्योग का कोई महत्व नहीं। प्रेम की प्राप्ति के मार्ग की कठिनाइयाँ तो साधन-पक्ष की कठिनाइयाँ हैं, वे बहुधा आकस्मिक हैं और मार्ग के अज्ञात होने के कारण भी हैं। सिद्धि प्राप्त हो जाने के उपरान्त की कठिनाइयाँ और सङ्कट, ईर्ष्या और षड्यन्त्र से उत्पन्न होती हैं। साधना-मार्ग में दैव की अनुकम्पा भी सहायक हो सकती है, सिद्धि के उपरान्त तो अपने बाहु-बल से ही रक्षा हो सकती है। यह प्रेम का मर्म जायसी ने अपने पद्मावत के दूसरे खण्ड में, अर्थात् पद्मावती को चित्तौर

आने के बाद के प्रसङ्ग में प्रकट किया है। अतः जायसी कथावस्तु में गर्भित उक्त मर्म की दृष्टि से प्रेम-गाथा-काव्य की परम्परा में एक विशिष्ट स्थान बना लेते हैं।

ये सभी प्रेम-गाथायें अवधी-भाषा में लिखी गयी हैं, और बिना अपवाद के दोहा-चौपाई छन्द में हैं। इस दृष्टि से ये गाथायें तुलसीदासजी की रामायण की पूर्वगामिनी हैं।

जैसे जायसी के पद्मावत में वैसे ही अन्य प्रेम गाथाओं में प्रबन्ध-विधि फारसी की मसनवियों से ली गयी है। मसनवियों में आरम्भ में ईश्वर, पैगम्बर उनके चार मित्र तथा तत्कालीन शासक का उल्लेख अवश्य होता है। प्रबन्ध को अध्यायों में अथवा सर्गों में नहीं बाँटा जाता, कथा एक क्रम से चलती रहती है, बीच-बीच में सुविधा के लिये केवल वर्णित-विषय का उल्लेख करते हुए उपशीर्षक दे दिये जाते हैं, जैसे गोरा-बादल-खंड।

प्रेम-गाथा की परम्परा—प्रेम गाथाएँ मूलतः लोकवार्तायें ही हैं, इनका सम्बन्ध नाम मात्र के लिए किसी ऐतिहासिक राजा से कर दिया जाता रहा है। इस रूप में साहित्य में इनका प्रयोग हमें 'पृथ्वीराज-रासो' में भी मिलता है। पृथ्वीराज रासो के 'पद्मावती खण्ड' की कथा में प्रेम गाथा के प्रायः सभी तत्व मिल जाते हैं: पद्मावती पृथ्वीराज का गुण-श्रवण कर उन पर अनुरक्त हो जाती है, अपने तोते को सन्देश लेकर पृथ्वीराज के पास भेजती है। पृथ्वीराज आता है, और पद्मावती को प्राप्त करता है। किन्तु 'रासो' का यह उदाहरण यथार्थ रूप में प्रेम-गाथा की परम्परा में नहीं आता, इसमें प्रेम-गाथाओं की भाँति कोई धार्मिक या आध्यात्मिक लक्ष्य नहीं। यह तो केवल यह सिद्ध करता है कि यह प्रेम-गाथा लोक में अत्यन्त प्रचलित थी, उसी प्रचलित कथा को चन्द ने अपने महाकाव्य में एक छोटा सा स्थान दे दिया, और उसी कथा के विविध रूपान्तरों को आगे चल कर सूफी साधकों ने स्वतन्त्र प्रेम-गाथा का रूप दिया। जायसी ने अपने पूर्व की प्रेम गाथाओं का उल्लेख किया है, जिनमें से 'विक्रम और स्वप्नावती' तथा 'भोज और खण्डरावती' का तो अभी तक पता नहीं लगा, किन्तु मृगावती और मधुमालती मिल चुके हैं। जायसी के बाद भी यह परम्परा निरन्तर कुछ काल

तक रही। इन बाद के प्रेम-काव्यों में नूरमुहम्मद की इन्द्रावती, उसमान की चित्रावली, आलम की माधवानल-कामकन्दला तथा शेख निसार की यूसुफ-जुलेखा विशेष प्रसिद्ध हैं। कुछ हिन्दुओं ने भी इस परम्परा को अपनाया था।

गाथाओं का उद्देश्य—इन प्रेम-गाथाओं का काल बाबर के समय से मुगल-साम्राज्य के अन्त तक का माना जा सकता है। राजपूत काल में चारण-काव्य अथवा वीर-गाथा काव्य लिखे गये। मुसलमानों के राज्य स्थापित होने के उपरान्त से मुगल-साम्राज्य की स्थापना के मध्य का समय प्रायः ज्ञानवादी सन्तों और सिद्धों का युग है। यह ज्ञान भी तत्कालीन ऐतिहासिक प्रवृत्ति के कारण था हिन्दू और मुसलमानों के समन्वय की भावना से। किन्तु निराकार अद्वैत को शुष्क ज्ञान के माध्यम से लोक प्रिय नहीं बनाया जा सका। सूफियों ने तब प्रेम का सन्देश दिया। मुगल-साम्राज्य में जो सहानुभूति पूर्ण वातावरण बाबर के समय से ही आरम्भ हुआ था, उसने सभी को उस समय उदार बना दिया। उसी उदारता का साहित्यिक रूप प्रेम की पीर का सन्देश बन गया। सबके प्रति सहिष्णुता, सबमें समन्वय और सबमें संग्राहक बुद्धि का उदय इस युग की विशेषता थी। ये सभी तत्व जायसी में जितने स्पष्ट हुए हैं और जितनी शक्ति के साथ हुए हैं उतने दूसरी प्रेम-गाथाओं में नहीं हुए। अतः प्रेम-गाथाओं में युग की साधना ही सिद्ध हुई, और उसके प्रतिनिधि हुये जायसी। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जायसी ने यह प्रेम-गाथा क्यों लिखी? साधारणतः निम्नलिखित उद्देश्य कल्पित किये जा सकते हैं—

१—जायसी सूफी फकीर थे, उन्होंने अपने धार्मिक विचारों और अपने दर्शन को प्रकट करने का ही माध्यम पद्मावती को बनाया।

२—जायसी प्रधानतः कवि थे और अपने काव्य का चमत्कार दिखाने के लिये ही उन्होंने यह प्रबन्ध-कल्पना की, इसमें उनका कोई अन्य विशेष उद्देश्य नहीं था।

३ जायसी कवि भी थे और फकीर भी, उन्होंने यह प्रेम-गाथा अपने काव्य-कौशल के साथ धर्म-प्रवृत्ति को उपस्थित करने के

लिए लिखी। उन्होंने दोनों का सामञ्जस्य किया और एक ही ढेले से दो शिकार किये।

पद्मावत का उद्देश्य—जब हम पद्मावत के अन्त में कवि की घोषणा पढ़ते हैं तो ऐसा विदित होता है कि पद्मावत की कल्पना में कवि का मुख्य उद्देश्य धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों को ही प्रस्तुत करना था। जायसी ने पद्मावत में अन्त में कहा है—

एक दूसरे के ऊपर नीचे जो चौदह भुवन हैं वे सभी मनुष्य शरीर में हैं। शरीर चित्तौड़ है, मन राजा है, हृदय सिंघल है, बुद्धि पद्मिनी है, गुरु तोता है, नागमती प्रपञ्च (दुनिया धन्धा) है, राघव शैतान है, अलाउद्दीन माया है' और तब—

प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥

अर्थात् पद्मावत एक रूपक मात्र है, उसमें रत्नसेन पद्मावती की कहानी नहीं है, यथार्थ में मन और बुद्धि की कहानी है। इस दृष्टि से जब हम काव्य का अनुशीलन करते हैं तब हमें विदित होता है कि विस्तार से देखने में यह रूपक पूरा नहीं उतरता। पद्मिनी यदि बुद्धि है तो उसकी माता चम्पावति और पिता कौन हैं? राजा रत्नसेन का उद्योग पद्मावती को प्राप्त करने के लिए घोर साधना के समान है। यह समस्त साधना पद्मावती के लिए है, तो पद्मावती 'ब्रह्म' होनी चाहिए। ब्रह्म प्रेममय है, यह तो ठीक है, पर उसी के पास हीरामन सुआ है—जो गुरु है। फिर पद्मावती को प्रिय की आवश्यकता क्यों प्रतीत होती है? रूपक में उसकी जवानी को क्या स्थान मिलेगा। उसके समीप रहने वाले 'हीरामन' को मृत्यु-माजोरी का भय क्यों? और कैसे माजोरी वहाँ पहुँची? आरम्भ में ही ये ऐसे प्रश्न हैं जिससे पद्मावती की वह रूपक-कल्पना विस्तार में ठीक नहीं बैठती जिसकी ओर जायसी ने संकेत किया है।

किन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि जायसी ने यह प्रेम-कथा केवल कथा के लिए कही। इसका प्रतिवाद स्वयं पद्मावत के उपर्युक्त उल्लेख से हो गया है। यही नहीं, कवि के वर्णनों में स्थान-स्थान पर जो विराट भावना झाँक उठती है—

भौंहें स्याम धनुष जनु ताना।
जासहुँ हेर मार विष वाना॥
उहै धनुक किरसुन पहँ अहा।
उहै धनुक राघो कर गहा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने।
वै सब बान ओही के हने॥

कहीं-कहीं गढ़ों का वर्णन करते समय जो शरीर का रूपक-सा दीख पड़ता है :—

"पौरी नवौ बज्र कै साजी
❀ ❀ ❀
फिरहिं पाँच कोतवार सुभौंरी
❀ ❀ ❀
नव पौरी पर दसवें दुवारा

कहीं-कहीं व्यष्टि की समष्टि में व्यापकता का भाव व्याप्त दीखता है : तुम्हरो जाति जोति सबकाहू।—इन सबसे यह स्पष्ट लक्षित होता है कि जायसी का पद्मावत भले ही अध्यात्म के लिये पूर्ण रूपक न हो, किन्तु उसके कथा विधान में वह अध्यात्म विन्यस्त अवश्य है। उन्होंने कथा और काव्य के सुसंयोजन से जो वस्तु दी है, वह अन्ततः अध्यात्म की भावनाओं से ओत-प्रोत है इस अध्यात्म ने रहस्य का रूप धारण कर लिया है। कवि की विशेषता यह है कि इस अध्यात्म के साथ भी उसने कथा भाग की उपेक्षा नहीं की। इसलिये शुक्लजी ने इसे 'अन्योक्ति' न कह कर 'समासोक्ति' कहा है।

जायसी में रहस्यवाद—पद्मावत की कथा में भी आध्यात्म है, और उसमें आने वाले विविध स्थलों में भी। इन दोनों में अन्तर है। कथा में तो मुमुक्षु आत्मा के उद्योगों का इतिहास है, विविध स्थलों में झाँकने वाला अध्यात्म बार-बार पार्थिव-सृष्टि की सीमाओं का उलङ्घन कर असीम और विराट् की ओर व्यग्र प्रधावित हो उठता है। मुमुक्षु के उद्योगों के रूप में कथा को यों कहा जा सकता है। प्रेम ही वह मूलतत्व है, जो पद्मावती कहा गया है। प्रेम ही ब्रह्म है; ब्रह्म ही प्रेम है, ऐसी मान्यता यहाँ विद्यमान है। जायसी ने इस प्रेम-

तत्व को उसके प्रधान-साधन बुद्धि से तादात्म्य करके उसकी व्याख्या में उसे बुद्धि ही कहा है। यह तादात्म्य उसके प्रेम को भक्ति-लोक की वस्तु नहीं रहने देता, वह मूलतत्व अतः निराकार हो जाता है, किन्तु वियुक्त आत्मा के लिए उसकी सत्ता उतनी ही निश्चित है, जितनी 'पद्मावती' की। रत्नसेन वह वियुक्त आत्मा है, उसे माया ने विमोहित कर लिया है। गुरू के रूप में तोता उसे उस माया से विरक्त कर देता है, और प्रेम की पीर पैदा कर देता है। प्रत्येक आत्मा ईश्वर से वियुक्त होकर भ्रम में पड़ी हुई दिन काटती रहती है, किन्तु जब प्रेम की पीर जागृत हो उठती तो उसे एक पल के लिए चैन नहीं पड़ता।

औ सँवरौं पदमावति रामा। यह जिउ नेवछावर जेहि नामा॥

तथा

आसन लेइ रहा होइ तपा। 'पदमावति पदमावति' जपा॥
मन समाधि तासौं धुनि लागी। जेहि दरसन कारन बैरागी॥
रहा समाइ रूप औ नाऊँ। और न सूझै बार जहँ जाऊँ॥

वह प्रेम के कठिन मार्ग में चल पड़ता है—प्रेम का मार्ग सरल नहीं है—वह तलवार की धार पर चलने के समान है, किन्तु साधक आत्मा रुक नहीं सकती, वह समस्त आपत्तियों को सह कर भी गुरु की सहायता से मार्ग पाती जायगी, और अन्त में उस प्रेममयी बुद्धि को प्राप्त कर लेगी। यह समस्त उद्योग साधनावस्था का उद्योग है। कवि ने साधनावस्था के खतरों का बड़ी विशदता से वर्णन किया है। सिद्धावस्था भी खतरे से रहित नहीं है। बुद्धि और आत्मा के इस मिलन को शैतान कब पसन्द कर सकता है, वह प्रपञ्च अथवा माया को बुला कर षड्यन्त्र ही नहीं करता, बुद्धि को अपहृत करने का भी घोर प्रयास करता है। शैतान से प्रेरित माया तो बुद्धि को मन से पृथक ही कर देना चाहती है; पर इस बुद्धि का शत्रु घर में ही है। यह है प्रपञ्च। यह बुद्धि का प्रतिद्वन्द्वी तत्व है। बुद्धि और प्रपञ्च में यदाकदा संघर्ष भी हो जाता है। सिद्धावस्था में भी सिद्ध को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। इन सब स्थितियों में तो कवि ने कथा के द्वारा रहस्य को स्थूल रूप देकर उस रहस्य की प्राप्ति और उपभोग का मर्म चित्रित किया है। किन्तु कवि में रहस्य के विराट

भाव का जो उदय स्थल-स्थल पर हुआ है; उन स्थलों से यह स्पष्ट विदित होता है कि कवि में एक आन्तरिक तड़प है, और उनकी भावना प्रत्यक्षीकरण के लिए जड़ सीमाओं को लाँघकर रहस्य की ओर बढ़ती है। यह प्रत्यक्षीकरण की चेष्टा स्थूल और मूर्त जगत के उपादानों में से ही रहस्य की विराटता और व्यापकता देख पाती है। पद्मावती को रत्नसेन 'राम' के रूप में देखता है, उसके विरह से पीड़ित है—

जागा विरह तहाँ का गूद माँसु कै हान ?
हौं पुनि साँचा होइ रहा ओहि के रूप समान ॥

विरह का मूल्य—जायसी के मत में 'विरह' बड़ा महत्वपूर्ण साधन है। 'विरह' प्रेम की पीर का ही नाम है। विरह जिसमें उदय हो जाय वह बड़ा भाग्यशाली है। किन्तु विरह क्या प्रत्येक में पैदा हो सकता है : 'तन तन विरह न उपनै सोइ'—पर जब विरह उत्पन्न हो जाता है, तब तो दशा ही कुछ और हो जाती है—'जेहि उपना सो औटि मरि गएऊ, जनम निनार न कबहूँ भएऊ।' यह विरह-पीड़ा ही मुमुक्षु की जागृत अवस्था कहा जा सकती है। किन्तु जायसी ने इस विरह को केवल साधनापक्ष में ही नहीं रखा, साध्यपक्ष में भी उसको उतनी ही उग्रता मिलती है। पद्मावती रत्नसेन के लिये 'राम' है, वह तो विरह से दग्ध होता ही है, पद्मावती भी उससे कम दग्ध नहीं होती। दोनों दिशाओं में अत्यन्त स्पदंनशील विरह, जिसमें पीड़ा की पराकाष्ठा है, जिसकी दग्धता की अनुभूति से जायसी में कभी चन्दन में व्याप्त अग्नि, कभी वज्राग्नि की प्रज्वलित कल्पनाएँ उमड़ने लगती हैं और कह उठता है—

विरह बजागि बीच का कोई, आगि जो छुवै जाइ जरि सोई।
आगि बुझाइ परे जल गाढ़ै, वह न बुझाइ आपु ही बाढ़ै ॥
विरह के आगि सूर जरि काँपा, रातिहि दिवस जरै ओहि तापा।
खिनहि सरग, खिन जाइ पतारा, थिर न रहै एहि आगि अपारा ॥

यह विरह अवश्य ही अलौकिक है, और प्रेम की यथार्थ अंतर्गति है। समुद्र प्रेम है, विरह उसकी लहरें। इसी कारण ये पारस्परिक हैं। किन्तु जायसी ने प्रेम-परिप्लुत रहस्य का अनुभव कर लिया है। उसका रहस्य-वर्णन कल्पना का व्यापार-मात्र नहीं, वह कवि की वैसी

ही आन्तरिक और निश्चित अनुभूति है, जैसी कबीर की हुई थी। कबीर ने उस अनुभूति पर गर्व किया है जायसी ने उसे अत्यन्त दृढ़ता से प्रकट कर दिया है। उनकी दृष्टि बार बार इस स्थूल सृष्टि की मायावी प्राचीरों को पार कर असीम की व्यापक सत्ता के आश्चर्य और विराट् को देखने लगती है। इस शैली से वह वियुक्त जीव में विरह की तड़प पैदा कर देना चाहता है और उन्हें उस रहस्य की ओर उन्मुख कर देना चाहता है।

इस रहस्य के लिए विरह तो साधना की जाग्रतावस्था है, एक प्रवृत्ति है। जायसी ने उस प्रेम साध्य की साधना के मार्गों का भी निर्देश किया है। इस निर्देश में वह साम्प्रदायिक संकीर्णता का शिकार नहीं हुआ। हठयोग के हिन्दू-सिद्धान्तों के अनुसार भी उसने 'गढ़'-शरीर में नौ पौरी, पाँच कुटवारी, तथा 'दसवें' गुप्त द्वार का उल्लेख किया है। सूफी सम्प्रदाय के अनुसार चारों अवस्थाओं तथा चारों मुकामों की भी उपेक्षा नहीं है। सूफियों के अनुसार चार अवस्थायें हैं:—१—शरीअत, २—तरीक़त, ३—हक़ीकत, ४—मारफत। पद्मावत में जायसी ने लिखा है 'चारि बसेरे सों चढ़ै, सत सों उतरै पार"। ये चार बसेरे उपरोक्त चार अवस्थायें भी हो सकती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर की भाँति जायसी पर भी हिन्दू-प्रभाव विशेष था। यह प्रभाव जैसा कुछ विद्वान मानते हैं कबीर के कारण नहीं था। जायसी में ऐसे कोई विशेष संकेत नहीं जिनसे यह माना जा सके कि उन पर कबीर का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव था। रहस्य की भावना और उसकी साधना दोनों ही दृष्टियों से जायसी कबीर से भिन्न मत रखते हैं। जायसी में कबीर की भाँति अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा, उन्हीं प्रभावों के कारण हैं जिन्होंने कबीर को प्रभावित किया था। उसका प्रेम-मार्ग ज्ञान-मार्ग के संशोधन के रूप में ही नहीं, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की सामयिक समस्या के लिये भी है। उन्होंने बताया है कि—

बिरछ एक लागी दुइ डारा, एकहिं तें नाना परकारा।
मातु कै रकत पिता के बिन्दू, उपने दुवौ तुरुक औ हिन्दू॥

यहाँ पर इस कुशल कवि ने एक वृक्ष की दो शाखाओं में से चिदाचिद्विशिष्ट ब्रह्म की मान्यता ही रामानुजाचार्य मत के प्रभाव से नहीं दिखाई, हिन्दू-मुस्लिम की मूल एकता की ओर भी संकेत किया

है। किन्तु इसमें कहीं भी कबीर का सा तीखापान और चोट नहीं है। जायसी में आचार-पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया, 'हृदय' के संस्कार को ही महत्व दिया है। सूफी उदारता के साथ जहाँ उसने हिन्दू-धर्म के अनेक विश्वासों को अपनी रचना में स्थान दिया है, वहाँ मुहम्मद में अखण्ड और अटल अनन्य श्रद्धा भी प्रकट की है। अतः कबीर से जायसी की भावधारा भिन्न ही माननी पड़ेगी। अखरावट में— 'ना-नारद तब राइ पुकारा। एक जुलाहे सौं मैं हारा॥' ये पंक्तियाँ देखकर यह नहीं माना जा सकता कि जायसी ने 'जुलाहे' के द्वारा कबीर का स्मरण किया है। क्योंकि जिस प्रसङ्ग में यह शब्द आया है उसमें जुलाहे का पूरा रूपक दिया गया है। वह जुलाहा—

"प्रेम-तन्तु नित ताना तनई।
जप तप साधि सैकरा भरई॥
दरब गरब सब देइ बिथारी।
गनि साथी सब लेहिं सँभारी॥
पाँच भूत माँडा गनि मलई।
ओहि सौं मोर न एको चलई"॥

जुलाहे के इस वर्णन में ऐसी कोई भी बात नहीं है जो 'कबीर' की ओर संकेत करे।

उस समय की समस्त ज्ञान-धारा की पृष्ठ भूमि में सिद्ध-नाथ-पन्थ के विचारों का बड़ा प्राबल्य था। लोक-मत को सिद्धों के चमत्कारों ने ग्रस लिया था। अद्भुत वार्त्ताओं के द्वारा इस पन्थ के प्रचार का कार्य बड़ी सुगमता से होता था। इनके 'अलख' के साथ अद्भुत ताना-बाना तन गया था। कबीर की भाव धारा की भी यही प्रधान, और महत्वपूर्ण पृष्ठ भूमि थी, और जायसी की धारा की भी। जायसी की लोक-वार्त्ता की ओर आकर्षण, और उसके लिए सिंहल द्वीप की पद्मिनी की कथा का चयन नाथ-पन्थ के प्रभाव के स्पष्ट प्रमाण हैं। सिंहल द्वीप गोरखपन्थियों के लिए एक सिद्ध पीठ है। नाथ-पन्थ बौद्धों की महायान शाखा की योगमार्गी परम्परा में उदय हुआ था। इसे गोरखनाथ ने शैव रूप दिया। इस मत के अनुसार पूर्ण सिद्धि के लिए साधक को सिंहल के सिद्ध-पीठ में जाकर तप करना पड़ता है। वहाँ शिव स्वयं परीक्षा लेकर सिद्धि प्रदान करदे

हैं। यहाँ योगभ्रष्ट करने के लिए अनेक पद्मिनी स्त्रियाँ उस सिद्ध को आकर घेरती हैं। यहीं से जायसी ने पद्मिनी अथवा पद्मावती को लिया है तथा यहीं से उसने 'शिव' के द्वारा रत्नसेन की सहायता दिलाने का भाव पाया है, और साधना अवस्था की कठिनाई तथा प्रलोभन का निर्देश किया है। समष्टि में यह कहा जा सकता है कि कबीर से भी अधिक जायसी जन-मन के निकट पहुँचे हुए थे। लोक-समूह के लिए कहानी का माध्यम सबसे आकर्षक होता है। कहानी में भी अद्भुत चमत्कारक घटनाओं का समावेश, लोक में ही प्रचलित धर्म-विश्वासों का अवलम्ब तथा बिल्कुल बोलचाल की भाषा होना ऐसे तत्व हैं जो जायसी में मिलते हैं, और जायसी को लोक-कवि बना देते हैं।

प्रबन्ध-कल्पना और कौशल—लोक कवि होते हुए भी जायसी में साहित्यिक महत्व कम नहीं मिलता। लोक-तत्व तथा साहित्यिक-तत्व दोनों के संयोग के कारण ही जायसी अद्वितीय हैं। साहित्यिक महत्व का अर्थ पाण्डित्य से नहीं। जिस पाण्डित्य के दर्शन हमें आगे चलकर तुलसी की रामायण में मिलते हैं, वह जायसी में नहीं, पर कवि की सहज प्रतिभा उनमें विद्यमान है।

जायसी के पद्मावत में कवि के प्रबन्ध-कौशल का अच्छा उपयोग है। भारतीय साहित्य-शास्त्र ने महाकाव्यों में आधिकारिक और प्रासंगिक वस्तुओं का अन्तर माना है। आधिकारिक वस्तु इस काव्य में पद्मावती और रत्नसेन की है। यदि इस सम्पूर्ण आधिकारिक वस्तु को एक सूत्र माने तो इसमें पद्मावती से रत्नसेन का विवाह होना काव्य की चरमावस्था मानी जायगी। आरम्भ से इस विवाह तक कथा में 'आरोह' माना जायगा, उसके उपरान्त 'अवरोह' आरम्भ होगा। जो पद्मावति और नागमती के सती हो जाने पर पूर्ण अवसान प्राप्त कर लेगा। किन्तु इस मान्यता में कई बाधायें हैं। पहली बाधा तो यह है कि कहानी के आरम्भ से ही पद्मावती को प्राप्त करना ही कथा-प्रवाह का ध्येय है। अतः नाटकीय संधियों के अनुसार पद्मावती की उपलब्धि में निर्वहण सन्धि से कथा की पूर्णता और समाप्ति हो जाती है। आगे की कथा का 'बीज' पूर्व की कथा के बीज से बिल्कुल भिन्न है। ऐसी दशा में ये दो कथायें

हो जाती हैं, और दो ही मानी जानी चाहिए। दूसरी बाधा यह पड़ती है कि 'चरम' के उपरान्त 'अवरोह' से 'अवसान' तक बहुत समय लग जाता है, और गति में भी आवश्यक तीव्रता नहीं रहती। यह कहा जा सकता है कि महाकाव्य में किसी भी पात्र का आदि से अन्त तक वर्णन रहता है। पद्मावति के जन्म से उसके अन्त तक की कथा का एक ही सूत्र मानना चाहिये।

इस युक्ति में विशेष बल नहीं। महाकाव्य के लिये किसी पात्र का आरम्भ से अन्त तक जीवन-वृत्त देना आवश्यक नहीं जितना कथा की गति के उद्देश्य की एकता। एकता में परिवर्तन होते ही कथा बदल जायगी, और वह दूसरी कहानी मानी जायगी। अतः 'पद्मावत' को दो कहानियों का यह काव्य मानना चाहिए। पहले कथा-भाग का चरम रत्नसेन को सूली दिये जाने पर पहुँचता है, दूसरे कथा-भाग का चरम गोरा-बादल युद्ध के उपरान्त राजा रत्नसेन के मुक्त हो जाने के स्थल पर है। इस आधिकारिक वस्तु की सहायता के लिये कई प्रासङ्गिक वस्तुओं का भी संयोजन किया गया है। कोई भी प्रासङ्गिक वस्तु आधिकारिक वस्तु के समानान्तर नहीं चलती, वरन छोटी-छोटी घटनाओं की भाँति मूल-कथा के तारतम्य में आकर कथा को उत्तेजित और अग्रसर कर देती हैं। ऐसी प्रासंगिक वस्तुयें हैं--हीरामान तोता, २--राघव चेतन, ३--गोरा-बादल का प्रसंग, ४—देवपाल-दूती सम्वाद। प्रासंगिक वस्तुयें ऐसी होनी चाहिए जो आधिकारिक वस्तु की गति में सहायता पहुँचा सकें।

इसमें जायसी पूर्ण पटु हैं। ये सभी वस्तुएँ एक दूसरे से ताने बाने की भाँति गुम्फित हैं, और प्रबन्ध की व्यवस्था के साथ उत्कृष्ट रूप प्रदान करती हैं। हाँ, जैसा ऊपर कहा जा चुका है एक ही काव्य में कथा के दो उद्देश्य समुचित नहीं लगते। आचार्य शुक्लजी ने पद्मावत महाकाव्य का महाकार्य सती होना बतलाया है, और समस्त कथा में एक ही उद्देश्य और एक ही सूत्र माना है। यह कहा जा सकता है कि जायसी का यह समस्त महाकाव्य दो उद्देश्यों को एक सूत्र में बाँध देता है, यथार्थ में पहला उद्देश्य दूसरे का आधार है। पद्मावती की प्राप्ति उसके सती होने के पूर्व की आवश्यकता है

अतः एक दूसरे के 'पूर्व' और 'उत्तर' की व्यवस्था में बँधकर महाकाव्य को विशदता और पूर्णता प्रदान करते हैं।

अलङ्कार-विधान—जायसी के इस महाकाव्य में एक नहीं अनेक अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। अलङ्कार काव्य के सहज सहायक हैं। जायसी ने उन्हें यथार्थतः काव्य के सहज सहायक के रूप में ही लिया है। अलंकार सम्प्रदाय के अनुसार अलंकारिता में ही काव्य का गौरव जायसी नहीं मानते। हाँ, जब उनके हृदय में उदय होने वाली भावानुभूति प्रकट होना चाहती है, पर साधारण शब्दावली असमर्थ रहती है, तब कवि अलंकारों का उपयोग निःसंकोच और बिना रुके कर डालता है। इस प्रकार के अलंकारों का कवि ने विशेष प्रयोग किया है। स्थूल जगत की मूर्त सीमायें जब उसके मनः लोक में पारदर्शी हो जाती हैं और उसमें से उसके अन्तर में स्थूल और मूर्त से परे विराट् और भव्य की अनुभूति झिलमिलाने लगती है तो वह बिना अलंकारों के अपना काम नहीं चला सकता। उसने स्थूल और सूक्ष्म सौन्दर्य के चित्रण के लिये भी अलंकारों का अवलम्ब लिया है। समस्त अलंकार विधान स्वभावतः ही बहुधा रसानुकूल हुआ है। किन्तु कहीं उस अलंकार विधान से किसी परोक्ष का अथवा अप्रस्तुत का रूप भी स्फुट हो पड़ता है। पद्मावति का नखशिख वर्णन करते हुए हीरामन कहता है:—

"दसन चौक बैठे जनु हीरा।
औ बिच-बिच रँग स्याम गँभीरा॥
जस भादौं निसि दामिनी दीसी।
चमकि उठे तस बनी बतीसी॥
वह सुजोति हीरा उपराहीं।
हीरा-जोति सो तेहि परछाहीं॥

यहाँ कवि ने पहले तो दाँतों को हीरा बतलाया, फिर दाँतों के प्रकाश को भादों निशि में दामिनी की चमक के तुल्य दिखाया, किन्तु उसकी कल्पना अथवा अनुभूति अब इस स्थूल से बंधी नहीं रह सकती। हीरा से विद्युत तक पहुँचते ही, उसे अनुभव हुआ कि दाँत हीरा जैसे लगते तो हैं, पर यथार्थ में जिस ज्योति से दाँतों का निर्माण हुआ है, उसके समक्ष तो हीरा का प्रकाश परछाँई ही

लगता है। अब उसकी अनुभूति में विराट उतर आया है, और वह कहने लगता है :

जेहि दिन दसन जोति निरमई
बहुतै जोति जोति ओहि भई
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती....आदि।

कवि की इस विराट् अनुभूति का एक सहज क्रम है, पहले अत्यन्त पार्थिव उपमान हो आता है, उस उपमान से कल्पना प्रकृति के मूर्त व्यापारों को उपमान की भांति ग्रहण करती है। यहाँ से वह प्रकृति पारदर्शी हो जाती है और कवि को विराट् की अनुभूति हो उठी है। रूप वर्णन और विरह वर्णन में जायसी में बहुधा यही प्रणाली मिलती है। इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक अथवा रूपकातिशयोक्ति जैसे सादृश्यमूलक अलंकारों का कवि संयोजन करता चला जाता है। यह संयोजन रस के अनुकूल हुआ है। उपर्युक्त उदाहरण में ही हीरामन पद्मावती के रूप के प्रति केवल रति या आकर्षण का ही भाव उत्पन्न नहीं करना चाहता, वह साधारणत: मिलने वाले उत्कृष्ट सौन्दर्य से भी अद्भुत इस सौन्दर्य को चित्रित करना चाहता है। फलत: सौन्दर्य में मार्दव और माधुर्य तो स्थूल उपमानों से लाया गया है, किन्तु उस सौन्दर्य का आवाक् तेज भी उसके साथ साथ प्रकट कर दिया है। ऐसा विधान किसी शास्त्रीय परिपाटी के ज्ञान के आधार पर नहीं किया गया, सौन्दर्य के सहज रूपदर्शन के लिए कवि के समक्ष जो उपमान यथार्थ माध्यम बन कर आये उन्हें ही उसने ले लिया। अलंकारों में इस स्वाभाविकता को व्याप्त रखते हुए भी जायसी ने एकानेक चमत्कारक अलंकारों का बड़ा ही चमत्कारक और सुन्दर संयोजन किया है। 'विषादन' अलंकार का यह प्रयोग है–गहे बीन मकु रैन बिहाई, ससि बाहन तह रहै ओनाई' विरहिणी को रात नहीं कटती, सोचती है वीणा बजा कर मन बहलाया जाय तो रात अच्छी कट जायगी। किन्तु परिणाम उलटा हुआ। चन्द्र-वाहन मृग वीणा का मधुर राग सुनने को ठहर गये। रात और बड़ी होगयी। विषादन के द्वारा किस प्रकार भाव-चमत्कार उपस्थित हुआ है। तब द्वितीय पर्यायोक्ति के द्वारा इस भाव को और भी उत्कर्ष दे दिया है:—

पुनि धनि सिंध उरे है लागै । ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै ॥

मृग को भगाने के लिये सिंह का चित्र खींचना ही अब एक साधन था ।

मुद्रा अलंकार का उदाहरण लीजिये:—

धौरी पंडुक कह पिउ नाउँ । जौं चित रोखन दूसर ठाऊँ ॥
जाहि बया होइ पिउ कंठ लवा । करे मेराव सोइ गौरवा ॥

इसमें विरह की अवस्था और मिलन की कामना के भाव के साथ धौरी, पंडुक, चित, रोख, बया, कंठ, लवा, गौरवा आदि पक्षियों का वर्णन भी आगया है ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी का अलंकार-संयोजन विलक्षण और विविध तथा मनोरम है । हाँ, कुछ बातें कवि को इतनी मोहक लगी हैं कि उसने बार बार उल्लेख किया है । आकाश, विद्युत, चन्द्र, सूर्य, राहु, और ताराओं का वर्णन कवि को जहाँ भी अवसर मिला है, किया है । धनुष और बाण भी कवि को प्रिय हैं । राम और रावण का उल्लेख भी कवि ने कई बार अलंकार की दृष्टि से किया है । इन सब संयोजनों में प्राधान्य तो अवश्य ही भारतीय प्रणाली का है, फिर भी फारसी की मान्यताएँ भी जहाँ तहाँ बिखरी हुई हैं, और वे भारतीय सौन्दर्य अथवा कला-शील में बेमेल लगने लगती हैं । जैसे रक्त और मांस का वर्णन । हथेली का वर्णन यों है ।

हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा ।
रुधिर भरी अंगुरी तेहि साथा ॥

हृदय निकाल कर हाथ पर रख लेने तक तो गनीमत है । इससे तो अन्तर और बाहर का ऐक्य तथा चारित्रिक उच्चता प्रतीत हो जाती है । पर रुधिर से पूर्ण उँगलियाँ हमें सौन्दर्य का बोध नहीं करातीं, वीभत्स भाव का उदय कर देती हैं ! इस रक्त का उल्लेख कवि ने कई बार किया है, और वह उसे प्रिय प्रतीत होता है ।

फिर भी जायसी महान कवि है । उसमें कवि के समस्त सहज गुण विद्यमान हैं । उसने सामयिक समस्या के लिये प्रेम की पीर की देन दी । उस पीर को उसने शक्तिशाली महाकाव्य के द्वारा उपस्थित किया । वह अमर कवि है ।

जायसी पर कबीर का प्रभाव—

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जायसी कबीर के पश्चात् हुए, अतः यह संभव माना जा सकता है, कि उन पर कबीर का प्रभाव पड़ा हो, और वे कबीर को मानते भी हों। इस सम्बन्ध में यों हमें 'कबीर' का सीधा नामोल्लेख नहीं मिलता। 'अखरावट' में एक स्थान पर 'जुलाहा' शब्द आया है। इस से कुछ विद्वानों ने यह माना है कि जायसी यहाँ 'कबीर' की ओर संकेत कर रहा है। जैसे पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में लिखा है:—

'यद्यपि कबीरदास की और उनकी प्रवृत्ति में बहुत भेद था—कबीर विधि-विरोधी थे और वे विधि पर आस्था रखने वाले; कबीर लोक-व्यवस्था का तिरस्कार करने वाले थे और वे सम्मान करने वाले—पर कबीर को वे बड़ा साधक मानते थे, जैसा कि इन चौपाइयों से प्रकट होता है—

ना-नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे सौं मैं हारा॥
प्रेम-तन्तु निति ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई॥"

किन्तु किंचित विचार से यह स्पष्ट हो जायगा कि इस उल्लेख में 'कबीर' की ओर संकेत नहीं हो सकता। एक तो 'कबीर' को कबीर नाम से जायसी ने क्यों नहीं लिखा—तीनों ग्रन्थों में कहीं भी किसी प्रसङ्ग में वे कबीर का उल्लेख कर सकते थे। ऊपर के उल्लेख से यदि 'कबीर' को ही ग्रहण किया जाय तो यह मानना पड़ेगा, वे अकेले कबीर को ही सबसे श्रेष्ठ साधक मानते थे। जिसके सम्बन्ध में जायसी के हृदय में इतना आदर हो, उसी का उल्लेख कहीं भी वे नाम लेकर न करें, यह बात समझ में नहीं आती। दूसरे, जिस प्रसङ्ग में जुलाहे का उल्लेख हुआ है, वह भी कबीर की ओर संकेत करता प्रतीत नहीं होता। कवि ने उस व्यक्ति की परिभाषा दी है जिस पर शैतान का प्रभाव नहीं पड़ सकता, जिससे वह सदा हारा है। उस व्यक्ति को जुलाहे के सांगोपांग रूपक से उन्होंने प्रकट किया है :—

ना-नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे सौं मैं हारा॥
प्रेम-तन्तु नित ताना तनई। जप-तप साधि सैकरा भरई॥
दरब गरब सब देई बिसारी। गनि साथी सब लेहिं सँभारी॥

पाँच भूत मांड़ी गनि मलई। ओहि सौं मोर न एकौ चलई ॥
विधि कहँ सँवरि साज सो साजै। लेइ-लेइ नावँ कूँच सौं मांजै ॥
मन मुर्री देइ सब अंग मोरै। तन सो बिनै, दोउ कर जोरै ॥
सूत सूत सो कया मँजाई। सीझा काम बिनत सिधि पाई ॥

इसी रूपक को आगे बढ़ाता हुआ कवि कहता है :—

'मनसौं देइ कढ़नी दुई गाढ़ी। गाढ़े छीर रहै होइ साढ़ी ॥
ना ओहि लेखे राति न दिना। कर गह बैठि साट सो बिना ॥
खरिका लाइ करै तन घीसू। नियर न होइ, डरै इबलीसू ॥
भरै सांस जब नावै नरी। निसरै छूँछी, पैठै भरा ॥
लाइ-लाइ कै नरी चढ़ाई। इललिलाह कै ढारि चलाई ॥
चित डोलै नहिं खूटो टरई। पल-पल पेखि आग अनुसरई ॥
सीधे मारग पहुँचै जाई। जो एहि भाँत करै सिधि पाई ॥

अत: जिस जुलाहे का उल्लेख है वह रूपक के आधार पर कोई भी साधक हो सकता है। विशेषत: कबीर के लिए इस समस्त उद्धरण में कोई भी संकेत नहीं है। 'प्रेम-तन्तु का ताना' तो और भी विपरीत संकेत करता है। कबीर का सिद्धान्त प्रेम का सिद्धान्त नहीं है; ज्ञानवादी कबीर को प्रेमवादी जायसी क्यों लिखते ? यह समस्त विवरण प्रेम की पीर के साधक का है, ज्ञान के साधक का नहीं।

जायसी सूफी थे, और सूफी सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है, कबीर पर सूफियों का प्रभाव मात्र था। इस दृष्टि से देखने पर जायसी और कबीर में कहीं भाव-साम्य भी विशेष नहीं मिलता। सूफी होने के साथ-साथ मुसलमान धर्म में जायसी की भारी आस्था थी। निस्संदेह उन्होंने हिन्दू और मुसलमान को एक ही बूँद से तो उत्पन्न माना है—

मातु के रकत पिता के बिंदू, उपजे दुवौ तुरुक औ हिंदू।

इस प्रकार हिन्दू मुसलमानों के ऐक्य की ओर हलका संकेत भी किया है। इसी प्रकार उसने एक स्थान पर 'गीता' की भाँति यह भी माना है कि—

'विधिना के मारग है ते-ते। सरग-नखत तन-रोंवाँ जेते।
जेइ हेरा तेइ तहँवै पावा, भा सन्तोष, समुझि मन गावा।'

जायसी का यह मौलिक शोध है। इसके रहते हुए भी उन्होंने मुसलमानों के धर्म को सब से श्रेष्ठ कहा है :—

'तेहि महँ पंथ कहौं भल गाई, जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई।
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा, है निरमल कबिलास बसेरा।"

जायसी में हिन्दुओं के प्रति उदार भावों की कमी नहीं थी, उन्होंने हिन्दुओं के प्रचलित ज्ञान को ग्रहण कर अपने काव्य में यथामत आदरपूर्वक स्थान दिया है, पर कबीर में मिलने वाला भाव जायसी में कहीं नहीं मिलता। जो साम्य कहीं प्रतीत भी होता है वह कबीर से सीधा नहीं आया। वह उस लोक-धारा से ही लिया गया है जिससे स्वयं कबीर ने लिया था। अतः जायसी ने न तो 'कबीर' का कहीं किसी रूप में स्मरण ही किया है, न कबीर के सीधे प्रभाव की कोई साक्षी ही उनके काव्य में कहीं मिलती है। सामयिक स्थिति का स्वतन्त्र प्रभाव जायसी पर पड़ा, ज्ञानवादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया भी हुई और उन्होंने लोक से सामग्री लेकर उस समय की समस्या को हल करने के लिए अपना 'प्रेम की पीर' का हल उपस्थित किया।

'सूरदास के नयन'

भारतीय कला में आनुपातिक साम्य (proportionate symmetry) का उतना महत्व नहीं जितना आन्तरिक सौन्दर्य (Internal grace) का। कला की वस्तु में भाव का जो रूप विशेष आकर्षक होता है वही उसके आयास-विन्यास का ध्यान बिना रखे प्रकट किया जाता है। संसार के सौन्दर्यानुशीलन से यह बात स्पष्ट विदित होगी। रूप-संगीत (formal rhythm) में सौन्दर्य तभी आता है जब उसका आधार-पट विरूप और विकृत हो। उसकी मधुरता का भाव क्या कभी सौन्दर्यशील हो सकता था यदि नीलाकाश में पलपल परिवर्तनशील रंग और प्रकाश उसमें एक नवोन्मेष न भरदेता! यदि सभी वृक्षों में हर काल हर टहनी और पत्ते के स्थान पर गुलाब, अथवा कमल ही उगता तो उसे हम सुन्दर कह सकते, इसमें सन्देह है! भारतीय द्रष्टा मनुष्य की आकृति और उसकी सुन्दरता देखते हैं, किन्तु जब वे आत्मिक सौन्दर्य को देखते हैं तो आकृति की गठन और रूप-रेखा का सौन्दर्य उनके सामने विकृति में परिवर्तित हो जाता है! वे उस भाव के विशेष तत्वों को सूक्ष्मता और पूर्णता से अभिव्यक्त करने में लग जाते हैं, जिससे पारिधेय तत्व मन्द हो जाते हैं।

भारतीय कला के इस स्वभाव का रूप इस उदाहरण से भली भाँति समझा जा सकता है। द्रोणाचार्यजी पाण्डव तथा कौरवों की परीक्षा लेने वन में गये। एक चिड़िया एक टहनी पर रखदी गयी। पाण्डवों में से एक धनुष संधान कर आगे बढ़ा। आचार्य ने पूछा—तुम चिड़िया की आँख, उसके पर, पेड़ और हमें देखते हो। उत्तर मिला—हाँ! उसे हट जाने के लिए कहा गया। सबके अनुत्तीर्ण हो जाने पर अर्जुन आगे बढ़े। उनसे भी यही प्रश्न पूछा गया। अर्जुन

ने कहा—मैं आँख की उस पुतली के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता। न पत्तों का धब्बा, न वृक्ष, न पास खड़े आचार्य। यही अभीष्ट आँख दिखायी देती है—और इस एकाग्रदृष्टि से उस छोटी पुतल का आकार और रूप अवश्य वर्द्धित हो गया होगा।—सूरदासजी के 'नयन' में भी इसी तूलिका से रंग भरा गया है। उनके नयनों में वे सारे लक्षण आ जाते हैं जो मनुष्य में हैं। उनके नेत्र अपनी कायिक-सीमा का अनुलंघन कर मानव स्वभाव के वर्ग में वर्णित हो गये हैं। सूरदास जी के नयनों में कमल का सा सौन्दर्य नहीं, उनमें मछली, खंजन, मृग जैसे उपमानों को अगतिक (Static) समझा नहीं। सौन्दर्य में जो चमत्कारों में विद्युत्-स्फूर्ति उत्पन्न करने वाली महागति है, उसी गत्यात्मकशक्ति (Dynamic force) से सूरदास के नेत्रों का सृजन हुआ है।

इसलिए नेत्रों का अस्तित्व ही शरीर में एक पृथक आकर्षण बन गया है। नेत्र हैं, उनके साथ मन है, और उन नेत्रों की करतूतों का देखने वाला—उन पर खीजने और झींकने वाला भी कोई है—उसका नाम गोपी रख सकते हैं। फिर एक ओर, वह है कृष्ण। 'नयन' का वास्तविक रूप इस चतुर्विध व्यंग्य से ही समझा जा सकता है। नयन के सम्बन्ध में कवि का दृष्टिकोण अर्द्धविषयीपरक (Subjective) नहीं, विषयपरक (Objective) हो गया है। मन (Semi-subjective) है, इसलिए नहीं कि उसमें विषयपरक (Objective) तत्व आ गया है, वस्तुतः मन में विषयपरक (Objective) तत्व नहीं आ पाया। वह अर्द्ध विषयीपरक (Semi-subjective) विषयीपरक इसलिए है कि (subjective) तत्वों में से स्वानुभूति के तत्व की 'मन' में कमी है।

मन ने नेत्रों को ठगा है—सूरदासजी कहते हैं:—

'मन के भेद नैन गये माई'
सुनहु सखी मनके ढङ्ग ऐसे ऐसी बुद्धि उपाई
'सूर' श्याम लोचन वश कीन्हे रूप ठगोरी लाई

फिर—'मन ते ये अति ढीट भये।
वह तो आइ बोलने कबहूँ ये जु गए सु गए।

और भी:—

'नैना भये बजाइ गुलाम
मन बेच्यो लै वस्तु हमारी सुनहु सखी ये काम।

इन अवतरणों में मन और नेत्रों के सम्बन्ध की कुछ मर्यादा है। मन भेद डालने वाला है, उसने नयनों को श्याम को बेच दिया है, अथवा उनके अधीन कर दिया है। 'नयन' और 'मन' के अन्वयों में अन्तर है। नेत्र एक बार चले गये, मन उन्हें लेगया। नेत्रों को कवि मानता है कि उनका स्वभाव हठी है, वे एक बार जहाँ लग गये फिर वे लौटना नहीं जानते। किन्तु उनमें स्वगति तथा स्वानुभूति नहीं। विषयपरकता (Objective) विषयपरक रूप में ही नेत्र ऐसे हो सकते हैं। किन्तु इनकी (Objectvity) पदार्थों की विषयपरकता (Objectivity) से बिल्कुल भिन्न है। पदार्थों की तरह इनमें गति और अनुभूति नहीं, किन्तु चेतना है। हाँ, मूर्त सौन्दर्य का इनमें अभाव है, और यही एक बात है जो सूरदास के नयनों को विशेषत: विषयपरक वर्ग में रखती है। मन में गति भी है और चेतना भी, मूर्त-सौन्दर्य नहीं, इस दृष्टि से वह विषयपरक (Objecive) नहीं-किन्तु विषयीपरकता (Subjectivity) की कुछ झलक लिये हुए है गति और चेतना के कारण, हाँ स्वानुभूति का अभाव इसे पूर्ण विषयीपरक (Subjective) होने से रोकता है। वास्तव में विषयी-परकता और विषयपरकता की दृष्टि से हम सूरदास की वस्तु नहीं देख सकते। हाँ, इससे इतना समझ सकते हैं कि एक नया दृष्टिकोण सूरदास ने उपस्थित किया है, जिसका श्रेणी-विभाजन समालोचना-शास्त्र में अभी अपेक्षित है।

सूरदास का यह पद देखने योग्य है—

'नैन भये हरि ही के री।
जब ते गये फेर नहिं चितये ऐसे गुण इन केरी ॥१॥
और सुनो उनके गुण सजनी सोऊ तुमहिं सुनाऊँरी।
मोसों कहत तुहू नहि आवै सुनत अचंभो पाऊँरी ॥२॥
मन भयो ढीट इनहि के कीन्हे, ऐसे लोन हमारी री।
सूरदास इनहि पत्याने आखिर बड़े निकामी री ॥३॥

नेत्र कृष्ण के होगये, मन भी हो गया, नेत्रों में और मन में उनकी छवि भी समा गयी❀ किन्तु—

आत्म-साक्षात् नहीं हुआ। यही अभाव सारी पीड़ा का मूल है—इसमें उस चतुष्टय का स्पष्ट आभास मिलता है–नैन हैं ही, हरि के वे हो ही गये हैं, मन भया ढीठ,–मन का भी एक पृथक् अस्तित्व है—और फिर 'मोसों कहत तुहू नहिं आवे'—में 'मो' वही गोपी है। यह चतुष्टय तो ऐसा है जिसका कुछ न कुछ रूप सूरदास के काव्य में प्रकट होता है। पाँचवां व्यक्ति और है, और वह सखी है अथवा उद्धव है—सखी का समाहार गोपी में ही हो सकता है, इधर उद्धव का कृष्ण में। यह समाहार की समस्या एक पृथक समस्या है। मनोविज्ञान की दृष्टि से शिकायत करने वाली और शिकायत सुनने वाला एक हो गयी है, उसी प्रकार शिकायत के शिकारों का समाहार हो गया है। इस चतुष्टय में 'गोपी' का रूप समझना आवश्यक है। 'नयन' और 'गोपी' की एक कुटुम्ब-सी है, इसमें गोपी अपना कुछ विशेषाधिकार समझती है। उनका स्थान पिता-माता के सदृश है–विशेषकर नयनों पर तो वे ऐसा ही अधिकार दिखलाती हैं। वे तभी कहती हैं ?

'नैना ऐसे हैं बिसवासी।
आन काज कान हमको तजि तबते भए निरासी।
प्रतिपालन करि बड़े कराये जानि आपनों अङ्ग'

× × ×

नैना भये प्रगट ही चेरे।
ताको कछु उपकार न मानत हम ये किये बड़े रे।

गोपी 'नयनों' की पालक हैं। उन्हें 'नयनों' से शिकायत है, वे पराये होगये हैं, वे विश्वासघाती हैं। वे 'गोपी' के कृतज्ञ नहीं। वह रोकती है, नयन भाग-भाग कर उधर हो जाते हैं। उलटे गोपियों को फुसलाते हैं:—

मोसों कहत तुहू नहिं आवै सुनत अचम्भो पाऊँ

❀ यह पद—हमहुँ श्याम को ध्यावैं,
किन्तु—सुनहु सूर सब व्याकुल डोलैं, नैंन तुरतफल पावैं।

आश्चर्य की बात है, ढीटपन की हद हो गयी है। जिन नेत्रों को गोपी से भयभीत रहना चाहिए, उनका आतङ्क मानना चाहिए वे इतने धृष्ट और मुँहलगे होगये हैं—मन भी साथ छोड़ गया है। साथ नहीं छोड़ गया, यह सब उसी की करतूत है—

'कियो वह भेद मन और नाहीं
मन बेच्यो लै वस्तु हमारी सुनहु सखी ये काम

गोपी जब इतना 'नयन' और 'मन' की भर्त्सना कर रही है, तब वह धीरे धीरे अज्ञात रूप से स्वयं कृष्ण पर रीझी जा रही है। उसकी रुचि में पहले तो नेत्रों के प्रति कुछ विरोध खड़ा होता है। उन्हें चोर, निर्लज्ज, स्वार्थी कहा गया है—नेत्रों को धिक्कारा गया है—

मेरे नैना ईं अति ढीट
मैं कुल कान किये राखति ही ये हठि होत बसीठ।

× × ×

कहाँ गए जो आप स्वारथी नैनन अपनी निनंद्य कराई
जो यह सुनत कहत सोइ धृग धृग तुरतहि ऐसी भई बड़ाई।

किन्तु फिर क्या हो जाता है कि वह यह कह उठती है—

'हौं ता दिन कजरा मैं देहौं
जा दिन नन्द नन्दन के नैनन अपने नैन मिलैहौं।
सुनरी सखी यहै जिय मेरे भूलिन और चितैहौं।
अब हठ 'सूर' इहै व्रत मेरो का कि रखै मरि ऐहौं।
गोपी स्वयं कृष्ण की ओर झुक गयी।

नयन अबतक वश में थे, कृष्ण को देखते ही पराये हो गये, धृष्ट हो गये, उद्दण्ड हो गये। गोपी का सम्बन्ध इन नेत्रों के प्रति किसी अपने अभिभावक की भाँति है! अभिभावक पहले अपने बालक को लड़ता है, रोकता है फिर अपना भाग्य ठोंकता है और उसकी बुरी दशा की कथा दूसरों को सुनाता है। फिर उस पर सहानुभूति करने लगता है। फिर स्वयं भी उनके साथ उसी मार्ग में कुछ झुक जाता है।

गोपी में इसके साथ कुलकानि का भाव, मर्यादा और धर्मनिष्ठा का भाव भी है। नेत्रों के प्रति इतनी झुँझलाहट का कारण

यही है कि वे कुल लाज को धता बताकर कृष्ण से जा मिले हैं, इनके पीछे पीछे लगे फिरते हैं।

'गोपी अपनी सफाई भी देती हैं। वे नेत्रों के अपराध से अपने को मुक्त समझती हैं। वे कहती हैं—

………….ब्रज घर घर यह बानी
हमहूँ को अपराध लगावहिं, एऊ भई दिवानी।
लूटहिं ये इन्द्री मन मिलि कैं, त्रिभुवन नाम हमारौ।
'सूर' कहाँ हरि रहत कहाँ हम, यह काहे न बिचारौ।

अतः गोपी मनुष्य की वह मनस्भावना है, जो लोकाचार और मर्यादा तथा लज्जा से जकड़ी हुई है और मर्यादारूढ़ (Conservative) मति का रूप उपस्थित करती है। मर्यादा और अमर्यादा का संघर्ष ही नयनों में समाहित है! मर्यादारूढ़ मति एक स्वाभाविक प्रेमोल्लास से कृष्ण की ओर आकर्षित हो गयी है—उसमें अमर्यादा की ओर कुछ प्रवृत्ति हो गयी है। सूरदास अमर्यादित प्रेम के पोषक हैं। वे जिस मन को भर्त्सना कर रहे हैं, जिन नयनों को डाँट रहे हैं, वह सब व्यंग है। साधारण संसार मन को अत्यन्त चञ्चल समझता है, इन्द्रियों को अत्यन्त व्यसनशील। यह समझा जाता है कि ये नीचे की ओर ही जाते हैं। किन्तु प्रेम-प्रेरणा में सूर की दृष्टि में और ही बात उपस्थित हो गयी है। उनकी चञ्चलता तो प्रकट ही है कि वे मर्यादित मति का साथ छोड़ गये और अमर्यादित प्रेम के प्रतीक श्रीकृष्ण से जा लगे, इन्द्रियाँ भी उधर लग गयीं—अतः संसार इन्हें निंद्य कहेगा ही। गोपी इसी 'संसार' के शब्दों में अपनी मर्यादित-मति का परिचय दे रही है—पर उसकी विवशता कुछ और भी प्रकट करती है। वह विवश है। नयन पागल होगये हैं, वे रोके नहीं रुकते—इस प्रकार गोपी अपनी विवशता से अमर्यादित प्रेम की महत्ता प्रकट करती है। वह स्वाद्भूत-प्रेम है और वही जीवनलाभ का सच्चा अर्थ है। 'नयन' इसी प्रेम के अविकल-सौन्दर्य की अनुभूति कराते हैं। उनके इसी सौंदर्य का साक्षात्कार यहाँ है। पर वह सौन्दर्य संघर्ष के आधार-पट पर है। सुर और असुरों का संघर्ष सदा रहा है। वह संघर्ष ही जीवन की रागिनी का मूल स्वर है। वहाँ सौन्दर्य (Aesthetic)

और आचार (Ethics) की समस्याएँ उपस्थित होती हैं। पहले 'नयनों' की आचार-नीति (Ethics) ही लीजिए।

सूरदासजी भली प्रकार जानते हैं कि जिसके द्वारा किसी व्यक्ति का पालन पोषण हुआ है, उसके विपरीत आचरण विश्वासघात है; उसके विरुद्ध किसी में विशेष मोह पैदा कर लेना भी बुरा है। स्वार्थी होना, लोक लज्जा त्यागकर धृष्ट होना, लोभ करना, इतराना, दया हीन होना, किसी के रूप की ओर एक टक देखना, रसलम्पट होना, गुरुजनों का संकोच न होना, आर्यपथ त्याग देना, यह सब अनैतिक (immoral) है। लोक में यह सब अवांछनीय हैं। किन्तु अमर्यादित प्रेम में यही सब बातें ग्राह्य और अनुकरणीय हैं। इसलिए नहीं कि 'Everything is fair in love and war' वरन् इसलिए कि (summum bonum) जीवन-लक्ष्य की प्रेरणा से ही नीति और अनीति का निश्चय होता है। गोपी की विवेचना में हम देख चुके हैं कि उसमें मर्यादित-मति की झलक है। वह लौकिक दृष्टि से नेत्रों की गति-विधियों का विरोध करती है, किन्तु अन्त में स्वयं उसी पक्ष का अनुसरण करने लगती है। उस प्रेम-मार्ग में मर्यादा-मति अथवा लोक-निबन्ध हार मानकर चलने लगता है। वह भी उसी व्रत में दीक्षित हो जाता है। लोक और धर्म के संघर्ष में धर्म की अमर्यादित-प्रेम मति की विजय गोपी को तब अनुभव होती है, जब कृष्ण गोकुल से चले जाते हैं। अभाव में ही मूल्य का पता चलता है। नेत्रों के चकोर, भृङ्ग जैसे व्रत और हठ ने गोपियों को वैसे ही कुछ झुका दिया है, किन्तु अब जब कृष्ण भी नहीं तो उनके हृदय भी रिक्त-से हूकपूर्ण लगते हैं, तब तो उन्हें नेत्रों से संवेदना और सहानुभूति में कोई कमी ही नहीं रहती। जब उद्धव आते हैं तब वह नेत्रों की करुण-दशा का बड़ा दीन चित्र उपस्थित करती है, उनकी सिफारिश करती है—

अखियाँ हरिदरसन की भूखी,
कैसे रहें रूप रस रांची, ए बतियाँ सुनि रूखी।

× × ×

बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पियत पतूखी।

जो प्रेम की आग नेत्रों में लगी है, प्रेम के कारण जो हूक और विकलता उनमें पैदा हुई है, उसका यदि आकर्षण कृष्ण में न होता

तो सूफियों के प्रेम के समकक्ष हो जाता। किन्तु नेत्रों के आधार का जीवन-लक्ष्य (Summum bonum) केवल प्रेम नहीं जिसमें प्रेम-पात्र के लिए ही प्रेम-प्रेरणा है, जहाँ प्रेम-प्रेरणा और प्रेम ही अभीष्ट है। इनके नयनों के आचारों में स्वाभाविक प्रेम-प्रेरणा है, किन्तु चरम पुरुषार्थ 'कृष्ण दर्शन' है।

'कृष्ण दर्शन' में एन्द्रिकता का मूर्त आधार बिल्कुल स्पष्ट है—

नैनन उहै रूप जो देख्यो।
तौ ऊधो यह जीवन जग को साँचहु सफल करि लेखो।
लोचन चपल चारु खंजन मन रञ्जन हृदय हमारो॥
सुरङ्ग कमल मीन मनोहर स्वेत अरुन और कारो।
रत्न जड़ित कुण्डल श्रवणन वर गंड कपोलनि झाई॥
मनु दिनकर प्रतिबिंब मुकुर महिं ढूँढत यह छवि पाई।
मुरली अधर विकट मोहै करि ठाढ़ी होत त्रिभंग।
मुक्तमाल उर नील शिखर ते धंसी धरणि जनु गंग।
और वैस को कहै वरणि सब अँग-अँग केसरि खौर।
देखे बनै कहत रसना सों 'सूर' बिलोकत और।

यह रूप वास्तव में एक समय और क्षण का देखा हुआ नहीं गोपी-मति ने अब तक कृष्ण के जितने रूप देखे हैं उन सबके संस्मरणों से यहाँ एक मिश्र-रूप उपस्थित कर दिया है। किन्तु कृष्ण के रूप के साथ उसके स्वाभाविक क्रिया-चित्र में कहीं अधिक सौन्दर्य है।

'बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पियत पतूखी'

'दोने में दूध दुह कर पीते हुए कृष्ण का दर्शन—'जिसकी कल्पना सूर की कल्पना के साथ उड़कर इस सक्रिय चित्र की रेखाओं का सजाव बना सकती है, वह उस सौन्दर्य पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। पहले पद में जो छबीला राजसी सौन्दर्य अंकित किया गया है उसमें 'श्रद्धा-भक्ति' के अमर्यादित प्रेम के साथ यौवनोद्गार भावना का रूप है, उसका सात्विक रूप जो मूल की तरह उस राजसी भाव की अभिव्यक्ति को उत्तेजित कर सका है वह इन्हीं पंक्तियों में है—

'बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पियत पतूखी'

'गोपी' के रूप में हमें मर्यादा और अमर्यादा का घोर द्वन्द्व मिलता है। अमर्यादा की विजय होती है। निश्चय अमर्यादा लोक-हित साधक नहीं हो सकती—फिर प्रेम की अमर्यादा तो सृष्टि को महा विकृत करने वाली है। वह पुण्य की अपेक्षा पाप का सृजन अधिक करती है। यदि सूरदास में केवल वह राजसी-सौन्दर्य लिप्सा की ऐन्द्रिकता होती तो प्रेम की सात्विकता समझना कठिन हो जाता किन्तु उस ऐन्द्रिकता का सात्विक रूप कितना मनोहर है और कितना मूल में है, जब हम यह जान लेते हैं तो आज भी हृदय उल्लसित हो जाता है, और कृष्ण की साकार मूर्ति हमें प्रेम-गद्‌गद् कर देती है। इस प्रकार के चरम पुरुषार्थ के कारण ही अमर्यादा और अनीतियाँ श्लाघ्य हो जाती है। Ethics अथवा आचार का प्रश्न, कीर्ति और अनीति का प्रश्न जीवन के ध्येय से सम्बद्ध है। कृष्ण के पीछे आध्यात्मिक भित्ति और धार्मिक साहचर्य के साथ ऐन्द्रिक-सौन्दर्य है—वह महान् ध्येय है—उसके लिए अन्यतम त्याग और लगन की आवश्यकता है। उसमें न केवल मन लगना चाहिए वरन सारी इन्द्रियाँ अपने अपर विषयों को छोड़ उसी में तन्मय हो जायँ, उसी की मनोरमता में निर्विषय हो जाँय तब जीवन-लाभ की प्राप्ति हो सकती है। उठते-बैठते-खाते-पीते यदि वही कृष्ण और उसका रूप सामने है, तभी धार्मिक प्रक्रियाओं की पूर्ति हो सकती है, कभी जीवन के सारे आयोजनों की सफलता है। गोपी और उसके नयनों के आचार (Ethics) का यही मर्म है। जिस संघर्ष ने आचार की सुन्दरता प्रकट की है, वह नयनों के सौन्दर्य को निखारता है। कृष्ण का भूत और पूर्व रूप सूरदास ने अवश्य रखा है, किन्तु नयनों का उन नयनों का जिनका चित्र नहीं चरित्रांकण किया गया है, कुछ भी परिचय नहीं। उन्हें 'काजल' अवश्य प्रिय है, क्योंकि उसी का लालच उन्हें दिया गया है। फिर वे खंजन, मीन, कमल, मृग के से है अथवा कैसे हैं यह कुछ विदित नहीं। होंगे ऐसे ही! किन्तु उनका अन्तरङ्ग सौन्दर्य्य हमारे सामने अपने अनिर्वचनीय ढङ्ग से उपस्थित है। वे हिमाचल की तरह अटल, नवीन से कोमल, कोकिल की पञ्चम लय से कूकपूर्ण, उषा की मुस्कराहट से खिले हुए—किन्तु जन की एक अगाध अतृप्त तृष्णा से संवादित—रात्रि-दिन के संघर्ष से—सावन के झर से—हाला से मादक और ठीक परिचय—

मेरी मादकता से ही तो
मानव सब सुख दुख सका झेल,
कर सकी मानवों की पृथ्वी
शशि-रवि सुदूर से हेल-मेल,
मेरी मस्ती से रहे नाच
ग्रह-गण करते-हैं गगन-गान,
वह महोन्माद मैं ही जिससे
यह सृष्टि-प्रलय का खेल खेल,
दुस्सह चिरजीवन सह सकता
वह चिर-एकाकी लीलामय !
उल्लास-चपल, उन्माद तरल
प्रति पल पागल—मेरा (इनका) परिचय ।

तृष्णा, अतृप्ति, दाहक हूक, चिरन्तन गति और अबाध पीड़ा में जो सौन्दर्य्य है, वह इन नयनों में है। जिसे नयनों का सा हृदय मिल जाय वह क्या हो जाय ?

हिंदी-साहित्य में कृष्ण के रूप

वैष्णव धर्म से पहले के कवियों ने कृष्ण को एक महान् व्यक्ति के रूप में लिया। हर्ष काल के आसपास हिंदी का निर्माण हो रहा था। पन्द्रहवीं शताब्दी में जहाँ हिन्दी-साहित्य कुछ विकसित रूप प्राप्त कर रहा था वहाँ धर्म की धारणा क्षीण हो चली थी—उसी धर्म की धारणा जो मनुष्य के आंतरिक विश्वास से संबंध रखता है। वाह्य उपादानों और उपकरणों से, तो उसका रूप सुसज्जित सा था। हर्ष के बाद केन्द्रीय सत्ता का नाश होगया। राजा लोग जन साधारण की संस्कृति, सभ्यता और जीवन को अधिक महत्व नहीं देते थे, उनके उद्देश्य की सीमा राज्य सत्ता को दृढ़ करने तक ही थी।

रासोकाल में काव्य बिलकुल लौकिक रहे। उनमें राजाओं की इतनी अधिक और विस्तार पूर्वक लड़ाई का वर्णन है क उसका अतिशयोक्ति के अतिरिक्त कुछ महत्व नहीं रह जाता है। हर्ष से पृथ्वीराज और अलाउद्दीन तक का समय कृष्ण और राम के लिए मूल्य रहित ही है। एक ओर 'एक लिंग की जय' और दूसरी ओर 'अल्लाहो अकबर' के जयनाद सुनाई पड़ते थे। किन्तु इनसे आन्तरिक जन-विश्वास के रूप का आभास नहीं मिल सकता। विश्वास, स्वाभाविक विश्वास वह है जहाँ प्रतिदान का कुछ भाव ही न आवे। किन्तु इन जयनादों से तो प्रतिदान का भाव स्पष्ट झलकता है। राम और कृष्ण युद्ध के देवता नहीं हो सकते थे। इस समय तो युद्ध के देवता ही काम आवेंगे। ऐसी बात न थी कि वह राम या कृष्ण को जानते ही न थे। पर उनको उनमें जीवन न दीख पाया। साहित्य में जीवित न होने पर भी लोक-मानस में राम-कृष्ण के प्रति आकर्षण का अभाव न हुआ था।

इसी प्रचलित लोक-धारा के अनुसार जीवन ढालने को रामा-

नुजाचार्य और वल्लभाचार्य ने राम और कृष्ण का निश्चित रूप उपस्थित किया। इनसे पहले ये देवता टिमटिमाते हुए दीपक थे, एक अंधकार सा था। अतः उनका उल्लेख प्रसग की ही भाँति था। इसी कारण कृष्ण के ऊपर कोई काव्य नहीं मिलता। हिंदी में कृष्ण के उत्थान का श्रेय वल्लभाचार्य जी और चैतन्य महाप्रभु को है। इनमें भक्ति का रूप तो उपरोक्त आचार्यों द्वारा आया। पर नायक-नायिका का रूप जयदेव और विद्यापति ने शृङ्गार रस के प्रसंग में उपस्थित किया। इनके शृङ्गार में भी भक्ति छोड़ी नहीं गई है। नायक-नायिका का रूप कवि-कौशल प्रगट करने को नहीं, किन्तु पुरुष और प्रकृति के रूपों को लेकर उनकी क्रीड़ा अभिव्यक्त करने को है। और उसी में परमानन्द का अनुभव है। अतः आद्याशक्ति और पुरुष के रूप का नायक-नायिका के रूप मे आनन्दोद्रेक के लिए रक्खा गया। विद्यापति, जयदेव प्रभृति और भी अन्य कवियों का रहस्यमय प्रभाव वल्लभाचार्य के आधार में रहा। किन्तु सूरदासजी में रहस्य की भावना का प्रभाव नहीं के बराबर है; सूरदास के कृष्ण पुरुष हैं, भक्ति करने योग्य हैं।

वल्लभाचार्य ने कृष्ण को अवतार के रूप में ग्रहण किया। आपका कृष्ण संबन्धी साहित्य का अध्ययन इसलिए करना पड़ा कि वह एक धर्म विशेष की स्थापना करना चाहते थे। वल्लभाचार्य में शृङ्गार रस की प्रबलता रही। सूरदासजी ने जयदेव, विद्यापति, वल्लभाचार्य आदि से अपना रूप बनाया। तुलसी ने भी कृष्ण को अपनाया पर वह उनको पूर्णतः नहीं अपना सके। उन्हें उनके प्रति अगाध भक्ति न हो सकी। अतः उनके कृष्ण का रूप कोई विशेष महत्व न रख सका। केशव के कृष्ण में उतनी भी भक्ति न मिल सकी। वह केवल प्रशंसात्मक ही होकर रह गया। जीवन, उल्लास तथा शक्तिमय सब रूप सूर को ग्राह्य थे, तुलसी के सामने से आदर्श का रूप नहीं हट सका। सूरदास के पास सजीव और सपुरुष कृष्ण हैं। किन्तु तुलसी के पास केवल भक्ति, अर्थात राम का ही दूसरा रूप।

केशव ने भी कृष्ण को काव्य-क्षेत्र में चुना। वह धार्मिकता का रूप बहुत कम दे सके—नहीं के बराबर, पुट मात्र। जयदेव और विद्यापति के राधा-कृष्ण, प्रकृति पुरुष हैं, किन्तु केशव के ये ईश्वर नायक और नायिका मात्र हैं।

सूर-धारा के कृष्ण मीराँ के पास पहुँचे। पर वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते संशोधन होगया। उसका कारण थे संत। मीराँ अपने को स्त्री समझती थी—समझती क्या थी, थी। इसलिए कृष्ण को पुरुष समझा। सूर ने अपने को गोपी नहीं समझा। मीराँ ने कृष्ण में पुरुषत्व की प्रधानता इसलिए मानी कि उसमें स्त्रीत्व की प्रधानता थी। सूर में दोनों भावनायें थीं। पर वे स्त्री-भाव के लिये गोपियों के सहारे खड़े हुए हैं, गोपियाँ उनका माध्यम हैं। सूर का पुरुषत्व मीराँ में उतरा। उसमें शुष्कता आगयी, ठीक संत मत के ज्ञानवाद की तरह, संसार की अवहेलना प्रारम्भ होगयी। पर सूर ने संसार की अवहेलना नहीं की। सूर के कृष्ण कृपा करने वाले, मोहक, मनोहर, पुरुषत्व भी लिये हुए हैं। पर मीराँ में, उन्हें प्राप्त करने के लिये भक्ति प्रेम और फिर विरक्ति की भी आवश्यकता पड़ी। विशेष आभा से युक्त, लीलामयता का भाव नहीं रहा जो हृदय में गुदगुदी पैदा करदे। सूर का कृष्ण आता, मचलता, घर घर माखन माँगता। किन्तु मीराँ का कृष्ण भूल कर भी गलियों में नहीं जाता। वह तो क्षीर सागर में कमल पर बिंदु की भाँति है। सूर के कृष्ण पदार्थिव (Objective) और भाविव (Subjective) दोनों हैं। किन्तु मीराँ के अन्दर कृष्ण की प्रतिक्रिया कुछ नहीं—सब कुछ मीराँ का हृदय है-जो बहता रहता है। सूर का कृष्ण मटकी फोड़ता है, चोरी करता है। पर मीराँ का कृष्ण मोहित कर लेता है। वह प्रेम और योग के पालने में मीराँ की मधुर कोमल भावनाओं में पलता हुआ, ऐसा है कि कर्तव्य के नाम कुछ भी नहीं कर सकता। मीराँ उसका हाथ-पैर हिलना भी नहीं देख सकती। उसमें है केवल देखना और मुग्ध हो जाना।

केशव के कारण कृष्ण नीचे उतर आये। देव और बिहारी में और भी अधिक। नायक और नायिका राधा और कृष्ण होगये। इनमें कवियों के हृदयों का स्पंदन कम है। देव की भक्ति तुलनात्मक दृष्टि से कुछ ऊँची है, पर कोटि दोनों की एक ही है। पद्माकर और ग्वाल में यह भाव भी रास्ता नापने लगा। वह एक ऐसे पुतले रह गये, जिनके आधार पर सारी उद्दीपन करने वाली सामग्रियों का उल्लेख करदें। इसके आगे बिन्दु का क्या अस्तित्व रहेगा? ब्रज-भाषा के काव्य की इतिश्री होगयी। वह युग गया।

फिर से नया रूप बनाया जाना प्रारम्भ हुआ। हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली के कृष्ण का रूप कुछ कुछ मीरों जैसा ही है; हाँ ज्ञानवादिनी विरक्ति नहीं। हरिश्चन्द्र के बाद दयानन्द द्वारा फिर सुधार की लहर भारत के कोने कोने से टक्कर लेने लगी। उसका स्पष्ट प्रभाव अयोध्यासिंह के प्रिय-प्रवास में मिलता है। उसके कृष्ण एक महापुरुष के रूप में आये। वह मानवीय भावनाओं के केन्द्रमात्र रह गये। धार्मिक भावनाओं का रूप भी बदल गया। अवतार की कल्पना महापुरुष के रूप में बदल गयी। धर्म का रूप तर्क से मर्यादित होगया। गोपी और यशोदा रोती हैं—इसलिए कि उनसे उनके कुछ प्रिय स्वार्थों की पूर्ति होती थी। इसलिए नहीं कि वह अवतार हैं।

मैथिलीशरण के कृष्ण में फिर दिव्यता का आभास मिलता है। उन्होंने अब तक के बाहर व्यापी कृष्ण को अन्तर-व्यापी कर दिया। द्वापर के कृष्ण यशोदा, ग्वाल बाल के प्रिय हैं इसलिए कि उनकी अन्तरव्यापिनी जीवनी में एक अद्भुत विचित्रता है, वह स्वार्थ के रूप में नहीं है। मैथिलीशरण में मानसिक मार्ग की सजीव वस्तु उपस्थित है, इसीलिए वह सबको प्रिय है। एक विशेष प्रकार का प्रकाश अन्तर में आगया है। अब तक हम कृष्ण के पास भागते थे किन्तु मैथिलीशरण के कृष्ण में हम स्वयं प्रकाशित से हो उठते हैं। अब आत्मसमर्पण नहीं, इंद्रियों को न्यौछावर करने की भावना नहीं। मैथिलीशरण के कृष्ण में बौद्धिक मनोवृत्ति है। आज का युग भी बौद्धधर्म की ओर विशेष जा रहा है—यहाँ पर कृष्ण का रूप समाप्त-सा पाते हैं।

———

सूर : वल्लभ-सम्प्रदाय (पुष्टि मार्ग)

वैष्णव सम्प्रदाय के कवियों का विशेषत: अष्टछाप के कवियों का, अध्ययन करने के लिए पुष्टिमार्ग का ज्ञान आवश्यक है। इसी दृष्टि से इस सम्प्रदाय का स्थूल दिग्दर्शन हम यहाँ दे रहे हैं—

नाम क्यों ?

पुष्टि का अर्थ अनुग्रह है। 'भागवत' में कहा गया है 'पोषणं तदनुग्रहः'—भगवान कृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। अनुग्रह के सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् ३, २, ३ में यह उल्लेख है : 'नायमात्मा बल हीनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैषु आत्मा विवृणुते तंनू स्वाम्।' कठोपनिषद् के १-२-२२ में भी यह द्रष्टव्य है। यहाँ स्पष्ट विदित होता है कि ईश्वर की प्राप्ति ईश्वर के अनुग्रह पर ही निर्भर है। ब्रह्म-सूत्र के २-३-४२ पर अणु-भाष्य में स्वयं वल्लभाचार्य जी ने लिखा है: 'फलदाने कर्मापेक्षः। कर्म कारणे प्रयत्नापेक्षः। प्रयत्ने कामापेक्षः। कामे प्रवाहापेक्ष इति मर्यादा रक्षार्थं वेदं चकार। ततोन ब्रह्मणि दोष गन्धोऽपि। न चानोश्वरत्वम्। मर्यादा मार्गस्य तथैव निर्माणात। यत्रान्यथा स पुष्टि मध्य इति।' इसमें 'पुष्टि' मार्ग को मर्यादा मार्ग से भिन्न बताया है। एक स्थल और है जहाँ आचार्यजी ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है।

कृति साध्यं साधनं ज्ञान भक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते। ताभ्यां विहिताभ्यां, मुक्तिर्मर्यादा। तद्रहिता नामपिस्वस्वरूप बलेन स्वप्रापणं पुष्टि रित्युच्यत।* तथा च यं।"

मर्यादा मार्ग में तो ज्ञान और भक्ति के साधन करने से मुक्ति मिलती है। पुष्टि मार्ग में तो सब कुछ समर्पण करने से हो। इस

---

* अतः अपनी ही शक्ति से (स्वस्वरूप बलेन) ब्रह्म जो मुक्ति भक्तों को प्रदान करता है, वह पुष्टि कहलाती है।

प्रकार यह नाम 'मर्यादामार्ग' से विभेद प्रदर्शित करने के लिए है। जिस मार्ग में कर्म के अनुसार फल न मिले, ईश्वर की कृपा तथा अनुग्रह या पुष्टि से मुक्ति मिले—वही मार्ग पुष्टि मार्ग। भगवदनुग्रह ही, मनुष्य का निजी उद्योग नहीं, मुक्ति का साधन है।

'पुष्टि' शब्द से सम्प्रदाय के यथार्थ रूप के समझने में कभी-कभी कठिनाई हुई है। जैसा 'सम्प्रदाय प्रदीप' की भूमिका पृ० २५ में भूमिकाकार ने लिखा है: "कितने ही लोगों को 'पुष्टि' शब्द से एक प्रकार की घृणा है—वे 'पुष्टि सम्प्रदाय' का तात्पर्य यही समझते हैं कि—जिस सम्प्रदाय में मोज, शौक, भोग-विलास तथा शारीरिक सुख-भोग को प्रधानता दी गयी हो वही 'पुष्टि सम्प्रदाय'। इस कथन मे 'प्रधानता' शब्द तो हमारा है—वे तो उसके स्थान पर 'परम पुरुषार्थ' शब्द का उपयोग करते हैं।" इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने जिस रूप में जीवन में इन्द्रिय-पोषण को महत्त्व प्रदान किया है, उस रूप में पुष्टि का अर्थ 'शारीरिक पुष्टि' भी असंगत नहीं प्रतीत होता। पुष्टि का अर्थ 'अनुग्रह' भी होता है, ऐसा बहुतों को युक्ति-युक्त नहीं लगता। 'पोषणे तदनुग्रह' से पुष्टि की व्युत्पत्ति कुछ द्राविड़ा प्राणायाम से सिद्ध करने की चेष्टा सी की जाती है। उक्त 'प्रदीप' की भूमिका में उपरोक्त स्थल पर नीचे इन शब्दों में इस युत्पत्ति को प्रकट किया गया है—

"पुराणों के अधिकांश शब्द अपने प्रचलित अर्थ की ओर संकेत न कर निर्धारित अर्थ को उद्बोधित करते हैं, उनका एक विशेष ही अभिप्राय होता है। जिस प्रकार उक्त श्लोक में 'स्थान' शब्द का अर्थ "स्थिति बैकुण्ठ विजयः" होता है, उसी प्रकार 'पोषणे तदनुग्रहः' से 'पुष्टि शब्द का तात्पर्य निकलता है। 'पुष्ल्ट = पोषणे' धातु से एक ही अर्थ में भिन्न-भिन्न प्रत्यय करने पर 'पोषण' और 'पुष्टि' शब्दों की सिद्धि होती है।"

साथ ही जिस प्रकार वेदों में 'पुष्टि' की उपस्थिति सिद्ध की जाती है, वह भी कोई विशेष सहायक नहीं। त्रियम्बकं यजामहे मंत्र में 'पुष्टि वर्धन' नाम से, तथा 'ध्रुवं मयिपुष्टि पुष्टि पतिर्दधातु' में 'पुष्टिपति' से ईश्वर को सम्बोधन है, और उससे पुष्टि प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है। यहाँ पर पुष्टि का अर्थ शारीरिक पुष्टि भी हो

सकता है। अध्यात्मवादी भारत ने वेदों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष 'चार पदार्थों' का अर्थ बहुत काल से ग्रहण किया है। शारीरिक पुष्टि का यों भी अध्यात्मवाद से सीधा कोई विरोध नहीं माना जा सकता। पारलौकिक पुष्टि का अर्थ लगाने के लिए भारतीय आध्यात्मवाद के स्वभाव की दुहाई मात्र पर्याप्त नहीं हो सकती।

फिर भी 'पुष्टि' का सम्प्रदाय-मान्य अर्थ 'भगवदनुग्रह' ही है, और इसी के आधार पर संप्रदाय का नाम करण हुआ, मानना ठीक होगा। 'श्री आचार्यजी के प्राकट्य की वार्ता' में भाव प्रकाश लिखते हुए हरिरायजी ने लिखा है—'आध्यात्मिक भक्ति दक्षिण में 'प्रकटी' जो भक्ति को मर्यादा-पुष्टि कहत हैं, जैसे—आध्यात्मिक भक्ति रूप श्री आचार्यजी महाप्रभु दक्षिण में प्रकटे। वेद मर्यादा हू करत हैं और पुष्टिभक्त में भक्ति के स्थापन अर्थ सेवा हू करत हैं।' श्री म० प्रा० वार्त्ता भा० प्र० (कांकरौली) पृ० १० क्या इससे इस मार्ग का नाम 'मर्यादा-पुष्टि' मार्ग नहीं हो सकता ?

आधार-ग्रन्थ—

प्रस्थान त्रयी तो प्रसिद्ध ही है : १ वेद (उपनिषदें सम्मिलित), २ गीता, ३ ब्रह्मसूत्र। इनमें वल्लभाचार्यजी ने एक और वृद्धि की। उन्होंने 'भागवत' पुराण को भी वही महत्व दिया जो वेद, गीता और ब्रह्मसूत्र को है। 'ब्रह्मसूत्र' की टीका स्वयं श्री वल्लभाचार्यजी ने की है—जो अणु-भाष्य के नाम से विख्यात है। भागवत की टीका भी आचार्य द्वारा प्रणीत 'सुबोधिनी' के नाम से विदित है। श्री वल्लभाचार्यजी के उन दो आधार-ग्रन्थों के साथ उनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी हैं। सम्प्रदाय में वे भी प्रामाणिक आधार मानी जाती हैं। वे हैं निबन्धत्रय, षोडश-ग्रन्थ, 'संन्यास-निर्णय', 'शिक्षा-श्लोक' तथा अन्य कई प्रकीर्ण-ग्रन्थ हैं। फिर गोसाईं विट्ठलनाथजी, गोकुलनाथजी तथा हरिरायजी की रचनाएं भी प्रामाणिक कोटि में आती हैं, पर आधार-ग्रन्थ 'प्रस्थान चतुष्टय' और उस पर आचार्यजी की टीकायें ही माने जायेंगे।

पुष्टि मार्ग क्यों ?

'सम्प्रदाय प्रदीप' में उल्लेख है कि 'विष्णुस्वामी' ने भक्ति का प्रचार किया। "बिल्वमंगल के विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्यपद

पर अभिषिक्त हो जाने पर उनके भक्ति-प्रचार से जब अधिकारी अनधिकारी दोनों प्रकार के जीव भगवत्तत्वज्ञ होकर भक्ति में सम्मिलित होने लग गये, और प्रवाहरूप सांसारिक सृष्टि का एक प्रकार से उच्छेद होने लगा, तब भगवान् ने दैवी-आसुरी-सृष्टि के भेद-स्थापनार्थ एक मानसिक योजना की।'[1] उन्होंने 'शङ्कर' से कहा कि आप भूतलपर अवतार लीजिये और 'ऐसे शास्त्रों का प्रणयन और प्रचार कीजिए जिससे मेरे माहात्म्य का तिरोधान और आपके माहात्म्य की अभिवृद्धि हो। आप ऐसे शास्त्रों का निर्माण कीजिये, जो आपाततः सत्य किन्तु सारतः असत्य हो।[2] 'भगवान शङ्कर ने तब शङ्कराचार्य जी का अवतार लिया। उन्होंने 'आसुर-सृष्टि के मोहनार्थ वास्तविक श्रुत्यर्थ को प्रच्छन्न कर उपनिषद्, गीता एवं व्याससूत्र, इस प्रस्थानत्रय पर भाष्य-रचना की। इस 'ग्रन्थप्रणयन से जगत में केवलाद्वैत सिद्धान्त का अतिशय प्रचार हुआ। इस सिद्धान्त को भक्तिमार्ग में मायावाद के नाम से अभिव्यक्त किया गया है।[3] 'मायेत्यसुराः' से मायावाद आसुरमत माना जाता है। इस प्रकार शङ्कर के उद्योग से आसुरी-सृष्टि दैवीसृष्टि से पृथक हो गयी। इस समय दैवीसृष्टि के कल्याणार्थ चार भक्ति सम्प्रदायों का जन्म हुआ—

१. श्री रामानुजाचार्य के सम्प्रदाय का, २. श्री मध्वाचार्य के सम्प्रदाय का, ३. श्री निम्बार्काचार्य के सम्प्रदाय का और ४. श्री विष्णुस्वामी के परिष्कृत रूप श्री वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय का।

किन्तु वल्लभाचार्य को पुष्टिमार्ग की क्यों आवश्यकता समझ पड़ी, और अन्य भक्तिसम्प्रदायों के रहते हुए भी यह संप्रदाय क्यों उदय हुआ ?

विद्यानगर में माध्वसम्प्रदायानुयायी यतिराज व्यासतीर्थ की अध्यक्षता में श्री वल्लभाचार्यजी ने मायावादियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा की। तब व्यासतीर्थजी ने इन्हें माध्वसम्प्रदाय को सँभालने के लिए निमन्त्रण दिया। उसी दिन श्री विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मनीषी बिल्वमङ्गल ने स्वप्न में आचार्यजी से साक्षात्कार किया और बताया कि—

'आप व्यासतीर्थ के शिष्य न होकर विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के रिक्त आचार्य-पद पर विराजमान होइये।...... भगवान श्रीकृष्ण

---

१. सं० प्र० पृ० ४६। २. सं० प्र० पृ० ४६। ३. सं० प्र० पृ० ५१।

की आज्ञानुसार देवाधिदेव शङ्कर ने शंकराचार्य रूपसे अवतार लेकर जब दैवी जीवों को भी भक्ति से विमुख कर दिया तब मैंने....... उनके समीपवर्ती भृत्य वर्ग में स्थान पाने की अभिलाषा प्रकट की।[1] तब भगवान श्री कृष्ण ने बताया कि मैं अपने मुख-स्वरूप अग्नि के अवतार के रूप में श्री वल्लभाचार्य नाम से प्रकट होऊँगा। तब भक्तिमार्ग की रक्षा का भार उन्हें सौंपकर मेरी सन्नित्सेवा में आ सकोगे। अतः आप श्री विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य बनिये।"

यहीं विल्वमङ्गल ने उन्हें विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की श्रेष्ठता भी बतायी: 'रामानुज सम्प्रदाय की सृष्टि पाद्मकल्पीय, सिद्धान्त पद्मपुराणोक्त, आचार्य लक्ष्मी, गरुड़ आदि, उपास्यदेव श्रीलक्ष्मीनारायण हैं। मध्व-सम्प्रदाय की सृष्टि श्वेतबाराहकल्पीय, सिद्धान्त भारत रामायणोक्त, आचार्य वायु, हनुमान, भीमसेनादिक और उपास्यदेव श्री रामचन्द्र है। इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय की सृष्टि सौर कल्पीय, सिद्धान्त सूर्यमण्डलस्थ हिरण्मय पुरुष प्रोक्त और आचार्य एवं उपास्य देव हिरण्मय पुरुष है। विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय की सृष्टि सारस्वतकल्पीय, उसका सिद्धान्त वेद-गीता-व्याससूत्र-भगवान प्रतिपादित और आचार्य भगवन्मुख स्वरूप वैश्वानर एवं उपास्य रूप शुकवागमृताब्धीन्दु श्री गोपीवल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण हैं।[2] उन्होंने आगे भी बताया—

'उक्त सम्प्रदायों में नारदीय-पञ्चरात्र वैखानसादि शास्त्र-प्रतिपादित दीक्षा-पूजादि का प्रचार होने से यद्यपि विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय में आत्मनिवेदनात्मक भक्ति की स्थापना की गई है, तथापि वह मर्यादा-मार्गीय है। अब आपको इस सम्प्रदाय में पुष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्मनिवेदन द्वारा प्रेम-स्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करना है।'[3]

इन सब अवतरणों से सिद्ध होता है कि वल्लभाचार्यजी ने मायावाद का खण्डन किया। मायावादियों ने काशी के शास्त्रार्थ में प्रकट किया था कि—

'ब्रह्म निर्धर्मक, निराकार, प्रपञ्च मिथ्या स्वरूप, मायाकृत और जीव वास्तव में चैतन्यरूप व्यापक ब्रह्म ही है।' इसके प्रत्युत्तर

१—वही पृ० ८७। २—वही पृ० ८७। ३—वही पृ० ८८।

में श्री वल्लभाचार्य ने प्रतिष्ठा की थी कि—'ब्रह्म विरुद्ध-धर्माश्रय, प्रपञ्च भगवत्कृत होने से सत्य और संसार—अहन्तात्मक—अविद्याकृत होने से मिथ्या एवं जीव—भगवदंश—अणु स्वरूप विसर्पिगुण-चैतन्य है।'

पुष्टिमार्ग का स्थूल पक्ष क्या ?

पुष्टिमार्ग मायावाद का खण्डन करता है, भक्ति की स्थापना करता है, और भक्ति के अन्य सम्प्रदायों से भी पृथकता रखता है।

मायावाद के विरुद्ध तो यह शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिष्ठापक है। प्रपंच और संसार में भेद करता हुआ, प्रपञ्च को भगवत्कृत मानता है, इसलिए सत्य भी मानता है। संसार को अहन्तात्मक अर्थात् अविद्याकृत मानता है—संसार ही इसलिए मिथ्या है। जीव स्वयं चैतन्य स्वरूप ब्रह्म नहीं। फलतः 'अहं-ब्रह्म' का यह मार्ग विरोध करता है। यह तो जीव को भगवदंश अणु स्वरूप विसर्पिगुण-चैतन्य मानता है।

चारों भक्ति सम्प्रदायों और उनके उपसम्प्रदायों* से वल्लभ सम्प्रदाय का पक्ष भिन्न है, उक्त सभी सम्प्रदाय मर्यादा-मार्ग हैं। वे लक्ष्मीनारायण, रामचन्द्र, हिरण्यपुरुष तथा श्रीकृष्ण (विष्णुस्वामी) को आराध्य मानते हैं। आराध्य की दृष्टि से वल्लभ सम्प्रदाय विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का निकटवर्ती है, इसीलिए उसे विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की शाखा माना जाता है। पर विष्णुस्वामी सम्प्रदाय से वल्लभ सम्प्रदाय का भेद है। विष्णुस्वामी सगुण भक्ति के प्रचारक और प्रतिष्ठापक थे। वल्लभाचार्यजी ने 'निर्गुण' (अहैतुकी निष्काम) भक्ति की स्थापना की।

शङ्कर ने संन्यास को प्रधानता दी। वल्लभ ने गृहस्थ धर्म को निभाने के उपरान्त अन्त में संन्यास लिया, और इस प्रकार दोनों का समन्वय स्थापित किया, तथा विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के भक्तिमार्ग को पाँच सिद्धान्त-रत्नों से विशेष अलंकृत किया है : वे हैं—(१) गुरु

---

* उपसम्प्रदाय ये हैं -

१—विष्णु सम्प्रदाय का चैतन्य, २—रामानुज सम्प्रदाय का नन्द (रामानन्द) ३—मध्व सम्प्रदाय का प्रकाश, ४—निम्बार्क का स्वरूप (सं० प्र० पृ० ७४)।

सेवा, (२) भागवतार्थ (सुबोधिनी), (३) भगवत्स्वरूप निर्णय (४) भगवत्सेवा (पूजा मार्गीय उपासना से विलक्षण) तथा (५ निरपेक्षता।'...'हरिर्यद्यत्करिष्यति, तथैव तस्य लीला' यह भावनामय निरपेक्षता (निष्कामता) इस सम्प्रदाय का मुकुट-हीरक है।

भगवान श्रीकृष्ण—

क्षर—'अधिभूतं क्षरो भावः' 'क्षर' परमात्माका आधिभौतिक स्वरूप है।

अक्षर—"प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्मा भवत्पुरा;
यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते।"

जिस रूप का अधिष्ठान लेकर परमात्मा ने प्रकृति और पुरुष का रूप धारण किया है, वह अक्षर उनका आध्यात्मिक स्वरूप है।

इन दोनों से श्रेष्ठतम नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्त स्वभाव, फलावतार, पूर्ण पुरुषोत्तम, भगवान श्रीकृष्ण हैं। [सं० प्र० पृ० १२१]

पूर्णावतारता—भागवत में सूतजी ने लिखा है—'एतेचांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—ये वह कृष्ण हैं जो 'सारस्वत कल्प' के हैं और जिनका उल्लेख भागवत में हुआ है।

'देवकी पुत्र भगवान श्रीकृष्ण ही परब्रह्म परमात्मा हैं, और वह परब्रह्म साकार, व्यापक एवं विरुद्ध-धर्माश्रय-स्वरूप है।

'श्रीवल्लभाचार्यजी साक्षात् श्री भगवान् को अवतार हैं, और चारयों आचार्य चारयों सम्प्रदाय के अक्षर ब्रह्म तें प्रगटित हैं। तिनकी प्राप्ति हू अक्षर ब्रह्म में है।" [म० प्रा० वा० भा० प्र० पृ० ५०]

अतः श्री गुसाँईजी वल्लभाष्टक मां "वस्तुतः कृष्ण एव" एम आज्ञा करे छे [प्रा० वा० र० प्रथम भाग—वार्तारहस्य (गुजराती) पृ० ५]

हरिरायजी ने 'भावप्रकाश' में एक स्थान पर यह भी लिखा है—

"सो जैसे श्रीकृष्ण और श्री स्वामिनीजी में न्यारो स्वरूप जाने सो अज्ञानी; सो तैसें श्री गोवर्द्धनधर और श्री आचार्यजी हैं। [प्रा० वा० र० द्वि० भा० पृ० ५३]

इनसे निष्कर्ष मिलता है कि—

१—श्री वल्लभाचार्य वैश्वानरावतार, अग्नि अवतार, पूर्ण

पुरुषोत्तम के मुखावतार हैं। [अग्नि पुरुषोत्तम का मुख है] अतः वे वाक्पति हैं।

२—उनमें श्रीकृष्ण का आवेश है। वे साक्षात् प्रभु हैं, देवकी-पुत्र हैं, वस्तुतः कृष्ण हैं।

श्री आचार्यजी के मुख्य सात स्वरूप—

१—मुख्य पुरुषाकार सुधा।

२—आनन्दस्वरूप—भगवद्भाव रूप कृष्णस्वरूप।

३—परमानन्दस्वरूप—गूढ़ स्त्री भावरूप स्वामिनी स्वरूप।

४—कृष्णस्वरूप—धर्मी विप्रयोगात्मक स्वरूप।

५—वैश्वानरस्वरूप—तापात्मक।

६—वल्लभ स्वरूप—लीला मध्यपाती दास्यरूप।

और—

७—आचार्य स्वरूप—सन्मनुष्याकृति, भक्तिमार्गमार्तण्ड और वाक्पति स्वरूप। [प्रा० वा० र० प्रा० भा० वार्तारहस्य गु० पृ० ५]

तहाँ आधिदैविक भक्ति तो श्री स्वामिनीजी, सो सदाव्रज में लीला करत हैं। सो भक्ति तो श्री गोकुल में प्रकट भई। ताही तें श्री आचार्यजी, श्रीस्वामिनी रूप को प्राकट्य व्रज में अलौकिक रीति सों है। [श्री मा० प्र० वा०-पृ० १०]

और दामोदरदास को अलौकिक स्वरूप हैं सो ललिताजी को प्रागट्य है। वहाँ सगरी रहस्यलीला में श्री स्वामिनीजी की आज्ञाकारी जैसें ललिताजी तैसें हि यहाँ श्री आचार्यजी की आज्ञाकारी ललितारूप दामोदरदास—[प्रा० वा० र० पृ० ३७ । ❀

इन कथनों से यह सिद्ध होता है कि श्री आचार्यजी स्वामिनी-स्वरूप भी थे।

❀ प्राचीन वा० र० प्र० भा० पृ० १०६ की पाद-टिप्पणी में दामोदरदास के पास के पत्र के स्पष्टीकरण में लिखा है: तू चित्रा सखि है। श्री स्वामिनीजी की निकुञ्ज महल में चित्रामन कुञ्ज संवारनों यह तेरी सेवा है। सो आचार्यजी (स्वामिनी जी) की तू सखि हो। उनहि की सरन जैयो। यह बाँचि सुनाये। (श्री हरिरायजी)

स्वामिनी कौन ?

स्वामिनीजी श्री चन्द्रावलीजी मानी गयी हैं। 'पुष्टि सम्प्रदायना मते अष्ट सखीनां नाम आ प्रकारे छे;—श्री चन्द्रावलीजी, श्री ललिताजी, श्री विशाखाजी, श्री चम्पकलताजी, श्री चद्राभामाजी, श्री राधासहचरी, श्री श्यामाजी अने श्री भामाजी। आठमां श्रीचन्द्रावलीजी ने स्वामिनीत्व छे अन्य सात ने सखीत्व छे।' [इन गुजराती पंक्तियों के लेखक ने पाद-टिप्पणी में बताया है कि 'आ समस्त प्रकरण युगलसर्वस्व अने अन्य प्राचीन पुस्तकांमाथी उद्धृत कर्युं छे।'] [प्राचीन वा० र० प्र० भा० समस्तलीला प्रकरण पृ०]

प्राचीन वार्त्ता रहस्य द्वितीय भाग में 'महानुभाव सूर' में 'भाव प्रकाश' में पृष्ठ ३ पर लिखा है—

'सो ब्रज में श्री स्वामिनीजी और श्री ठाकुरजी आपु ये दोउ एक रूप हैं, परन्तु ब्रजलीला प्रकट करिबे के लिये श्री ठाकुरजी श्री नन्दरायजी के घर प्रकटे और श्री स्वामीनीजी श्री वृषभानजी के घर प्रकट होय के अनेक उपाय मिलिवे कों रात्र दिन किये।'

इससे विदित होता है कि स्वामिनीजी श्री वृषभानुनंदिनी हैं। वृषभानुनंदिनी राधा हैं।

यह बात प्राचीन वा० र० द्वितीय भाग में 'कृष्णदास अधिकारी' की वार्त्ता में हरिरायजी ने भावप्रकाश में स्पष्ट करदी है। वहाँ प्रसङ्ग है कृष्णदास का गङ्गाबाई सम्बन्धी आक्षेप में गोसांईजी को श्रीनाथ सेवा से बञ्चित करदेने का। हरिरायजी ने बताया है कि कृष्णदास ललिता रूप है। ठाकुरजी गोवर्द्धनधर स्वामिनीजी आचार्यजी ये दोनों महाप्रभु में समीकृत हैं। गोसांईजी चन्द्रावली हैं—ये समस्त सखियाँ स्वामिनी हैं। इन उद्धरणों से स्पष्टता हो जायगी—

'जो श्री ठाकुरजी तें श्री स्वामिनीजी प्रकटी हैं। और स्वामिनीजी के मुखचन्द्र तें श्री चन्द्रावली प्रकटीं। श्री चन्द्रावलीजी तें सगरी स्वामिनी सखी प्रकटी हैं। ता सों श्री ठाकुरजी के दक्षिण भाग श्री चन्द्रावलीजी बिराजत हैं। याते जो—सगरी सखीन के स्वामिनी रूप, श्री चन्द्रावलीजी (सो सर्व में) श्रेष्ठ है'........×

×[प्रा० वा० र० वि० भा० पृ० २२२

'या प्रकार श्री ठाकुरजी श्री स्वामिनीजी की इच्छातें श्री गोवर्द्धन गिरिराज में प्रकट भये, और श्री स्वामिनीजी रूप श्री आचार्यजी महाप्रभु श्री गोवर्द्धनधर कों प्रकट किये। सो लीला में श्री स्वामिनीजीतें चन्द्रावलीजी का प्राकट्य। ताही भाँति सों यहाँ श्री आचार्यजी सों श्री गुसांईजी को प्राकट्य, और ललिता सां कृष्ण-दास अधिकारी भये। [प्रा० वा० र० द्वि० भा० पृ० २२४

इस प्रकार आचार्यजी में गोद्धनधर (ठाकुरजी) और स्वामिनी का आरोप हुआ है, और उनके समस्त परिकर को ठाकुरजी और स्वामिनीजी के परिकर का रूपक दिया गया है। जिस प्रकार आचार्यजी में दोनों रूप (पुरुष-स्त्री) स्थित हैं—उसी प्रकार प्रत्येक भक्त में। हरिरायजी ने भावप्रकाश में 'महानुभाव सूर' के आरम्भ में तथा और भी स्थानों पर इसी अभिप्राय की बातें लिखी हैं—उन्होंने लिखा है—'कुञ्ज में सखीजन हैं सो तिनके दोय स्वरूप हैं, सो कहता पुंभाव के सखा और स्त्री भाव की सखी। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव और रात्रि कों सखी द्वारा अनुभव है। सो काहेतें ? जो वेद की ऋचा हैं सो गोपी हैं। और वेद के जो मन्त्र हैं सो सखा हैं।....तो यहाँ तो रसरूप लीला सदा सर्वदा एक रस हैं। सो तैसे ही अन्तरङ्गी सखा श्री ठाकुरजी के अङ्गरूप हैं। सो सखी रूप, सखारूप दोऊ रूप सों रात्रिदिन लीला रस करत हैं। सो तासों सूरदास 'कृष्ण सखा' को प्राकट्य हैं। और कृष्ण सखा को दूसरो स्वरूप सखी है, सो लीला-कुञ्ज में है तिनको नाम चम्पकलता है।

ब्रह्म के तीन प्रकार—

एक ही व्यक्ति में सखा और सखी के इस विधान से आचार्यजी और उनके परिकर का आधिभौतिक का अधिदैविक सम्बन्ध कर दिया गया है। जिससे अन्ततः शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा होती है। 'आचार्य वल्लभ के मत में ब्रह्म तीन प्रकार का होता है—(१) आधिदैविक=परब्रह्म (२) आध्यात्मिक=अक्षर ब्रह्म; (३) आधि-भौतिक=जगत। अतः जगत् ब्रह्मरूप ही है।"

[भारतीय दर्शन ब० उ० पृ० ५१६]

सखा-सखी और ब्रह्म—ठाकुर-स्वामिनीजी तथा उनके भौतिक रूप आचार्यजी और उनके परिकर की अद्वैतता इसी प्रकार सिद्ध होती है।

शुद्धाद्वैत—पुष्टि मार्ग का ब्रह्म माया से अलिप्त अतः नितान्त शुद्ध है। [भा० द० ५१५]

माया सम्बन्ध रहितं शुद्धामित्युच्यते बुधैः ।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्मन मायिकम् ॥२८॥
[शुद्धाद्वैत मार्तण्ड भा० द० पा० टि० ५१५]

"इस मत में ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट अङ्गीकृत किया गया है। अतः उसमें विरुद्ध धर्मों की स्थिति भी नित्य है।..........यह विरुद्ध धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित नहीं होती है, प्रत्युत स्वाभाविक है।" पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त शुद्धाद्वैत का सिद्धान्त है।

ब्रह्म और जगत एक हैं—जिस प्रकार लपेटा गया कपड़ा फैलाने पर वही रहता है, उसी प्रकार आविर्भाव दशा में जगत तथा तिरोभाव रूप में ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं। जगत का आविर्भाव कार्य केवल लीला-मात्र है। [भारतीय दर्शन पृ० ५१६]। अतः जगत ब्रह्मरूप एवं नित्य है।

"जगत के विषय में आचार्य 'अविकृत परिणामवाद' को स्वीकार करते हैं।............जिस प्रकार कुण्डलादि रूपों से परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। श्रीमद्भागवत् एकादश स्कन्ध में इसी तत्व का सुन्दर प्रतिपादन करता है—

यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥

आचार्य जगत की उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं मानते, प्रत्युत आविर्भाव तथा तिरोभाव के पक्षपाती हैं। [भा० द० पृ० ५१८]

जगत् और संसार—वल्लभमत में जगत और संसार में एक विलक्षण पार्थक्य स्वीकृत किया जाता है। ईश्वरेच्छा के विलास से सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ को 'जगत' कहते हैं, परन्तु पञ्चपर्वा

अविद्या के द्वारा जीव के द्वारा कल्पित ममता रूप पदार्थ की संज्ञा 'संसार' है। [भा० द० पृ० ५१८]

अविद्या—अविद्या के पाँच पर्व होते हैं—स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास। इस अविद्या की सत्ता रहने पर संसार है, अतः ज्ञान के उदय होने पर 'संसार' का तो नाश हो जाता है। परन्तु ब्रह्मरूप होने से 'जगत' का कभी विनाश सम्भव नहीं। [भा० द० पृ० ५१८-१६]

जीव—भगवान को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनंदादि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस व्यापार में क्रीड़ा की इच्छा ही प्रधान कारण है, माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है और यश के तिरोधान से हीनता।

ऐश्वर्य के	तिरोधान	से	जीव	में दीनता
यश	,,		,,	हीनता
श्री	,,		,,	समस्त विपत्तियों का आस्पद
ज्ञान	,,		,,	अनात्मरूप देहादिकोंमें आत्मबुद्धि
आनन्द	,,		,,	दुःख को प्राप्त करता है।

'ब्रह्म से आविर्भूत जीव अग्नि स्फुलिङ्गवत् नित्य है। यह व्युच्चरण उत्पत्ति नहीं। अतः व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता में ह्रास नहीं होता। वल्लभ-मत में भी जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणुरूप है।' भगवान् के अविकृत सदंश से जड़ का निर्गमन—जड़ के निर्गमन में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोधान रहता है। भगवान् के अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है—जीवन के निर्गमन काल में केवल आनंदांश का ही तिरोभाव रहता है। (प्रमेय रत्नार्णव)

जीव के प्रकार—

१—शुद्ध, २—मुक्त ३—संसारी। स्फुलिंगवत् व्युच्चरण के समय आनन्द का तिरोधन होने से पूर्व तक की दशा—'शुद्ध'

अविद्या का सम्बन्ध होने से 'संसारी'—ये दो प्रकार के: १—दैव २—आसुर। दैव जीव के दो भेद: १—मर्यादामार्गीय २—पुष्टिमार्गीय।

मुक्त अवस्था में जीव आनंदांश को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द हो जाता है। यह आनंदांश पुष्टिमार्ग के सेवन से भगवान का नैसर्गिक अनुग्रह होने से प्राप्त होता है। [भारतीय दर्शन के आधार पर पृ० ५१७-५१८]

'मञ्जरी' का मूल

वल्लभ सम्प्रदाय में हमें यह विश्वास प्रचलित मिलता है कि वल्लभाचार्य स्वयं कृष्ण थे। वल्लभाष्टक में श्री गुसाँईजी ने लिखा है, "वस्तुत: कृष्ण एव"। वल्लभ में कृष्ण का आरोप होने से उनके समस्त परिकर की अवतारणा पृथ्वीमण्डल पर की गयी। जिस प्रकार भागवतादि में कल्पना है कि कृष्ण के जन्म के समय वेद की समग्र ऋचायें गोपी बनीं, मन्त्र गोप तथा अन्य दैवी जीवों ने भी लीला के लिए जन्म लिया; उसी प्रकार के एक उद्देश्य के लिए वल्लभाचार्य में कृष्ण ने आदि स्वरूप हो पुन: अवतार लिया। वल्लभाचार्य के अवतार का कारण कृष्णावतार से भिन्न है। सम्प्रदायों की दृष्टि से तो यह अवतार मायावाद के खण्डन के लिए था। शङ्कर के मायावाद ने भारत में अपना प्रबल प्रभुत्व जमा लिया था; सम्प्रदाय के निजी अभिप्राय से यह कल्पना की गयी है कि सारस्वत कल्प में कृष्णावतार के समय अनेकों भक्तों को तो ठाकुरजी का धाम मिल गया, अनेकों उनसे विमुख होकर फिर भी रह गये। ये सभी दैवी जीव थे। इनका उद्धार करने के लिए श्री वल्लभ का अवतार हुआ।

वस्तुत: जब हम वल्लभाचार्य के जीवन पर प्रकाश डालते हैं तो प्रारम्भिक अवस्था में उनमें हम मायावाद के खण्डन करने वाला प्रबल तार्किक ही पाते हैं। उन्होंने स्थान स्थान पर मायावाद का खण्डन कर वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा की। विजयनगर में उनके तर्क से प्रभावित होकर वैष्णवों के विविध सम्प्रदायों ने उन्हें अपने मार्ग में अभिषिक्त करने का प्रस्ताव रखा था। उस समय तक स्पष्ट है कि उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय की कल्पना नहीं की थी। बाद में उन्होंने विष्णुस्वामी सम्प्रदाय स्वीकार किया और तब अपने सम्प्रदाय की नींव डाली। अपने सम्प्रदाय की नींव डालते समय भी, उनमें स्वयं

कृष्ण का अवतार होने की भावना नहीं थी, पर उनकी महातेजस्विता और विविध विरोधियों के समक्ष अद्वितीय सफलता ने उनके भक्तों को प्रभावित किया। वे उनमें महापुरुषत्व के दर्शन करने लगे। वल्लभाचार्य ने अधिक से अधिक गुरुत्व धारण किया। 'श्री वल्लभ गुरु तत्व बतायौ लीला भेद सुनायो'। शनैः शनैः उन्हीं के समय में उनके सम्प्रदाय के अन्दर श्री वल्लभकुल के प्रति महान श्रद्धा उदय हुई और उनमें अवतार होने की भावना जड़ पकड़ने लगी। सम्प्रदाय के पुराण का आरम्भ हो उठा। पर यह सम्प्रदाय की पौराणिकता श्री गोसाँई विट्ठलनाथ के समय में, सम्भवतः उन्हीं की प्रेरणा और उद्योग से विकसित, तथा पल्लवित होने लगी, और हरिरायजी ने गोकुलनाथजी के साथ उसे पूर्ण कर दिया। सम्प्रदाय के सिद्धान्त-ग्रंथों का निर्माण तो श्री वल्लभाचार्य कर गये थे। उनकी दृष्टि से भगवान की लीला में सम्मिलित होने और उसके रसका आनन्द उपलब्ध करने के लिए भक्त भगवान की पुष्टि अथवा अनुग्रह पर निर्भर था—अतः यह मार्ग पुष्टिमार्ग था। उस पुष्टि को पाने के लिए कृष्णार्पण होना आवश्यक था। दार्शनिक दृष्टि से यह मार्ग 'शुद्धाद्वैत' था। गोसाँई विट्ठलनाथजी ने उसे सम्प्रदाय बना दिया। आचार्यजी के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की व्याख्यायें की गयीं, उनके कृत्यों का उनके सिद्धान्तों की दृष्टि से एक समन्वय किया गया, जहाँ समन्वय नहीं हो सका वहाँ किसी अलौकिक कथा द्वारा समाधान प्रस्तुत किया गया। ये गोसाँई विट्ठलनाथजी थे जिन्होंने अष्टछाप के रूप में अष्ट-सखाओं की स्थापना की। अतः पुष्टिमार्ग के साम्प्रदायिक ग्रन्थों का निर्माण गोसाँई विट्ठलनाथजी के समय में हुआ। सम्प्रदाय में स्वयं गोसाँईजी को भी पूर्ण पुरुषोत्तम का रूप प्रदान किया गया। 'जो प्रमुख की यह रीति है, जो जब बैकुण्ठ सों भूमि पर प्रकट होयबे की इच्छा करते हैं, तब वैकुण्ठवासी जो भक्त है, सो पहले भूमि पर प्रकट करत हैं सो तैसे ही श्री आचार्यजी, श्री गुसाँईजी, श्रीपूर्ण पुरुषोत्तम को प्राकट्य हैं (वार्ता प्रसङ्ग १० सूरदास, हरिरायजी कृत भावप्रकाश)

इस मान्यता का परिणाम यह हुआ कि वल्लभाचार्यजी और गोसाँईजी के समस्त परिवार और भक्त-मण्डली का भी वैसा ही

अलौकिक दैवी रूप कल्पित किया गया। कृष्ण के सखाओं के नाम से इन सखाओं को भी अभिहित किया गया। पर इस प्रकार का आरोप गोस्वामी गोकुलनाथजी तक तो नहीं मिलता। उन्होंने अष्ट सखाओं के वर्णन में ऐसे अलौकिक, दूसरे शब्दों में, लीला रूपों का उल्लेख कहीं नहीं किया। 'भगवदीय' ही बताया है। 'श्री० आचार्य महाप्रभुजी की प्राकट्यवार्ता' में जहाँ महाप्रभुजी के अन्य चमत्कारिक कृत्यों का उल्लेख है वहाँ एक पक्षी के सम्बन्ध में श्री आचार्यजी ने कृष्णदास मेघन को यह सूचना दी है 'यह पक्षी रासलीला में लीला परिकर में है, वृन्दावन में। यह भगवदीय है, लीला को सम्बन्धी है।'—पर यहाँ अभी नामकरण नहीं हुआ है। केवल स्थूल धारणा यह बनने लगी है कि लीला के परिकर के प्राणी दैवी जीव हैं। वे ही लीला-प्राप्ति के अधिकारी हैं। इसमें दामोदर हरसानी (हमला) अथवा कृष्णदास मेघन का लीला रूप गोकुलनाथजी ने निर्धारित नहीं किया। इसी प्रकार अष्ट सखाओं में से भी किसी का रूप निर्धारित नही हुआ। पर हरिरायजी 'भाव प्रकाश' में प्रत्येक चरित्र का वर्णन ही लीला रूप का परिचय देते हुए करते हैं। उदाहरण के लिए सूरदास के सम्बन्ध में उन्होंने सबसे आरम्भ में लिखा है—

"सो ये सूरदासजी लीला में श्री ठाकुरजी के अष्ट सखा हैं, सो तिन में ये कृष्ण सखा को प्राकट्य हैं।" श्री परमानन्दजी के लिए लिखा है : "सो ये परमानन्दजी लीला में अष्ट सखान में 'तोक' सखा को प्राकट्य है।" यही नहीं प्रत्येक भक्त का सखी रूप भी आध्यात्मिक परिचय के लिए दिया गया है। यहाँ अष्टछाप के ऐसे समस्त रूपों की तालिका देने से यह सब स्पष्ट हो जायगा।—

नाम भक्त	लीलात्मक स्वरूप			
	सखा	सखी	भगदंग स्वरूप	लीला विभिन्न स्वरूपासक्ति
सूर	कृष्णसखा	चम्पकलता	वाक्	श्री मथुरेशजी
परमानन्ददास	तोक	चन्द्रमाला	जिह्वा	श्री नवनीतप्रिया
कुंभनदास	अर्जुन	विशाखा	श्रोत्र	श्री गोवर्धननाथजी
कृष्ण सखा	ऋषभ	श्री ललिता		
छीत स्वामी	सुबल	पद्मा	मुख	श्री विट्ठलनाथजी

गोविन्दस्वामी	श्रीदामा	भामा	नेत्र	श्री द्वारिकाधीशप्रभु
चत्रभुजदास	विशाल	विमला	त्वचा	श्री गोकुलनाथजी
नन्ददासजी	भोज	चन्द्ररेखा	उदर	श्रीगोकुलचन्द्रमाजी

इस संप्रदायिक रहस्य निरूपण का कार्य यहीं नहीं रुका। विविध सखियों के रंग, रूप, वस्त्र, सेवा आदि सबका विधान किया गया। जैसे दामोदरदास हरसानी का लीलास्वरूप ललिताजी, रंग गोरोचन, प्रभा उज्ज्वल लाल संयुक्त, वस्त्र का रंग मयूर पुच्छ, मुख्य सेवा पान की बड़ी, चातुर्य मध्या मुख्य स्नेह वर्धन, भाव सख्य, वाद्य वीन। इस प्रकार अन्य सखियों के सम्बन्ध में भी विस्तार पूर्वक निरूपण हुआ। फलतः पुष्टि मार्ग और उसके पूरे परिकर की रहस्य गाथा का एक महान अंश ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत हो गया है।

पुरुषों को सखारूप माना गया, यह तो ठीक है, पर उनमें सखी रूप का आरोप क्यों हुआ? इस विषय पर हरिरायजी ने प्रकाश डाला है:—

"तहाँ कहत हैं जो श्री भागवत में कहे हैं जो—जब श्री ठाकुरजी आप बन में गोचारन लीला में सखान के संग पधारत हैं, सो सगरी गोपीजन लीला को अनुभव करत हैं। सो घर में सगरी बन की लीला गान करत हैं। ता पाछें जब श्री ठाकुरजी संध्या समय बनते घरकूँ आवत हैं, ता पाछें रात्रि कों गोपीजन सों निकुञ्ज में लीला करत हैं। सो तब अन्तरङ्गी सखान को विरह होत है, तब वे निकुंज लीला को गान करत हैं, अनुभव करत हैं। सो काहे तें? कुञ्ज में सखीजन हैं सो तिनके दोय स्वरूप हैं, सो कहत हैं:—पुंभाव के सखा और स्त्री भाव की सखि। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव तथा रात्रि कों सखि द्वारा अनुभव है।"

इसीलिए प्रत्येक भक्त के दो स्वरूप मिलते हैं, एक सखा रूप, दूसरा सखी रूप; एक दिन का, एक रात्रि का। यह स्थिति तो इस विषय में वल्लभ संप्रदाय की है। पर इस सम्बन्ध में यह संप्रदाय अकेला ही हो ऐसी बात नहीं है। चैतन्य संप्रदाय में भी ठीक ऐसा ही सम्प्रदाय-विधान प्रतीत होता है। वल्लभ-सम्प्रदाय की मान्य प्रामाणिक पुस्तक 'सम्प्रदाय प्रदीप' में पं० गदाधरदासजी ने "विष्णु-स्वामिन उपसंप्रदायश्चैतन्यः" से विष्णुस्वामी का उपसंप्रदाय

'चैतन्य-संप्रदाय' बताया है। उन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय को भी विष्णु-स्वामी का संप्रदाय माना है। इस प्रकार वल्लभ-सम्प्रदाय के विद्वानों ने चैतन्य सम्प्रदाय से अपना मौलिक सम्बन्ध सिद्ध किया है।

इस चैतन्य-सम्प्रदाय में चैतन्य महाप्रभु कृष्ण हैं। उन्होंने राधा के प्रेम-भाव रूप में जन्म लिया, जिससे वे राधा के कृष्ण-प्रति प्रेम का स्वाद ले सकें। अतः इस दृष्टि से चैतन्य राधा का भी रूप थे। राधा-रूप हुए बिना उस प्रेम का आस्वाद सम्भव नहीं था। चैतन्यचरितामृत में कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने लिखा है :—

"श्री राधायाः प्रणय महिमा कीदृशो वानयेवा,
स्वाद्यो येनोद्भुत मधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं रेति लोभा।
उद्भवास्यः समजनि शची गर्भ सिन्धो हरीन्दुः"

फलतः इस सम्प्रदाय के छः गोस्वामी तथा अन्य अनुयायी भी गोपी भाव युक्त माने गए हैं।

"नाना स्थाने जन्में जन सखासखीगन
पुनः सबे असि प्रभूर सहित मिलन।"

राधा को प्रेम से भी ऊपर का महाभाव माना गया, और राधा की सखियां उस महाभाव सागर की लहरियाँ हुईं।

"प्रेमेर परमभाव महाभाव जानि
सेइ महाभाव रूपा राधा ठाकुराणी
भावेर लहरी यत ललिता बिसाखा
सत्य कहि भावपूर्णमयी श्री राधिका।"

जिस भाव से जिस अनुयायी ने सेवाभाव ग्रहण किया, उसी भाव की गोपी या मञ्जरी से उसको विभूषित कर दिया गया। रूपगोस्वामी, रूप मञ्जरी हैं, रघुनाथ रसमञ्जरी, जीव गोस्वामी विलासमञ्जरी, आदि। 'मञ्जरी' क्या ? प्रधान सखियों की सखियाँ मञ्जरी कहलाती हैं। इस विकास में चैतन्य सम्प्रदाय में हमें तीन स्थितियाँ स्पष्ट प्रकट होती हैं।

एक, जिसमें चैतन्य के अनुयायी सखा रूप में कल्पित किये गए हैं : मणीन्द्रमोहन बोस ने लिखा है : "महाभारत में कृष्ण विष्णु

है, युधिष्ठिर धर्म है, अर्जुन इन्द्र है, भीम पवन है, इसी प्रकार अन्य पात्र भी। यह विश्वास है कि जब ईश्वर का अवतार होता है तब उसके स्वर्ग के साथी भी पृथ्वी पर उसके परिकर की भाँति जन्म लेते हैं, इन्हीं सिद्धान्तों पर बङ्गाली वैष्णवों ने चैतन्य और उसके साथियों को द्वापर युग के कृष्ण और इसके साथियों के रूप में माना है।"

"In the Mahabharat, Krishna is Vishnu, Judhisttira is Dharma, Arjuna is Indra, Bhima is Pavana and so on with other personages. It is also believed that when God incarnates Himself His associates in heaven are also born as His associates on earth. Working on this principle the Bengali Vaisnavas have identified Chaitanya and his Companions with Krishna and his associates in Dvapara Age" [Journal of the Department of letter of the Calcutta Univercity vol XIII.]

इस नियम से चैतन्य कृष्ण हैं, उनकी स्त्री लक्ष्मी, अद्वैत महादेव, नित्यानन्द बलराम हैं। और

अभिराम ठाकुर—श्रीदामा
सुन्दरानन्द—सुदामा
धनञ्जय पण्डित—वसुदामा
गौरीदास पण्डित—सुबल आदि [गौरंगनोद्देसदीपिका]

फिर दूसरी अवस्था में चैतन्य के अनुयायी सखी रूप में परिकल्पित किये गये:

गदाधर पण्डित—राधा
रूपगोस्वामी—ललिता
राय रामानन्द—विशाखा, आदि।

तीसरी अवस्था में सखियों की सखियाँ—मञ्जरियाँ—भी इस आरोप का विषय बनायी गयीं।

लवङ्ग मञ्जरी हय गोसाँई सनातन
रति मञ्जरी हय रघुनाथदास
अनन्त मञ्जरी हय गोपाल भट्ट आदि [रागमाला]

राधा 'महाभाव' प्रेम से ऊपर, इस दिव्य प्रेम के दो प्रकार; मुख्य तथा गौण; मुख्य में पाँच सूक्ष्मतर भाव: शान्त, पवित्र, प्रेम, वात्सल्य, और मधुर; गौण के सात: हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स। इन बारहों भावों का अपना अपना रङ्ग: श्वेत चित्र, अरुण, शोण, श्याम, पाण्डुर, पिङ्गल, गौर, धूम्र, रक्त, काल तथा नील [भक्तिरसामृत]

मणीन्द्रनाथ घोष का कहना है कि ये बारह सूक्ष्म मनोभाव तुरन्त ही हमें राधा की बारह सखियों का स्मरण दिलाते हैं। "These twelve finer emotions at once remind us of the twelve Sakhis of Radha". सखियों के रङ्ग की कल्पना की गयी है;

श्री ललिता जिइ गौरचना वर्ण....
श्री विशाखा जिई विद्युत वर्ण आदि [गुणालिका]

इन वैष्णवों ने भी केवल रङ्गरूप का उल्लेख ही नहीं किया, वस्त्र तथा आयु भी निर्धारित करदी है।

प्रश्न यह है कि इन दोनों सम्प्रदायों में यह रूपक कल्पना स्वतन्त्र उदय हुई, और संयोग ही है कि इस प्रकार का साम्य होगया, क्योंकि दोनों के सम्प्रदायों का दार्शनिक स्थूल आधार एक ही था: वल्लभ 'वस्तुत: कृष्ण एव" ठाकुरजी और स्वामीनीजी दोनों एक। चैतन्य कृष्ण और राधामय हैं। अथवा एक ने दूसरे से ग्रहण की।

यह आरोप आकस्मिक नहीं हो सकता, यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है। कारण यह है—दोनों सम्प्रदाये एक ही समय में पल्लवित हो रहे थे। एक सम्प्रदाय के व्यक्ति दूसरे से अपरिचित नहीं थे। श्री वल्लभाचार्यजी कृष्ण चैतन्य से मिले ही थे। विट्ठलनाथजी के समय में रूप सनातन मथुरा-वृन्दावन में थे ही। [देखो कृष्णदास की वार्ता, अष्ट छाप में]। वरन् पहले श्रीनाथजी की सेवा बंगाली

वैष्णव ही करते थे। वार्ताकार ने उनकी चुटिया में किसी देवी की मूर्ति का उल्लेख कर उन्हें शाक्त प्रकट किया है, पर शाक्त का महाप्रभु वल्लभाचार्य कभी श्रीनाथ की सेवा नहीं सौंपते। दोनों सम्प्रदायों का मूल स्रोत धर्म की स्थापना की प्रस्थानत्रयी और भागवत ही मानी जायगी। उसके आधार पर सखीभाव का आरोप होना सम्भव प्रतीत नहीं होता। इस भाव का किसी प्रकार बीज उदय हो जाने पर उसके विकास और वृद्धि के लिए तो इनमें से बहुत सामग्री मिल सकती है। पर मूलभाव का इस प्रकार उदय इन मूल स्रोत ग्रन्थों से नहीं हो सकता था कि एक पुरुष सखा भी हो सकता है तथा सखी भी। तब सम्प्रदाय की आन्तरिक आवश्यकताओं में ही इस भाव के होने के बीज मिल सकेंगे।

चैतन्य सम्प्रदाय में यह मान्यता है कि महाभाव राधा के भाव को लेकर ही कृष्ण ने चैतन्य का अवतार ग्रहण किया। यही कारण है कि हमें चैतन्य महाप्रभु के जीवन में ऐसे स्थल मिलते हैं जबकि उन्होंने भावातिरेक और भावावेश में विह्वल हो अपनी सुधि बिसरा दी है। उनमें इसलिए भावपक्ष की प्रधानता थी। वल्लभ-सम्प्रदाय में वल्लभ को ठाकुरजी और स्वामिनीजी से अभिन्न माना है, तब भी वल्लभ के जीवन में हमें वह भावावेश नहीं मिलता, आचार्यत्व और सिद्धवाक्पतित्व मिलता है। वार्ताकार ने परमानन्ददास की वार्ता में एक स्थल पर श्री वल्लभाचार्य के बेसुध होने का उल्लेख किया है।

"तब परमानन्ददास अपने मन में विचारे जो—या समय श्री आचार्य जी को मन तो ब्रजलीला में श्री गोवर्धननाथजी के पास है। तासों विरह को पद गाऊँ, जामें एक-एक क्षण कल्प समान जाय। सो यहः—

राग सारठा—'हरि तेरी लीला की सुधि आवै'

यह पद परमानन्द ने गाया। सो यामें यह कहें जो—'हरि तेरी लीला की सुधि आवे' सो ताही समय श्री आचार्यजी आपु लीला में मग्न हो गए। ....जो तीन दिना लों श्री आचार्यजी को मूर्छा रही"

इस प्रकार की किसी घटना का उल्लेख वल्लभ-चरित्र के सबसे

प्रामाणिक लेखक कवि गदाधर ने 'सम्प्रदाय-प्रदीप' में कहीं नहीं किया। किन्तु यदि इसको विशेष महत्वपूर्ण न भी माना जाय, तो भी ऐसी घटना आचार्यजी के जीवन में अनोखी, अपवाद स्वरूप ही मानी जायगी। फिर यह मूर्च्छा भावावेश के कारण नहीं, रस के आनन्द से उत्पन्न होने वाली नहीं, समाधि की भाँति आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप में अपनी रहस्य-लीला में मग्न होने के कारण है: इसमें अलौकिकत्व है। एक अन्तर यह भी है कि चैतन्य महाप्रभु अपने उद्योग से कीर्तनादि करते हुए भावरत होते थे। वल्लभ महाप्रभु भक्त के कीर्तन से स्मरण के द्वारा वह समाधि-योग प्राप्त करते थे।

इसी का परिणाम हमें यह मिलता है कि वल्लभ सम्प्रदाय का समस्त प्रमुख पद-साहित्य पृथक भाव योग का साधन नहीं रहा, वह सेवा प्रणाली में कीर्तन-नाम से एक अङ्ग मात्र रह गया है। सम्प्रदाय में जैसा विधान है, विशेष सेवाओं के अवसर पर विशेष कीर्तनों का प्रबन्ध किया जाता था, और वे कीर्तन, इसीलिए, ठाकुरजी के लिए, उन्हें रिझाने और प्रसन्न करने के लिए होते हैं, भक्तों को भाव-विह्वल करने के लिए नहीं।

चैतन्य सम्प्रदाय की भाँति वल्लभ-सम्प्रदाय में भी गोपी-भाव को प्रधानता दी गयी है, उनके प्रेम को श्रेष्ठ माना गया है। उस प्रेम की चाह भी तीव्र रूप में इस संप्रदाय में उपस्थित है। परन्तु यह प्रेम भावुकतापूर्ण उतना नहीं जितना अन्तर्गत और निजी है। साथ ही इसका उद्भव भगवद्-अनुग्रह पर निर्भर करता है। वह अनुग्रह गुरु के द्वारा कृष्णार्पण होकर निरन्तर गोपी भाव से सेवा करने से ही मिले तो मिले। फलतः यह प्रेम भी प्रेमलक्षणा की कोटि का होते हुए भी सांप्रदायिक प्रणाली पर निर्भर करता है। इस सब विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि भक्ति का रस के रूप में इतना प्राबल्य वल्लभ सम्प्रदाय में नहीं मिलेगा जितना चैतन्य में।

भक्तिरस का जैसा विस्तृत-विवेचन और निरूपण चैतन्य सम्प्रदाय में हुआ है, सभी जानते हैं, उतना, किसी अन्य सम्प्रदाय में नहीं हुआ। रस पर अत्यन्त सूक्ष्म गम्भीर विवेचन करने वाले और उनकी आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ इसी सम्प्रदाय की अवधानता में लिखे गये हैं।

बंगाल में चैतन्य महाप्रभु से पूर्व सहजिया सम्प्रदाय का भी ...र था। सहजिया सम्प्रदाय विविध मतों का मिश्रण होते हुए भी वैष्णव धर्म की राधा-कृष्ण रति पर विशेष केन्द्रित प्रतीत होता है। यह राधा—कृष्ण को रति आध्यात्मिक जगत की वस्तु है, परन्तु उसके लिए प्रेम की अत्यन्त तीव्रता की आवश्यकता है। परकीया-प्रेम की तीव्रता के लिए, इस प्रेम-योग के लिए यथार्थतः एक परकीया-स्त्री या मंजरी की आवश्यकता मानी गयी। इस सम्प्रदाय में इसी आध्यात्मिक ध्येय की प्राप्ति के लिए, परकीया प्रेम को उत्कृष्ट और उत्तेजित करने के लिए काम-शास्त्र आश्रित विविध हार्दिक प्रेम-काव्यों का उद्गार हुआ। इसके प्रभाव से साहित्य भी अछूता नहीं रह सका। चण्डीदास और विद्यापति ही नहीं, जयदेव के वे अमर पद जिन्हें सुनकर चैतन्य महाप्रभु भाव-विभोर हो जाते थे सहजिया सम्प्रदाय से प्राप्त उन्मेष से नहीं बच सके हैं। इस प्रान्तीय भाव-धारा के फल स्वरूप चैतन्य में हमें वह भावातिशय मिलता है। वल्लभाचार्यजी के प्रचारक्षेत्र में ऐसा कोई भाव इतना उत्कट नहीं था। अतः चैतन्य–सम्प्रदाय में गोपीभाव चरित्र का अंग बना, वल्लभ में वह साधना का अंग बना।

इस विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि चैतन्य सम्प्रदाय के निजी स्वरूप और क्षेत्र में वे तत्व प्रस्तुत थे जो भक्त को गोपीरूप में भक्ति के लिए नियोजित करते थे। राधा के महाभाव का अनुभव करने के लिए जिन बारह रस तरङ्गों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे रस-लोक में सहज ही राधा की सखियाँ बन सकती थीं। उस रस में ही शृङ्गार की रति के परिपोषण के लिए विविध दास-दासियों और दूतियों की आवश्यकता होती है। इनको ही बङ्गाली वैष्णव-सम्प्रदाय ने मञ्जरी नाम दिया, और सहजिया ने वामाचार के लिए इस मञ्जरी को नाम रूपवाली परकीया-स्त्री, बना लिया।

अतः वल्लभ-सम्प्रदाय में पुरुषों के गोपी नाम रखे जाने से पूर्व यह प्रथा चैतन्य-सम्प्रदाय में प्रचलित हुई होगी। गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अपने संप्रदाय को दृढ़तर बनाने के लिए अपनी बंगाल-यात्रा के बाद इसकी उद्भावना की होगी, वही गोकुलनाथजी

से परिपल्लवित होती हुई, हरिरायजी और द्वारिकेशजी में पूर्ण हुई। इस सम्प्रदाय के मेधावी नियामकों ने उस रूप को लेकर उसका भावात्मक तत्व तो निकाल दिया, और साम्प्रदायिक रूप में रहने दिया, जिससे विविध-भक्तों, गोसाइयों तथा आचार्यजी में परस्पर आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थिर हो सके, और उनके कृत्यों की आध्यात्मिक व्याख्या हो सके।

सूर और तुलसी

"कथन की विशेषता"

तुलसी-सूर की तुलना होती ही रहती है। एक कहता है:—

सूर-सूर तुलसी शशी—

दूसरा 'तुलसी' को नवरत्न में सबसे पहला स्थान देता है। कोई केवल इतना ही कह देता है—

तुलसी गंग दुवौ भए, सुकविन के सरदार।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुलना करना बड़ा कठिन कार्य है। प्रत्येक कवि अपनी-अपनी प्रतिभा को लेकर आता है। निश्चय ही प्रत्येक की प्रतिभा में निरालापन होता है—मिलाने से नहीं मिलती है सूरत कोई। फिर भी मनुष्य नहीं मानता। उसे तुलना करने में, किसी को बड़ा किसी को छोटा बताने में बड़ा आनन्द आता है। वह जीवन का उत्कर्ष बड़े और छोटे शब्दों के द्वारा ही नापता है। संसार में यदि कोई शब्द महा अनिष्टकर हैं तो वे यही दो विशेषण हैं। मानव-बुद्धि से उत्पन्न इस तुलना की भावना न जाने कितनी अन्याय-बुद्धि उत्पन्न कर देती है! देव और बिहारी में कौन बड़ा है? इस विवाद ने कभी कितना उग्र रूप धारण किया था, कितनों को बजाने-बूझे दूसरों का दुश्मन बना दिया था? साहित्यिक विवाद वैयक्तिक संघर्ष हो गया। बिहारी को यदि छोटा समझ लिया जाय तो बिहारी के पृष्ठ-पोषकों की नाक नीची होगी, देव को छोटा कह दिया जाय तो देव के हिमायतियों को नीचा देखना पड़ेगा। देव और बिहारी का कुछ नहीं बिगड़ता—वे तो जो हैं वही बने रहते हैं, छोटे और बड़े तो उनके पक्षपातियों के मन के भूले हो जाते हैं—बात की बात होती है। अतः कवियों की तुलना घातक है। कवि एक स्रष्टा है, वह अपना जगत रचता है। प्रत्येक का संसार भिन्न होता है। वह देखने

ही योग्य, प्रशंसा करने योग्य, मुग्ध होने योग्य होता है। उसकी परस्पर तुलना कहाँ ? इस महाआकाश में अनेकों पिण्ड बिखरे पड़े हैं, कौन किसके ऊपर और कौन किसके नीचे है ? ऊँचे-नीचे का भाव तो सापेक्ष्य है। कवि जिस अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता है, वह निरपेक्ष होता है, तुलसी और सूर जैसे कवियों के सम्बन्ध में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उनकी कला निरपेक्ष है, उनकी कसौटी उनकी निजी है। उन्होंने अपना रूप बिलकुल अलग रखा है। दूसरे शब्दों में वे दोनों भिन्न जाति के हैं।

तुलसी प्रबन्धकाव्य लेखक हैं। सूर मुक्त लेखक हैं। सूर अपने काव्यावेग में मुक्त होकर एक ही विषय पर विविध पद लिखते चले जाते हैं। वे इतने गहरे जाते हैं कि तह में डोलते दिखायी पड़ते हैं। पर विस्तार उतना नहीं। उनका क्षेत्र सङ्कुचित है पर अगाध है। बार-बार उसी बात को कहते हैं, पर बड़े मजे से कहते हैं। पर तुलसी का इतना अवकाश नहीं। उन्हें प्रत्येक बात उचित मात्रा में ही कहनी है। उचित स्थान का भी ध्यान रखना है। स्वतन्त्र काव्यावेग की धारा प्रबन्ध और अनुबन्ध के दुकूलों में होकर बही है।

सूर की पुनरुक्तिश्रङ्खला में जो तृप्ति है उसे 'कथन की विशेषता' कहा गया है। तुलसी में कहीं इस कथन की विशेषता नहीं मिलती। यह वास्तव में ठीक ही है। सूर और तुलसी के मन्तव्यों में स्पष्ट अन्तर है। सूरदासजी वर्णन करने बैठे। वे जितना वर्णन चाहें कर सकते हैं। तुलसी कथा कहने बैठे हैं। उनमें कथन की विशेषता अपेक्षित रूप में ही आ सकती है।

यदि तुलसीदासजी राम के अयोध्या से लेकर लङ्का तक जाने के मार्ग का ही वर्णन करते चले जाते तो बिलकुल अनावश्यक होता और एक ऐसा पोथा जो कालिदास के मेघदूत से कहीं बड़ा होता, बन कर तैयार होता। उसमें भूगोल और जीव-जन्तु, वनस्पति, स्त्री और पुरुषों का वर्णन होता। वह साहित्य की इतनी वस्तु न होता—जितना भूगोल शास्त्र की। ऐसी दशा में बहुत से स्थलों पर केवल इसी शैली में कह देना भर—

आगे चले बहुरि रघुराई।
ऋष्यमूक पर्वत नियराई॥

पर्याप्त होता है। मार्ग में स्त्री और पुरुष मिलते, पशु-पक्षी मिलते, लताद्रुमादिक मिलते। इन पर राम का क्या प्रभाव पड़ता? प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से राम के व्यक्तित्व में ही सारी शेष सृष्टि का समावेश होना चाहिए। कल्पना का क्षेत्र राम के साथ ही रह सकता है। उससे पृथक होकर दूर जाकर वह प्रबन्ध की घनिष्ठता को विच्छिन्न ही करेगा और अस्वाभाविक हो जायगा।

केशव भी सूर की भाँति मुक्त कवि ही है—इसका अर्थ यह नहीं कि वे सूर की कोटि के हैं, पर उन्हें भी मुक्त होकर अपनी कल्पना में ऊहापोह करना अच्छा लगता है। इसलिए उन्होंने "रामचंद्रिका" जैसे प्रबन्ध-काव्य में भी स्थान-स्थान पर बड़े विशद वर्णन किये हैं जो बहुत सी सुन्दर युक्तियों से परिपूर्ण हैं। यदि प्रबन्ध काव्य में इन्हें न ठूँसा गया होता तो ये वर्णन बहुतों की दृष्टि में बहुत ही श्लाघनीय होते। परन्तु यही वर्णन विशदता अथवा कथन की विशेषता प्रबन्ध काव्य की घनिष्ठता को विरल कर रही है। ऐसी 'कथन की विशेषता' तुलसीदासजी में नहीं मिल सकती। वे राम से दूर नहीं जा सकते। फिर, मार्ग की जड़-चेतन वस्तुओं पर राम का क्या प्रभाव पड़ा—जब उसका प्रदर्शन भली प्रकार कथन की विशेषता के साथ कई स्थानों पर दिखा चुके, तो फिर 'आगे चले बहुरि रघुराई, ऋष्यमूक पर्वत नियराई।' जैसे कथन में कोई दोष नहीं। ऐसे स्थलों पर कथन की विशेषता कितनी ही आकर्षक क्यों न हो, श्लाघनीय नहीं हो सकती।

जब हनूमानजी रावण के समक्ष पकड़ कर ले जाये गये तब उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया—

सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाइ जासु बल बिरचत माया॥
जाके बल बिरञ्चि हरि ईशा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल शीश धरत सहसानन। अण्डकोस समेत गिरिकानन॥
धरै जो विविध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता॥
हरकोदण्ड कठिन जेहि भञ्जा। तेहि समेत नृप-दल-मद गञ्जा॥
खरदूषण त्रिसरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित-बल-साली॥

जाके बल लवलेश ते, जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जाकरि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

हनुमान से उनकी शक्ति का पता रावण को पहले लग ही गया था। फिर अङ्गद केवल अपना परिचय देने ही तो नहीं आये थे। उन्हें तो भारी काम सम्पादन करना था। ऐसी दशा में राम का परिचय बहुत से शब्दों में देना अनावश्यक ही था। दो शब्दों में उन्होंने अपने दूतत्व का परिचय दे दिया—'मैं रघुवीर दूत दसकन्धर', और अपना दूतत्व आरम्भ कर दिया। 'मम जनकहि तोहि मिताई' यहाँ से वे अपना दूत-कार्य सम्पादन करने लगे। अङ्गद की व्यवसायात्मिका बुद्धि का यह कैसा सुन्दर चित्रण है। यहाँ यदि अङ्गद भी हनुमान की तरह कहने लगता तो वह अङ्गद नहीं रहता। अङ्गद की व्यवसायात्मिका बुद्धि के कारण ही उसे दूत बनाकर भेजा गया था। ऐसी बुद्धि और गाम्भीर्य हनुमान में कहाँ? अतः हनुमान और अङ्गद के कथनों के अन्तर से 'कथन की विशेषता' को नहीं समझाया जा सकता। वास्तव में वह मुक्त वर्णन-शीलता तुलसी में नहीं। तुलसी की कला का आदर्श ही मुक्त नहीं। उसका मार्ग कठिन मार्ग है—अनेकों संयमों से घिरा हुआ, मर्यादा-मार्ग। सूर का मार्ग मुक्त है और कहीं कहीं उच्छृङ्खल भी।

सूरदास और गऊघाट

सूरदास का गऊ घाट से गहरा सम्बन्ध है। गोकुलनाथजी ने अपनी वार्त्ता में बताया है कि सूरदास गऊघाट पर रहते थे। यहीं महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने उन्हें अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया। इस कारण गऊघाट हिन्दी साहित्यकारों के लिए तीर्थ है और विशेष महत्व का स्थान है। इस गऊघाट के नाम से हमारे सामने कई प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। सूरदास गऊघाट पर क्यों रहते थे? इसमें कोई सन्देह नहीं प्रतीत होता कि सूरदास का जन्म गऊघाट से कहीं दूर हुआ था। फिर वे गऊघाट क्यों आये और क्यों ठहरे? इस सम्बन्ध में हमें कुछ प्रकाश डालना है।

वार्त्ता में उल्लेख है कि गऊघाट आगरा मथुरा के बीच में है। घाट शब्द से स्पष्ट है कि वह यमुना किनारे होगा। सन् १९३० अथवा ३१ में नागरी प्रचारिणी सभा आगरा की एक साहित्यिक गोट इस गऊघाट और सूर के स्थान की शोध के लिए चली। जन-श्रुति से रुनकता गाँव के पास एक स्थान को गऊघाट बताया गया। यमुना किनारे का वह स्थान गऊघाट हो सकता था। वहाँ के लोग भी उसे गौघाट कहते थे। पर वहाँ घाट के तो कोई चिन्ह नहीं थे। कैसे निश्चय हो कि यही गौघाट है। इस गोट ने वहाँ देख-भाल की। उन्हें वहाँ भूमि में एक पत्थर मिला। उस पर गऊघाट खुदा हुआ था। सर्व श्री महेन्द्र, प्रो० हरिहरनाथ टण्डन आदि इस दल में थे। उस पत्थर से निश्चय हुआ कि निर्विवाद यही गौघाट है। इस गौघाट पर यमुना से कुछ ऊँचाई पर एक छोटी सी कुटी बनी हुई है। शेष वहाँ इधर उधर कोई इमारत नहीं। तब यह स्थान सूर ने क्यों चुना होगा?

इतिहास से हमें कुछ प्रकाश मिलता है। अकबर के समय में

लगान आदि की दृष्टि से जो मण्डल बाँधे गये थे उनमें 'गऊघाट' एक मुहाल थी। और यह गऊघाट अङ्गरेजों के शासनकाल के आरम्भ तक एक मुहाल के रूप में चली आयी थी। इससे इतना प्रकट होता है कि अकबर के समय में यह स्थान अवश्य ही महत्वपूर्ण रहा होगा, तभी एक मुहाल ही इस नाम की बनायी गयी।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी अंडेल से आते हुए गऊघाट पर रुके। यहीं सूरदास से उनकी भेंट हुई। महाप्रभु का गऊघाट पर रुकना भी यह सिद्ध करता है कि उस समय गऊघाट प्रधान महत्व-पूर्ण स्थानों में था।

अब गऊघाट की स्थिति की भी किंचित परीक्षा की जाय। गऊघाट के पास कई महत्व के स्थान हैं। गऊघाट से लगभग एक मील आगरा की ओर यमुना किनारे रेणुका क्षेत्र है। रेणुका क्षेत्र परशुराम की माता के नाम से विख्यात है। यमदग्नि का यहीं आश्रम था। रेणुका से कुछ दूर पर वह तीर्थ है जिसे पच्छिमुहानो कहते हैं। कहा जाता है कि यहाँ पाण्डवों ने तपस्या की थी। और इस स्थान से कुछ दूर पर एक दूसरा प्रसिद्ध तीर्थ कैलाश है। अतः गऊ-घाट का स्थान ऐसे तीर्थों के परिकर में है। पास पास इतने तीर्थों के होने से क्या निष्कर्ष निकल सकता है? यही तो कि यह स्थान किसी काल में अत्यन्त महत्वपूर्ण थे।

इनसे भी अधिक ध्यान देने योग्य एक बात और है। गऊघाट से कुछ फर्लाङ्ग आगरा की ओर एक और ध्वस्त स्थान है। यह 'सरवर सुलतान' का स्थान कहा जाता है। सरवर सुलतान एक पहुँचा हुआ फकीर था। इसकी गिनती 'पञ्चपीरों' में है। इसका मूल स्थान, यदि मैं भूलता नहीं तो पञ्जाब का कोई 'नागौर' नामक स्थान है। इस फकीर की किसी काल में बड़ी मानता थी। फकीर तो मुसलमान था पर यह विश्वास था कि भैरोंजी उसके दूत थे। यह बात गऊघाट वाले स्थान से भी प्रतीत होती है। ऊपर सरवर सुलतान की समाधि बनी है, और नीचे के भाग में भैरोंजी का मन्दिर है, उनका त्रिशूल है, उन पर सिन्दूर चढ़ाया हुआ है। कुछ समय हुआ तब तक मथुरा के चौबों का इस स्थान पर एक विशाल मेला हुआ करता था। मथुरा में भी सरवर सुलतान का एक

स्थान है जिसकी पूजा होती है। गऊघाट पर यह सरवर सुलतान का मन्दिर या समाधि क्यों ? जनश्रुति में यह प्रचलित है कि किसी बड़े व्यापारी की नाव यहाँ फँस गयी थी। बहुत यत्न करने पर भी वह नदी में चल नहीं पा रही थी। तब उसने सरवर सुलतान की शरण ली। उसके नाम से नाव चल पड़ी। उसी व्यापारी ने यहाँ पर समाधि बनवायी और पूजा की। यह जनश्रुति सरवर सुलतान के सम्बन्ध में पञ्जाब में भी कहीं प्रचलित है ? इसकी सचाई की परीक्षा का तो यहाँ अवसर नहीं, एवं इतना अवश्य प्रतीत होता है कि गऊघाट किसी काल में व्यापारिक मार्ग भी रहा होगा इस स्थान से नदी के द्वारा माल इधर उधर आता जाता होगा।

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से पूर्व वृन्दाबन चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय का केन्द्र बन गया था। मथुरा कोई विशेष महत्व रखता नहीं था। गोवर्द्धन का भी कोई नाम नहीं जानता था। गोकुल भी वल्लभाचार्यजी ने स्थापित किया। फलतः लोगों की भक्ति किसी और ओर थी। बहुत सम्भव है कि इस क्षेत्र में उस काल में पौराणिक महापुरुषों की पांडवों और परशुराम की प्रतिष्ठा रही हो। और इनका केन्द्र स्थान गऊघाट रहा हो ?

अकबर के समय में फलतः धार्मिक दृष्टि से और व्यापार तथा राजनैतिक दृष्टि से हमें गऊघाट का अन्य स्थानों से विशेष महत्व प्रतीत होता है। कभी यहाँ विशेष चहल-पहल रही होगी। धार्मिक जनों का यहाँ विशेष निवास रहा होगा। तभी सूरदास ने भी इसी स्थान को अपने निवास के लिए चुना होगा। हम चाहते हैं इस विषय पर आगे और शोध हो, तथा विशेष चर्चा हो, जिससे इस स्थान का महत्व निश्चित हो सके।

ब्रज-भाषा कविता

सूरदासजी के विशेष उल्लेख के साथ

स०—सत्यनारायणजी का एक ब्रजभाषा स्तवन तो सुनिये—

बरन-बरन में मोहन की प्रतिमूर्ति बिराजत ।
अच्छर आभा जासु अलौकिक अद्भुत भ्राजत ॥
देशकाल अनुसार भाव निज व्यक्त करन में ।
मंजु मनोहर भाषा या सम कोउ न जग में ॥
बरनन को करि सकत भला तिहि भाषा कोटी ।
मचलि मचलि जामें मांगी हरि माखन रोटी ॥

बा०—बहुत सुन्दर ! सत्यनारायणजी तो अपनी भाषा के सच्चे भक्त थे, किन्तु ब्रजभाषा की प्रशंसा केवल कवियों ने ही नहीं की है। वरन् उसकी तद्भव प्रकृति, संज्ञाओं एवं क्रियापदों के ओकारान्त रूपों तथा कोमल वर्णों और शब्दों के लोच के कारण भाषा-वैज्ञानिक भी इसके श्रुति माधुर्य पर मुग्ध हैं।

स०—कृष्ण-काव्य से सम्बन्धित होने के कारण इसका माधुर्य और भी बढ़ गया, और साथ ही इसकी व्यापकता केवल इसके जन्म-स्थान मध्यवर्ती शौरसेन प्रदेश में ही सीमित न रही, वरन् गुजरात और बङ्गाल तक पहुँच गयी । इसका साहित्य भी अत्यन्त विशद और सौष्ठवमय है।

बा०—हाँ, आप जल्दी में न हों तो इसी सरस सुषमामय साहित्य की कुछ चर्चा करें, 'काव्य शास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्'

स०—ऐसे पुण्यकार्य के लिए समय का क्या अभाव ? किन्तु यह बतलाइये कि काव्य के सम्बन्ध में आप किन-किन बातों पर विचार करना चाहते हैं ?

बा०—वैसे कोई विवाद की बात तो है नहीं, हम सभी इस बात पर सहमत हैं कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'। पश्चिम के आलोचक भी इससे आगे नहीं जा सके। उन्होंने कल्पना को कुछ अधिक मान दिया है किन्तु इमोशन या भाव को वे भी अस्वीकार नहीं कर सके हैं। भाव और इमोशन दोनों से ऊँचा और परिमार्जित है 'रस'। रस के उपकरणों में भाव-पक्ष और कलापक्ष दोनों ही आते हैं। सौभाग्य से ब्रजभाषा काव्य के दोनों ही अङ्ग पुष्ट हैं। हाँ तो हिन्दी-काव्य-गगन के सूर्य सूरदासजी के सम्बन्ध में कुछ कहिये।

स०—सूर का काव्य वैसे तो सागर है, किन्तु ब्रजभाषा के कोमल हार्द के अनुकूल उन्होंने तीन ही रसों को विशेष महत्व दिया है—वात्सल्य, शृङ्गार तथा शान्त। वात्सल्य में तो दुनियाँ का कोई कवि उनकी छाँह भी नहीं छू सका है, लीजिये उसी से श्रीगणेश करें। जैसे-जैसे सूर के बालकृष्ण बढ़ते गये हैं वैसे-वैसे ही उनकी अवस्था का सूर ने वर्णन किया है, मानो आजकल के कुशल मनोवैज्ञानिक की भाँति उन्होंने बालक के उन्नति-क्रम की दैनिकी रक्खी हो। उनके तोतले बोलों पर यशोदा मैया न्योछावर हो जाती हैं और मुख चूमती हैं।

'बोलत श्याम तोतरी बतियाँ हँसि-हँसि दँतियाँ दूमें।
सूरदास वारी छबि ऊपर जननि लाल मुख चूमें।

रस-शास्त्र की दृष्टि से भी इन दो पंक्तियों में सभी उपादेय सामग्री आगयी है।

बा०—दो पंक्तियों में क्या, एक-एक वाक्य में वह रस भरा है जो उफना पड़ता है। भगवान कृष्ण की बाल-चेष्टाओं में सूर ने नन्द-यशोदा के आमोद-प्रमोद का भी जो चित्र उपस्थित किया है उसे सुनिये—

कबहुँक दौरि घुटरुवनि लपकत, गिरत उठत पुनि धावैरी
इतते नन्द बुलाइ लेत हैं उतते जननि बुलावैरी
दम्पति होड़ करत आपस में श्याम खिलौना कीन्हौरी

अब आप कोई ऐसा पद सुनाइए जिसमें दो-चार बाल-क्रीड़ाओं का एक साथ वर्णन हो, बाल-स्वभाव का पूरा चित्र उतर आये और जिसे वास्तव में स्वभावोक्ति कह सकें।

स०—लीजिए, इस पद में आलम्बन का ही नहीं, उद्दीपनों और आश्रय के सञ्चारियों का भी पूरा-पूरा वर्णन है—

हरि अपने आगें कछु गावत
तनक तनक चरनन सों नाचत मनही मनहि रिझावत
बाँह उचाइ, काजरी-धोरी गैयन टेरि बुलावत
कबहुँक बाबा नन्द पुकारत, कबहुँक घर में आवत
माखन तनक आपने कर लै तनक बदन में नावत
कबहुँक चितै प्रतिबिम्ब खम्भ में लौनी लिए खवावत
सूरस्याम के बाल चरित ये नित देखत मन भावत

कहिये, पसन्द आया ?

बा०—बड़ा सुन्दर पद सुनाया। सूर का काव्य तो सागर ही है। उसमें एक से एक बढ़िया रत्न भरे पड़े हैं। मुझे तो दो बातें बड़ी मनोवैज्ञानिक लगीं : अपने आगे कछु गावत; बालक जो एकान्त में गाता है वह कहने से नहीं गाता है और सारा आनन्द तो 'दुरि देखत' में आगया है। यशोदा मैया जानती थीं कि यदि सामने आजायँगी तो बालक शरमा जायगा और फिर यह आनन्द न मिलेगा। खम्भ के पीछे मुस्कराती यशोदा की झाँकी सामने आजाती है।

स०—जहाँ तक वात्सल्य का सम्बन्ध है स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिता में तो कोई भी कवि सूर की समता नहीं कर सका है। आपने यह पद तो सुना ही होगा।

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायौ
मोसों कहत मोल को लीनों तोहि जसुमति कब जायौ
कहा कहौं इहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तात
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर
तू मोही को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै
मोहन कौ मुख रिस समेत लखि जसुमति पुनि-पुनि रीझै
सुनो कान्ह बलभद्र चबाइ, जनमत ही कौ धूत
सूरस्याम मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत ॥

कृष्ण की खीझ, मां की रीझ, स्त्री-सुलभ सौगन्ध का आश्वासन और घरेलू वातावरण, कैसा अनुपम बन पड़ा है ? इसमें माँ के हृदय के कपाट खुले हुए दिखायी देते हैं।

बा०—माता यशोदा की मनोदशाओं के चित्रण के विषय में कुछ न पूछिये। इसमें सूर पराकाष्ठा पर पहुँच गये हैं। माता की स्वाभाविक आशङ्का और चिन्ता के अनेकों स्थल मिलते हैं। देखिये कृष्ण मथुरा में अपने माता-पिता के पास पहुँच गये हैं, फिर भी यशोदा को चिन्ता दूर नहीं होती। असली माँ को भी सिखावन दिये बिना उनका सन्तोष नहीं होता—

सँदेसौ देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करती ही रहियो ॥
जदपि टेव तुम जानत उनकी तऊ मोहि कहि आवै।
नित उठि मेरे लाल लड़ैते ऐ माखन रोटी भावै ॥

यों तो जो बात सूर ने कृष्ण के सौन्दर्य के बारे में कही वही बात सूर के वात्सल्य वर्णन के सौन्दर्य के बारे में कही जा सकती है।

जित देखौं मन भयो तितहि कौ,
भरे-भरे कौ चार री।

भरे घर का चोर क्या छोड़े, और क्या ले जाय ? हाँ अब कुछ उनके शृङ्गार वर्णन के सम्बन्ध में कहिये।

स०—शृङ्गार का सूर में सहज प्रेरणा जन्य आरंभ हमें मिलता है। राधा से कृष्ण का अनायास ही साक्षात्कार हो जाता है, उसे देखकर वे पूछ बैठते हैं :—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कबहुँ ब्रज खोरी ॥
हम काहे को ब्रज तन आवत, खेलत रहत आपनी पौरी।
स्रवनन सुनत रहत नँद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी ॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलहु चलो संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी ॥

इसमें न राधा के रूप का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है, न युवक-युवतियों की लुका-छिपी है। एक सीधा सच्चा परिचय है। सहज

ही कृष्ण ने प्रश्न किया, राधिका से। रति का बीज इस प्रश्नोत्तर में किस प्रकार भीतर ही भीतर अंकुरित और पल्लवित हुआ।

आ०—यथार्थ में शृङ्गार रस का यह सौम्य विकास है। मिलन में तो नाटकीय है, पर उसके उपरान्त जलधि-गाम्भीर्य भर गया है। सूर की यही तो विशेषता है जो बरबस हृदय को पकड़ लेती है। जलधि-गाम्भीर्य के साथ उसकी लहरों का सा चाञ्चल्य भी है, समस्त पद विनोद के भाव से जगमगा रहा है, सहज प्रेरणाजन्य भाव के साथ रसिकता का मेल भी सूर ही बैठा सकते हैं जो 'भुरइ' शब्द में व्यक्त हो जाता है, भोरी शब्द भी उतना ही सार्थक है। प्रेम की गहरी गांठ यहीं लगायी गयी है, फिर भी खेल ही खेलने की यहाँ प्रेरणा है, तभी इस प्रेम की जड़ ऐसी पक्की जमी है कि वह भुलाये भी नहीं भूली जाती। 'लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसे छूटे।'

स०—इस प्रकार प्रेम को वात्सल्य के घेरे से निकालकर राधा के सहारे रति का रूप सूर ने दे दिया और अब तो प्रेम की पाटी में सब कुछ ज्ञान दोनों ने स्वयं ही प्राप्त कर लिया। कदम्ब का वृक्ष, यमुना पुलिन, कृष्ण और उनके हाथ में मुरली—इस मुरली ने तो बड़ा गजब ढाया है। संयोग-शृङ्गार के उद्दीपन में मुरली-ध्वनि क्या है? कृष्ण को स्वयं दूत बना देने वाली है। गोपियाँ उनके अधर से लगी हुई मुरली से सौतिया डाह करने लगती हैं। 'मुरली तऊ गोपालहिं भावति'। रूप-सौन्दर्य, दधि-दान, मुरली-माधुरी, रास-नृत्य, मान और होली सभी संयोग-पक्ष के विकास की विविध अवस्थायें हैं, एक से एक अनोखे पद हैं, किन-किन का उल्लेख किया जाय?

आ०—सचमुच ऐसा ही है। सूर के प्रेम की विशेषता यह रही है कि वह उनके जीवन-व्यापार से अनुस्यूत रहा। वियोग पक्ष में भी सूर अनुपम ही हैं।

स०—वियोग-शृङ्गार के वर्णन में तो इस कवि ने संयोग-शृङ्गार से भी अधिक विलक्षणता दिखायी है। उसमें विरह का तो पूर्ण-परिपाक है ही, गोपियों का शरीर-दिल न जाने कितनी ठेसों से चूर चूर हो चुका है, उस एक भारी चोट तब लगी जब वर्षा आ गयी। आह! वर्षा वियोगिनियों के लिए नहीं, तभी तो अत्यन्त

टूटे हृदय से अपने अवरुद्ध हृदयोच्छ्वास छोड़ती हुई गोपी कहती है —

बरु ए बदराहू बरसन आये।
अपनी अवधि जानि नँदनन्दन
गरजि गगन घन छाये।

'बरु' शब्द को देखिये। यह गोपियों की दीन दशा पर बरबस रुलाई ले आता है। वर्षा में तो सभी परदेशी आजाते हैं, तो क्या बादल, बदराह बादर आगये और कृष्ण नहीं आये। शोक और वेदना की कहीं सीमा है?

सुनियत हैं सुरलोक बसत सखि सेवक सदा पराये

ऐसे होते हुए भी ये बादल तो आगये, पर स्ववश होते भी 'मधुबन बसत' कृष्ण नहीं आये। इन्होंने आकर 'तृण किए हरित हरषि बेलीं मिलि दादुर मृतक जिवाए।'— वियोगिनियों के लिए दूसरों का संयोग-सुख विष से भी विषम होता है।

बा०—एक विरह का पद मुझे भी स्मरण हो आया—

बिनु गोपाल बैरिनि भई कुँजें
तब ये लता लगति अति सीतल
अब भईं विषम ज्वाल की पुंजें

× × × ×

पवन पानि घनसार संजीवन,
दधि सुत किरन भानु भई भुंजें

× × × ×

सूरदास प्रभु को मग जोवत
अँखियाँ भईं बरन जिमि गुंजें

जो उद्दीपन संयोग-सुखद होते हैं वही विरह में दुखद होते हैं। इस पद में माधुर्य गुण के साथ उद्दीपनों की विपरीत गति सूरदासजी ने चित्रित कर दी है और रोती आँखों के लिए गुंजा अर्थात् घुँघची से अधिक फबती हुई उपमा और कौन सी हो सकती है।

स०—ये तो विरह की पीड़ा के दिग्दर्शक पद हैं। सूर ने तो वियोग-शृङ्गार के वर्णन में सगुण-पक्ष का समर्थन भी काव्यमय रूप से करा दिया है। भ्रमरगीत की रचना इसीलिए हुई है। भ्रमर-गीत भी विश्व-साहित्य की अनूठी वस्तु है।

बा०—भ्रमरगीत का अच्छा स्मरण दिलाया। इसमें गोपियों की सजीवता और उनके हास्य-व्यंग्य अनूठे हैं—'हरि सों भलो सो पति सीता को—इन हाथ उन लिखि न पठायो गूढ़ज्ञान गीता का।' ऊधो को लक्ष्य करके बिचारे भौंरे को ऐसी करारी डाट दी गयी है कि उसको छठी का दूध याद आगया होगा। 'रहु रे मधुकर मधु-मतवारे, कहा करों हौं निरगुन लेकें जीवहु कान्ह हमारे' इस फटकार में भी कृष्ण के व्यक्तित्व के प्रति अनन्यता का भाव व्यञ्जित है। प्रेम में व्यक्तित्व का मान ही तो उसे लोभ और वासना से ऊंचा उठा देता है—

ऊधो ! तुम अति चतुर सुजान
जे पहिले रँग रँगी स्याम रँग
तिन्हैं न चढ़ै रंग आन
द्वै लोचन जो विरद किए
स्रुति गावत एक समान
भेद चकोर कियो तिनहूँ में
विधु प्रीतम, रिपु भान

स०—यथार्थ है। चन्द्रचकोर की सी अनन्यता का प्रेम ही भक्ति में परिणत हो जाता है।

बा०—वैसे तो उनका शृङ्गार और वात्सल्य भी शान्त का ही अङ्ग रहा है पर वे अपनी विनय की दीनता और शरणागति भावना में तुलसी से पीछे न थे। 'सूरदास द्वारे ठाड़ो आँधरो भिखारी' में उनका भाव उच्च स्वर में मुखरित हो उठा है। उनकी भाषा की सहज सुषमा और आलंकारिकता ने उनके भावों को बल प्रदान कर उनको ब्रज-भाषा काव्य में शीर्ष स्थान प्रदान किया है, किन्तु इस सौर मण्डल की परिधि में घूमने वाले अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी इस भाषा की श्री वृद्धि की है। वात्सल्य, शृङ्गार और शान्त में ब्रजभाषा की धार्मिक क्षमता देखकर अवध और अवधी के अनन्य भक्त तुलसीदासजी ने भी अपनी गीतावली और विनयपत्रिका में ब्रजभाषा को अपनाया है। जादू वह है जो सर पर चढ़ कर बोले।

अष्टछाप परिचय : सूरदास

अष्टछाप हिन्दी की अष्टधातु की मुद्रा है। इसीलिए इसकी छाप हिन्दी पर बहुत गहरी है। यह अष्टछाप ही है जिसमें साम्प्रदायिक भूमिका पर शुद्ध मानव का महान कवित्व, कला का चरम उत्कर्ष, और ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति के साथ शाश्वत शिवत्व का अर्चन सभी कुछ तो हिन्दी में सम्भव और सिद्ध हुआ है। गोस्वामी विट्ठलनाथ की उस महान प्रतिभा को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करनी पड़ती है, जिसने अष्टछाप के महान भाव की उद्भावना की और जिसने उस अष्टछाप में सूरदास जैसे महाकवि को शिरोमणि स्थान दिया।

सूरदास महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक हैं। यह एक प्रभाव शाली सम्प्रदाय है। सूरदासजी गऊघाट पर रहते थे। यह स्थान आगरा मथुरा के बीच रेणुका क्षेत्र के पास है। सूरदास सङ्गीत विद्या में पटु थे। उनके कितने ही शिष्य थे। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने यहीं गौघाट पर इन्हें अपने धर्म में दीक्षित किया। ये महाप्रभु के साथ गोवर्द्धन गये और वहीं पारासौली अथवा चन्द्रसरोवर में रहने लगे। इन्हें महाप्रभु ने श्री नाथ जी का प्रधान कीर्तनियाँ बनाया। अब सूरदासजी नित्य नवीन पदों की रचना कर मन्दिर में कीर्तन करते थे।

वल्लाभाचार्यजी की मृत्यु के उपरान्त गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अपने सम्प्रदाय के आठ महाकवियों की एक अष्टछाप बनायी और उसमें सूरदास को प्रधान स्थान दिया। सूरदास ने सूरसागर की रचना की। इनकी मृत्यु गोस्वामी विट्ठलनाथजी की उपस्थिति में चन्द्र सरोवर में हुई।

ये महाप्रभु वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। अतः इनका जन्म वैशाख शुक्ल ५ मङ्गलवार सं० १५३५ को हुआ।

सूरदास के जीवन वृत्त सम्बन्धी अन्य बातें अभी विवादास्पद हैं। विद्वान लोग खोज कर रहे हैं। विवादास्पद बातों में वृत्त का यह भाग आता है।

सूरदासजी का जन्म सीही में हुआ या अन्यत्र। सूरदास जन्मान्ध थे या नहीं। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य होने से पूर्व किसके शिष्य थे? सूरदास भाट थे या सारस्वत ब्राह्मण या जाट या ढाडी? सूरदास की भेंट अकबर से कब और कहाँ हुई। सूरदासजी ने अपना घर क्यों छोड़ा, कब छोड़ा? गौघाट पर क्यों आकर बसे? सूरदास के नाम से जो अन्य ग्रन्थ प्रचलित हैं सूर सारावली, साहित्य लहरी, भागवत भाषा, सूर रामायण आदि ये किनके लिखे हैं? उन्होंने एक लाख पद लिखे अथवा कम?

सूरदास का जीवन वृत्त कितना ही अनिश्चित रहे उनका महा काव्यत्व सुनिश्चित है। उनके काव्य में युग और युग-युग दोनों की प्रतिभा का समावेश है। युग-प्रतिभा सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए साहित्य प्रस्तुत करती है। सूरदास का जन्म उस युग और उस काल में हुआ था जिसमें भारत जातीय जीवन के प्रदीप का स्नेह समाप्त हो चला था। पाँच शताब्दियों का भीषण संघर्ष उसमें जीवन के प्रकाश को अपने सांस्कृतिक स्वरूप को और अपने जीवन के गौरव को दृढ़ और उत्थित रखने में वैफल्य। ऐसी अवस्था में क्या हो? दुःख वेदना और विरक्ति ही जातीय जीवन की मनोवृत्ति के मर्म थे।

कोदों समा जुरतौ भरि पेट तो माँगती हौं नहीं दूध मिठौती
जा घर ते कबहूँ न गयो पिउ फूटौ तबा और टूटो कठौती

यह नरोत्तम कवि के शब्दों में सुदामा-पत्नी की ही पुकार नहीं थी। भारतीय जन का यही स्वरूप था —

सीस पगा न झगा तन में और पाँय उपानह की नहिं सामा।

ऐसी दुरवस्था के साथ भारतीय जीवन निर्वीर्य हो, निराश हो, विरक्ति की अभिव्यक्ति तुलसी की मन्थरा के शब्दों में यों करता था—कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि का होउब रानी।

इन मनोवृत्तियों के मूल में ऐतिहासिक कारणों के निरूपण की आवश्यकता है। सूरदास के समय की परीक्षा से हमें जातीय जीवन के आन्तरिक संघर्ष और बाह्य संघर्ष दोनों का जो रूप प्राप्त होता है वह यह है—

जातीय जीवन के आन्तरिक संघर्ष में हमें सबसे प्रमुख मायावाद का मोर्चा मिलता है। शंकर मताश्रित अद्वैतवाद ने विश्व को माया से मिथ्या बना दिया था। उनके उपरान्त जितने भी सम्प्रदाय आत्म-कल्याण के लिए प्रचलित हुए उनमें जगत-मिथ्या का सिद्धान्त अति प्रबल था। योगी, नाथ, ज्ञानवादी सभी संसार-त्याग और मिथ्यात्व का सन्देश सुना रहे थे। कबीर के ये शब्द इस युग के लगभग चार शताब्दियों के गम्भीर युग के शब्द हैं—

माया महा ठगिनि हम जानी।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी जिस क्रान्ति के एक प्रचेता हैं वह क्रान्ति मायावाद विरोधिनी थी माया विरोधी नहीं। वल्लभाचार्यजी ने अपनी दिग्विजय में शाक्त माया और वेदान्ती शाङ्कर माया का ही खण्डन कर मिथ्यात्व को धराशायी किया था। जगत की यथार्थता का प्रतिपादन कर इस जीवन में आस्था पैदा करना उनका धर्म था।

उस काल से सूर ने लीला के रस का प्रवाह बहाकर मिथ्यात्व की ओर से ध्यान हटा दिया।

माया के इसी मिथ्या स्वरूप के साथ सगुण और निर्गुण का प्रश्न जुड़ा हुआ था। साहित्य में सूर से पूर्व निर्गुण की प्रतिष्ठा बड़े प्रयत्न और बल से की गयी थी। अविगत अलख अरूप अनाम निराकार को लेकर सन्त और सूफियों ने अपनी वाणी के रस से, तान तंबूरे की खनक के साथ, पदों का सङ्गीत जन-जन में भर दिया। इस निर्गुण को लेकर कबीर प्रभृति सन्तों ने राजनीतिक संघर्ष को भी सुलझाना चाहा था पर राजनीतिक समस्या में सांस्कृतिक और धार्मिक गुत्थियाँ थीं। वह यों क्यों सुलझता। तभी मिथ्यात्व के विरोध के साथ इस निराकार का भी विरोध हुआ। सूर ने गाया :—

अविगत गति कुछ कहत न आवै,
ज्यों गूँगेहि मीठे फल कौ रस अन्तरगति ही भावै।

परम स्वाद सब ही जु निरंतर अधिक तोष उपजावै ॥
रूप रेख गुण जाति जुगुति बिन निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तासों सूर सगुण लीला पद गावै ॥

मिथ्यावाद और निर्गुणोपासना के ज्ञानवाद ने जातीय जीवन की जड़ को ही सुखा दिया था। साधारण जन को ब्रह्म-प्राप्ति तो दूर अपनी अक्षमता से मुक्ति-प्राप्ति का भी अधिकार नहीं रह गया था। ज्ञान की कुटिल और जटिल पगडंडियों में चले बिना मुक्ति भी असम्भव और भक्ति भी असंभव। जन जीवन की छटपटाहट और निर्जीव पंगुता उस समय और भी भीषण और क्रूर हो जाती है, जब ऐतिहासिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी अवसाद हो। कबीर ने घट-घट में मन्दिर स्थापित करने की चेष्टा की पर वहाँ उनके देवता की मूर्ति न बैठ पायी। निराधार के आधार पर एक छाया वहाँ जन-मानस में छा गयी। सूर की वाणी इन परिस्थितियों के व्यंग्य को सहन् न कर सकी, और वह विकल होकर साकार कृष्ण और उसकी लीलाओं को उतार लायी। अब घर घर में कृष्ण की रुनझुन रुन-झुन सुनाई पड़ने लगी और कृष्ण घर घर में क्रीड़ा करते दिखायी पड़ने लगे।

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत,
मनिमय कनक नन्द के आँगन बिम्ब पकरिबे धावत।
कबहूँ निरखि हरि आपु छाँह कों कर सों पकरन चाहत।
किलकि हँसति राजति द्वै दँतियाँ पुनि-पुनि तिहि अवगाहत ॥
कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा इक राजत।
करि-करि प्रति पद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजत ॥
बाल दसा मुख निरखि जसोदा पुनि-पुनि नन्द बुलावत।
अँचरा तर लै ढाँकि सूर के प्रभु को दूध पियावत।

महाकवि अपने महाकाव्य में अत्यन्त साधारण सामग्री को साधारण शब्दों के द्वारा ही अपनी कला द्वारा महत्ता प्रदान करता है। साधारण बालक की क्रीड़ाओं को लेकर उनमें कृष्ण की आत्मा सूर ने प्रतिष्ठित करदी है। बालक की सूक्ष्म से सूक्ष्म चेष्टाएं उसके मनोभाव, उसके प्रति वात्सल्य, सबका मार्मिक और विशद चित्र हमारे मानस में प्रतिफलित होने लगता है। उनके काव्य ने फिर जन-जन के घर

में प्रवेश कर प्रत्येक बालक को कृष्ण बना दिया जिस तान तँबूरे की ध्वनि कुछ समय पूर्व निगुण निराकार के स्वर सुनाती थी उसी में साकार कृष्ण की ललित क्रीड़ायें प्रतिध्वनित हो उठीं और उनकी मादक मुरली की ध्वनि गूँजने लगी।

कृष्ण को लेकर इस महाकवि ने लौकिक में अलौकिक की स्थापना कर दी और युग की दृष्टि से एक महान् हल प्रस्तुत कर दिया। आशा का इतना महान् उत्साह उसने काव्य में भर दिया कि जन जन की मुक्ति का मर्म दिखायी पड़ने लगा। यहीं सूर के काव्य में युग-युग का संदेश भी समा गया।

सूर ने पहले ही बालकृष्ण की चपल क्रीड़ायें हमें दिखायीं। उनका विशद रूप प्रस्तुत किया। उन्हें सजीव बनाया और उनमें हमारी मनोवृत्ति रमायी फिर शनैः-शनैः वे लीलाएँ प्रेम की माधुरी से अभिमंडित होने लगीं। कृष्ण की मुरली से सृष्टि के अमर प्रेम का सबल सङ्गीत हठात् स्फुरित हो उठा—

> बंशी बन कान्ह बजावत।
> आइ सुनौ स्रवननि मधुरे सुर राग रागिनी ल्यावत॥
> सुर श्रुति ताल बंधान अमिति अति सप्त अतीत अनागत आवत
> जनु जुग जुरि वर वेष सजल मथि बदन पयोधि अमृत उपजावत
> मनो मोहिनी भेष धरे हरि मुरली, मोहन मुख मधु प्यावत
> सुर नर मुनि बश किये राग रस अधर सुधा रस मदन जगावत
> महा मनोहर नाद सूर थिर चर मोहे मिलि मरम न पावत।
> मानहुँ मूक मिठाइ के गुन कहि न सकत, मुख सीस डुलावत॥

यह वंशी रव किसे विमोहित करने की सामर्थ्य नहीं रखता। गोपियाँ मुग्ध हुईं, विवश हुईं और प्रेम में गहरी उतर गयीं। इस कृष्ण-गोपी प्रेम के संयोग पक्ष का चरमोत्कर्ष रास में हुआ :—

शरद ऋतु की पूर्णिमा.............

> आजु निशि शोभित शरद सुहाई।
> शीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै रोम-रोम सुखदाई॥
> यमुना पुलिन पुनीत परम रुचि रुचि मंडली बनाई।
> राधा बाम अंग पर कर धरि मध्यहिं कुंवर कन्हाई॥

और रास रचा गया। रास के वर्णन में कवि की अनुभूति का उत्कर्ष कितना महान हुआ है—

> विराजत मोहन मंडल रास,
> स्यामा सुधा सरोवर मानों क्रीडत विविध विलास।
> मृदु पदन्यास मन्द मलयानिल विगलित सीस निचोल॥
> नील पीत सित असित ध्वजांचल सीर समीर झकोल
> विपुल पुलक कंचुकि बन्द छूटे हृदय अनन्द भये।
> कुच युग चक्रवाक अवनी तजि अन्तर रैनि गये
> दसन कुन्द दाडिम द्युति दामिनि प्रगटत ज्यों दुरि गात
> अधर बिम्ब मधु अमी जलद कन प्रीतम बदन समात।
> मिले कुसुम कबरी केसन ते टूटत है उडु हार
> सरद जलद मनु मन्द किरन कन कहूँ-कहूँ जल धार।

इन चरणों में शब्द और अर्थ की कैसी सुन्दर सार्थकता है। अलङ्कारों का उपयोग भावों को और चित्र को कितना उज्ज्वल बना रहा है।

राधा और कृष्ण के प्रेम की विभोरता-पूर्ण ऐन्द्रिक गरिमा आह्लाद-मादकता और गति तथा तादात्म्य के साथ रास में परि-पूर्णता पर पहुँच गयी है और यहीं कृष्ण ब्रज छोड़ गये। प्रेम के अगाध सागर में एक तूफान आया और फिर अखण्ड गम्भीरता। भ्रमरगीत में विरहिन गोपियों के प्रेम की थाह नहीं मिलती। निर्गुण और सगुण के दार्शनिक विवाद का भी ऐसा मार्मिक, सरस और जीवनमय प्रतिपादन हो सकता है इसकी कल्पना भी सूरदास के भ्रमरगीत का आनन्द लिये बिना नहीं हो सकती। विरह की टीस, हृदय की हूक, विकल प्राणों की पुकार जैसे शब्द-शब्द में बिंधी हुई हो। गोपियाँ मधुकर को लक्ष्य कर कितने विषादपूर्ण शब्दों में अपना विवशता, ग्लानि और अपने अभाग्य को प्रस्तुत कर रही हैं—

> मधुकर मो मन अधिक कठोर
> बिनसि न गयौ कुम्भ काचे ज्यों बिछुरत नन्द किसोर
> प्रेम बनिज कीन्हौं हुतौ नेह नफा जिय जानि
> ऊधौ अब उलटो भई प्रान पूँजि में हानि।
> जौ हम प्रीति रीति नहीं जानति तौ ब्रजराज तजी।

हमरे प्रेम नेम ते ऊधौ मिलि रस रीति तजी
हम तै भली जलचरी बपुरी अपनौ नेम निबाह्यौ
जलते बिछुरि तुरत तन त्यागौ तउ कुल जल कौ चाह्यौ
अचरज एक भयौ सुनि ऊधौ जल बिन मीन रह्यौ
सूरदास प्रभु अवधि आस लगि मन विश्वास गह्यौ।

रुदन का काव्य विश्व में अनेक कवियों ने लिखा है। हिन्दी में भी इसकी एक दीर्घ परम्परा है। इस परम्परा में आधुनिक 'साकेत' 'यशोधरा' 'प्रिय प्रवास' आदि आते हैं पर सूर का भ्रमरगीत काव्य की महत्ता में, सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावों के चित्र देने में और व्यंग्य वाग्वैदग्ध में अद्वितीय है। कृष्ण गोपियों को फिर नहीं मिले—उनका विरह अनन्त होगया तो क्या वे किसी और को अपना लें? नहीं!

ऊधौ मन न भये दस बीस
एक हुतो सो गयौ स्याम सङ्ग को आराधै ईस।

कृष्ण बाहर नहीं मिल सकते तो मन में तो वे हैं हीं। साकार को सगुण रखते हुए भी कवि ने उसे किस प्रकार मनस का आत्मतत्त्व बना दिया है। इसमें युग और युग-युग का कैसा अद्भुत समन्वय है।

सूर ने काव्य में जीवन के अन्तर मर्म का स्पर्श किया है। उनके काव्य को आलोचकों ने लोकरञ्जनकारी साहित्य में परिगणित किया है। पर क्या ऐसा कहना समुचित है। क्या यह सूर के काव्य के यथार्थ अर्थ और महत्व को समझ कर कहा जा सकता है? मन के प्रबलतम तत्व प्रेम को सूर ने ग्रहण किया। उसकी तीव्र अनुभूतियों को उसने मूर्त रूप दिया। मनोविश्लेषण प्रतिपादित अवचेतन मानस की ग्रन्थियों को उसने प्रमाणित करने की सशक्त चेष्टा की, युग-चक्र से निराश मानव में पुनः आस्था स्थापित की, कृष्ण के क्रान्तिकारी चरित्र का काव्य में अभिनिवेश किया, यह सब किस लिए किया गया? यथार्थतः इस समस्त काव्य में जातीय जीवन के लिए एक महान सन्देश निहित था: देश-काल-जाति के लिए ही नहीं मानव मात्र के लिए। विश्व-साहित्य में एक देन सूर का यह सूर सागर है जिसे पढ़कर यही कहना पड़ता है:

किधों सूर को पद लगौ तन मन धुनत सरीर।

प्रेमपीड़ा की प्रतिमूर्ति मीराँ

जन्म जोधपुर राज्य के संस्थापक राव जोधाजी के पुत्र राव दूदाजी ने अपने पराक्रम से मेड़त का राज्य स्थापित किया था। इन दूदाजी के चौथे पुत्र रत्नसिंह को मेड़ता की ओर से जो १२ गाँव निर्वाहार्थ मिले हुए थे, उन्हीं में से एक कुड़की था। कुछ का मत है कि गाँव का नाम चौकड़ी है। इसी गाँव में मीराँ का जन्म हुआ। मीरां ने स्वयं लिखा है 'मेड़तिया घर जनम लियो है मीरां नाम कहायो।'

मीरां का जन्म संवत् क्या था? इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मीरां के अपने पद में तो किसी भी सम्वत् का उल्लेख है नहीं। ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर और जनश्रुति से मीरां का जन्म १५५५ सम्वत् में विशेष मान्य ठहराता है। बाल्यावस्था में ही मीरां की माँ की मृत्यु हो गयी थी। इन्हें बचपन से ही कृष्ण में भक्ति हो गयी थी। इनके पितामह परम वैष्णव थे। उनका प्रभाव तो इन पर पड़ना ही चाहिए। किसी साधु से इन्होंने कृष्ण की एक प्रतिमा बाल्यकाल में ही मचल कर ले ली थी, और उसे ये अपनी ससुराल भी ले गयीं थीं।

राव दूदाजी की मृत्यु के उपरान्त उनके बड़े लड़के वीरमदेव ने राज्य भार सँभाला। इन्होंने मीरां का विवाह १८ वर्ष की अवस्था में कर दिया था। यह सम्वत् १५७३ के लगभग हुआ। कर्नल टाड के राजस्थान के अनुसार मीरां का विवाह मेवाड़ के राणा कुम्भा के साथ हुआ। किन्तु यह इतिहास की साक्षी के विरुद्ध है। कुम्भा की मृत्यु १५२४ में हो चुकी थी, इसी समय के लगभग तो मीरां के पितामह दूदा ने मेड़ता का राज्य प्राप्त किया था। मीरां का विवाह राणा साँगा के पुत्र भोजराज से हुआ था। मीरां ने अपने पदों में अपनी ससुराल की ओर कई स्थलों पर संकेत किया है—

राठौरी की धीयड़ी जी सीसौद्यां के साथ
बर पायो हिन्दुवाणी सूरज अब दिल में कहा धारी।

जीवन घटनाएँ—मीरां में भक्ति के बीज पहले ही जम चुके थे, यहाँ अपने पति के पास वे और अंकुरित तथा पल्लवित होने लगे, किन्तु मीरां को पति का सौभाग्य अधिक समय तक नहीं मिला। सम्वत् १५८० के लगभग भोजराज का स्वर्गवास हो गया। मीरां विधवा हो गयी। इस घटना से उनका मन संसार से विरक्त हो उठा होगा। और वे कृष्ण की भक्ति में और भी अधिक डूब गयी होंगी। मीरां ने अपनी रचनाओं में अपने वैधव्य का उल्लेख नहीं किया। कारण स्पष्ट है। वे कृष्ण को ही अपना पति मानती थीं। उधर कुछ और भी राजनैतिक घटनाएँ घटीं। मीरां के श्वसुर राणा सांगा का देहावसान सम्वत् १५८४ में हो गया। उनके बाद रत्नसिंह जो भोजराज के छोटे भाई थे सिंहासनारूढ़ हुए। १५८८ में चार वर्ष बाद ही रत्नसिंह की भी मृत्यु हो गयी। तब रत्नसिंह के सौतेले भाई विक्रमादित्य राणा हुए। विक्रमादित्य मीरां की इन बातों को नहीं सह सके कि राजमहल की रानी साधुओं के साथ रहे, गाये, नाचे। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने मीरां को इस पथ से विचलित कर देने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये। जब मीरां ने कोई ध्यान न दिया तो राज-मर्यादा के लिए मीरां को बलि कर देने का निश्चय किया। पहले जहर का प्याला भेजा, मीरां उसको पी गयी और उसका मीरां पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। एक पिटारे में विषधर सर्प भेजा, वह शालिग्राम की बटिया बन गयी। इन दोनों घटनाओं का मीरां के पदों में अनेक बार उल्लेख है—

विष को प्यालो राणाजी मेल्यो, द्यो मेड़तणी ने प्याय
कर चरणामृत पी गयी रे गुण गोविंद री गाय।

× × × ×

साँप पिटारा राणा भेज्यौ मीरां हाथ दिया जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी सालिगराम गयी पाय।

नाभादास ने अपने भक्तमाल में विष प्याला पीने का उल्लेख किया है—

दुष्टन दोष विचार मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँकौ भयो गरल अमृत ज्यों पीयो।

प्रियादास ने भक्तमाल की टीका में और भी कई घटनाओं का उल्लेख किया है। अकबर तानसेन के साथ मीरां के दर्शन करने आया। वृन्दावन में जीव गुसाईं से मीरां मिली। गुसाँईं ने स्त्रियों से मिलने का निषेध कर रखा था। जब मीरां मिलने गयी तो यही उत्तर दिया कि वे किसी भी स्त्री से नहीं मिलते। मीरां ने कहला भेजा कि कृष्ण ही एक पुरुष है। शेष सब उनकी स्त्रियाँ ही हैं। इस उत्तर से गुसाँईंजी प्रभावित हुए और मीरां से मिले। मीरां मेवाड़ छोड़ कर द्वारिका चली गयीं वहाँ राय रणछोर की सेवा में रहीं। यहीं जब मेवाड़ को लौटा ले जाने को लोग आये तो मीरां रणछोरजी की मूर्ति में समा गयीं, प्राय: सं० १६०३ में।

सुनि विदा होन गई रनछोर जू पे
छाँड़ो राखो ही न लीन भई नहीं पाइये।

मीरां-तुलसीदास—जनश्रुति में यह भी विश्वास किया जाता है कि जब मीरां को मेवाड़ में बहुत कष्ट मिले थे तो उन्होंने तुलसीदास जी को पत्र लिख कर परामर्श माँगा था कि—

श्री तुलसी सब सुख निधान, दुख हरन गुसाँई।
घर के स्वजन हमारे जेते सबनि उपाधि बढ़ाई॥
साधु सन्त अरु भजन करत मोहि देत कलेश महाई।
बालापन तें मीरां की रही गिरधरलाल मिताई॥
सो तौ अब छूटत नहिं यों हूँ लगी लगन बरिआई।
हम को कहा उचित करिबो है सौ लिखियौ समुझाई॥

इसके उत्तर में कहते हैं कि तुलसी ने लिख भेजा था कि—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

इस घटना का उल्लेख मूल गुसाँईं चरित में भी किया गया है। इसको पूर्णत: प्रामाणिक नहीं माना जाता। इसका एक कारण यह बतलाया जाता है कि मीरां की पदावली में यह पद मिलता नहीं। मिलता भी है तो दूसरे रूप में। दूसरे तुलसी और मीरां के जीवन काल का जो भाग परस्पर मिलता है वह कौनसा है और उस समय मीरां वह पत्र लिख भी सकती थीं और तुलसीदास तब तक

वह ख्याति पा भी चुके थे कि मीरां उनसे परामर्श माँगती। ये प्रश्न विवादास्पद है। इसका विस्तृत समाधान परशुराम चतुर्वेदी की मीराँ-बाई की पदावली नामक पुस्तक के परिशिष्ट से किया जा सकता है। मीराँबाई की मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने निश्चय किया है कि उसका संवत् १६३० वि० (सन् १५४६ ई०) है। यदि तुलसीदासजी का जन्म सं० १५८७ वि० में माना जाय तो मीरां से तुलसी का पत्र-व्यवहार असम्भव होगा किन्तु यदि वेणीमाधव के गुसाँई चरित के आधार पर जन्म संवत् १५५४ माना जाय तो तुलसी और मीरां में पत्र व्यवहार सम्भव माना जा सकता है। गुसाईं चरित की तिथियों की प्रमाणिकता असन्दिग्ध नहीं है।

मीरां के गुरु—किम्वदन्तियों में प्रचलित है कि मीरां ने रैदास भक्त को अपना गुरु बनाया। मीरां की छाप से मिलने वाले कितने ही ऐसे पद भी मिलते हैं जिनमें रैदास के गुरु होने का उल्लेख है। उदाहरणार्थ—

मेरा मन लागो हरसूं अब न रहूँगी अटकी।
गुरु मिलिया रैदासजी दीन्हीं ग्यान की गुटकी॥

अथवा—

रैदास सन्त मिले मोहिं सतगुरु दीन्ह सरन सहदानी।

किन्तु इतिहास की दृष्टि से यह मत मान्य नहीं हो सकता। रैदास मीरां से पहले हुए हैं। सन् संवत का हिसाब लगाने से मानना पड़ता है संवत् १५५० या १५६० के बाद रैदास जीवित नहीं थे। मीरां का जन्म सं० १५५५ में हुआ।

तब या तो ये पद प्रक्षिप्त हैं और मीरां की पदावली में किसी ने मिला दिये हैं। या उन्होंने रैदास की वाणी से प्रभावित होकर तथा उनके अन्य शिष्य अनुयायियों से रैदास की भक्ति के स्वरूप को सुन समझ कर उन्हें गुरु मान लिया होगा, और रैदासी सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गयी होंगी।

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने यह चेष्टा की थी कि मीरां पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो जायँ। कृष्णदास अधिकारी की वार्ता में स्पष्ट उल्लेख है कि कृष्णदास अधिकारी जी ने उससे कहा 'जो तू

श्री आचार्यजी महाप्रभून की सेवक नाहीं होत ताते तेरी भेंट हम हाथ में छूवेंगे नहीं।' मीरां ने पुष्टिमार्ग स्वीकार नहीं किया। प्रतीत ऐसा होता है कि मीरां को कृष्ण से बालक पन में ही जो प्रेम होगया था वह इतना गहरा, दृढ़ और स्वाभाविक था कि उसने उसकी आयु के साथ बढ़ कर मीरां को पूर्णतः प्रेम-विभोर कर दिया। उसे गुरु आदि की मर्यादा का ध्यान ही नहीं आया। यद्यपि उस युग में गुरु का बड़ा महत्त्व था। निगुरा व्यक्ति घृणा के योग्य और बहिष्कार के योग्य समझा जाता था। किन्तु मीरां ने फिर गुरु नहीं किया। अधिक सम्भावना यही लगती है कि मीरां का कोई नहीं था। हाँ, सन्त समागम उन्हें विशेष प्रिय था। और कृष्ण या ब्रह्म ही उनका सतगुरु था। मीरां ने जहाँ निगुरा को बुरा कहा है वहाँ उनका अभिप्राय सतगुरु हरि से विरक्त रहने वाले व्यक्ति से ही है। यथा—

म्हारां सतगुरु वेगा आज्योजी म्हारे सुखरी सीर बुलाज्यो जी।
तुम बीछड़िया दुख पाऊँ जी मेरा मन माहीं मुरझाऊँ जी॥
ज्यूँ जल त्यागा मीनां जी तुम दरसण बिन खीना जी।

अथवा—

सतगुरु म्हारी प्रीति निभाज्यो जी।

अथवा—

निरधारां आधार जगत गुरु, तुम बिन होय अकाज।

जिसको हरि से गुरु मिल जाय उसे और क्या चाहिए।

युग की प्रवृत्तियाँ—मीरा जिस युग में हुई वह धार्मिक सहिष्णुता का युग था। विदेशी शासकों का क्रूरता का आतंक इस युग में कम हो गया था। फलतः शतशः वर्षों से हृदय में उमड़ती हुई करुणा का बाँध इस समय टूट पड़ा था। उसने काव्य का और भक्ति का रूप ग्रहण कर लिया था। यही कारण है कि इस युग की वाणी में कबीर और जायसी की वाणी से भेद हो गया था। कबीर और जायसी में अथवा कबीर से जायसी तक के युग में कवि-धर्म का उपयोगिता पक्ष हिन्दू मुसलमानों को मिल जाने के लिए एक आह्वान था। इस समस्या को जैसे इतिहास ने अकबर को सिंहासनारूढ़ कराके हल कर दिया था। अब काव्य में इसकी चर्चा नहीं होती। कवि और काव्य ने धर्म प्रवर्तन का दम्भ भी त्याग दिया पर कवि-

धर्म का भाव-पक्ष अब भी कबीर द्वारा निर्देशित ज्ञानमार्ग की धूमिल पगडंडी नहीं छोड़ सका। ज्ञान और भक्ति जैसे प्रतिद्वन्द्वितायें खड़ी हो गयी हों। तुलसी ने दोनों का समन्वय करने की चेष्टा की। सूर तथा नन्ददास ने उद्धव गोपी के रूप में ज्ञान और भक्ति का स्पष्ट विवाद ही करा दिया और ज्ञान को परास्त करने का पूरा उद्योग किया। तुलसी के ज्ञान में शुद्धता आ गयी है। वह ज्ञान कबीर के ज्ञान की भाँति गोरखपंथियों के हठयोग से मिलकर नहीं बना। सूर के उद्धव में अवश्य कबीरवादी ज्ञान की हलकी झलक है। ज्ञान और भक्ति की इस प्रतिद्वन्द्विता का मीरा ने समाप्त ही कर दिया। ज्ञान के उपादान भक्ति में समा गये हैं। इस युग में भक्ति की प्रवृत्ति भी सरल नहीं थी, एक वह भक्ति थी जो ज्ञानवादी सन्तों में निराकार की आराधना का आधार थी। यह नाम की भक्ति थी, रूप की नहीं। दूसरे शब्दों में यह भक्ति हृदय के लिए खूँटा मात्र थी, जिससे मन बंधा रहे। दूसरी भक्ति नाम-रूप दोनों की थी। जिसमें रूप बाहरी वृत्ति को बिरमाये रखने के लिए और नाम अन्तर्वृत्ति को भक्ति में प्रवृत्त रखने के लिए। इस भक्ति में ही राम से बड़ा उनका नाम माना गया है। इसके दूसरे पहलू को महत्ता देने वाली एक भिन्न भक्ति मानी जायगी, जिसमें नाम को नहीं रूप को ही माना गया हो। ऐसी ही भक्ति में यह गाया जाता है—

> मधुकर कासौं कहि समझाऊँ।
> अंग अंग गुन गहे स्याम के निर्गुन काहि बताऊँ॥
>
> अथवा
>
> या घट भीतर सगुन निरन्तर रहे स्याम भरि पूरि।
> पालागौं कहियो मोहन सौं जोग कूबरी दीजै॥
> सूरदास प्रभु रूप निहारें हमरे सम्मुख कीजै॥

इस युग में ये सभी भक्ति-प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में अवश्य मिलती हैं। इन प्रवृत्तियों के साथ भक्ति में दास्य, सख्य और वात्सल्य भाव की भक्ति के भी प्रकार हैं।

मीरां की प्रवृत्तियाँ—भक्ति युग का प्रभाव मीरां पर अवश्य ही पड़ा है, जैसा युग का प्रभाव सभी पर पड़ता है। युग की अन्तर्प्रवृत्ति

के कारण ही मीरां को भक्ति ने आकर्षित किया। किन्तु उनकी भक्ति रूपात्मक दाम्पत्य भाव की भक्ति थी। नाम का महत्त्व मीरां के लिए नहीं है, उनके रूप का ही महत्त्व है। नाम के साथ गुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह गुण भी मीरां के लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते कि उनकी छाप कोई प्रभाव दढ़ा सके। मीरां ने तो गिरिधर से प्रेम किया है। वह उनकी परिणीता हो गयी है। उनके ही रंग में रंग गयी है। इसीलिए मीरां में अपने प्रेम की पीड़ा अथवा विरह की आग तो है, पर भक्त की सी वह गिड़गिड़ाहट नहीं है जिसमें अपने को 'पतितन को टीको' माना जाय और अपने दुर्गुणों और पापों का स्मरण अथवा उद्घाटन किया जाय?

मीरां में इस भावना का अभाव है, किसी भी पद में उन्होंने ऐसा दैन्य प्रकट नहीं किया। वह तो अपने को नहीं देखती, कृष्ण को देखती हैं। उनके मानस-पटल पर कृष्ण प्रेम की छाप है उनके समस्त उद्गारों में या तो कृष्ण के रूप का वर्णन है अथवा अपना समर्पण अथवा विरह-दशा और संयोग-दशा का। उनका मन, अतः, या तो कृष्ण के रूप पर या उसकी मीरां सम्बन्धी मानसिक प्रतिक्रिया पर विचार करता है और उसे ही निवेदन कर देना है।

ज्ञान—ज्ञान में गोरखपन्थियों का हठयोग उस काल में सन्तों तथा सर्व साधारण में विशेष प्रचलित था। किन्तु यह युग उसके विरोध का तो था ही फिर भी सर्व साधारण में उसकी चर्चा था। मीरां ने इस हठयोग का कहीं कहीं उल्लेख किया है। इस हठयोग की शब्दावली का चमत्कार तो मीरां में देखने को मिलता है। पर मीरां की आत्मा का स्पन्दन उसके साथ नहीं है।

मीरां के इष्टदेव—मीरां गिरधर नागर की चेरी थीं। 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई'। स्पष्ट ही यह गिरधर नागर गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्ण थे। किन्तु मीरां की इस उपासना और इस प्रेमार्पण में भी कोई संकुचित साम्प्रदायिक भाव नहीं थे। जब जिस नाम से उसे स्मरण करने में उन्हें सुविधा हुई है, तब उसी नाम का उपयोग उन्होंने कर लिया है। हाँ, साधारणतः कृष्ण के गिरधर नाम के बाद राम का नाम ही उन्हें विशेष प्रिय रहा है। राम और कृष्ण दोनों ही विष्णु के अवतार हैं। कृष्ण के अनन्य भक्त सूर ने भी राम और

कृष्ण में अन्तर नहीं समझा। और एक अवतार में दूसरे अवतार की घटनाओं का आरोप कर दिया है, मीराँ ने भी हरि के चरणों के रूप में तादात्म्य कर दिया है।

जिण चरण प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धरण।
जिण चरण ध्रुव अटल कीने राखि अपनी सरण॥
जिण चरण ब्रह्माण्ड भेट्यो नखसिखां सिरी धरण,
जिण चरण प्रभु परसि लीने नारि गौतम धरण।
जिण चरण कालो नाग नाथ्यो गोप लीला करण॥

इसमें नृसिंह, नारायण, वामन, राम तथा कृष्ण अवतारों का उल्लेख हुआ है। मीरां सभी को एक मानती है। किन्तु राम का नाम गिरधर नागर के बाद कई बार आया है। 'राम तने रङ्ग राची।' 'राणा मैं तो सांवलिया रङ्ग राचो रे।' 'राम नाम बिन घड़ी न सुहावे' 'राम मिले म्हारा हिवड़ा ठड्राय।' नन्दनन्दन, गोविन्द, नारायण में तो वैष्णव प्रणाली ही दीखती है पर कबीर अथवा सन्तों की भाँति मीरां ने योगी शब्द का भी प्रयोग किया है। जोगी अथवा जोगीड़ा में गोरख और लोकवृत्ति दोनों का रूप है।

इन सब में भी मीरां का भाव उसी अपने मनमोहन गिरधर से है। कृष्ण के हाथ वे बिक चुकी थीं। उनका इष्टदेव सिर पर मोरपङ्ख की चन्द्रिका का मुकुट पहनता है। केशर का तिलक लगाता है, कानों में मकराकृत कुण्डल, क्षुद्रघण्ट किंकिनी कटि में। ऐसे कृष्ण पर वे विमोहित हो गयी हैं। कोई अपने इष्ट को राक्षसों का नाश करने वाले रूप में ग्रहण करता है, कोई उसकी मनोरम लीलाओं पर न्योछावर होता है, किन्तु मीरां में दाम्पत्य-रति-भाव की भक्ति भासित हो पड़ी है। कृष्ण उसके पति हैं। और मीरां स्वकीया पतिव्रता। उन्होंने सूर आदि की भांति गोपियों का प्रतिबिम्बत्व नहीं किया वरन् वे स्वयं ही दाम्पत्य भाव से प्रेरित थीं। कृष्ण का सौन्दर्य-रूप-वेश जैसा भी हो वही उनके लिए श्रेष्ठतम है और उसके समक्ष कोई और सौन्दर्य नहीं टिकता। सौन्दर्य को मीरां ने सौन्दर्य के कारण ग्रहण नहीं किया। सौन्दर्य की रूपासक्ति से उनका मन कृष्ण के वश नहीं हुआ। कृष्ण के प्रति किसी पूर्व प्रेम की विद्यमानता के कारण ही उन्हें कृष्ण का सौन्दर्य उतना उत्कृष्ट लगा है। 'गिरधर म्हारा सांचा

प्रीतम' है, यह मीरां ने बताया और तभी कहा 'देखरूउप लुभाऊं' यही नहीं, मीरां अनुभव करके राणा से कहती है—

'राणा जी म्हारी प्रीत पुरबली मैं काई करूँ।'

यहीं हमें विदित होता है कि मीरां और सूर की गोपियों के प्रेम के धरातल में साधन के कारण भेद उत्पन्न हो गया है। सूर की गोपियों के लिए रूप का आकर्षण पहले, तब प्रेम; मीरां में प्रेम पहले, तब रूपासक्ति। गोपियों को कृष्ण की बाल-लीला-क्रीड़ा-रसरास की स्मृतियों का भी भरोसा था। और उनके विरह में ईर्ष्या भी आ गयी थी। वे परित्यक्ता होकर भी प्रेम का पोषण कर रहीं थी। मीरां का प्रेम सहज प्रेम है, पूर्व प्रेम है। वह जग पड़ा है, उन्होंने प्रिय के साथ संयोग का लाभ प्राप्त किया है। 'रैण दिना वाके संग खेलू' 'ज्यूं त्यूं वाहि रिझाऊं 'मीरां में इस संयोग का हार्दिक आनन्द उमड़ा पड़ता है।' 'इन नैनन मेरा साहिब बसता डरतीं पलक न नाउ री....... सुख की सेज बिछाऊं री' उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है—'जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजे पाती।' मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती। फिर भी यह संयोग सदा नहीं बना रहा है वियोग की भावना भी मीरां में है। और यह भावना प्रेम-पीड़ा बनकर उनमें विशेष प्रबल और व्याप्त है।

मीरां की प्रेम—पीड़ा में प्रियतम के बिछुड़ने का ही भाव है। उनका किसी और के प्रेम में फँस जाने का नहीं। यहाँ कुबजा ने अपना कब्जा नहीं दिखाया। इस प्रकार कृष्ण और मीरां में सीधा सम्पर्क है, मीरा कृष्ण के अतिरिक्त किसी को नहीं देख पातीं। उद्धव, सुदामा, राधा कभी कभी किंचित काल के लिए उनकी रचना में, उनके मन में, कृष्ण के साथ आये हैं। पर कुब्जा नहीं आ पायी। मीरां की यह अनन्यता धन्य है। मीरां के कृष्ण मीरां से बँधे है; उसके प्रेम से बधे हैं।

मीरां के गीत—मीरां गायिका है। उनकी समस्त रचना गीतों के अथवा पदों के रूप में ही अवतरित हुई है। इस युगमें पद-प्रणाली का विशेष प्राबल्य था। जयदेव के गीत-गोविन्द से विद्यापति तथा चण्डीदास की वाणी में उतर कर जिसे कवि सूर और तुलसी तक

पनाया मीरां में भी उसी शैली की ओर झुकाव हुआ। किन्तु सब से मीरां की धज निराली है। वैष्णव भक्तों के द्वारा पदों में ार सगुण कृष्ण-राम का विरूपण हुआ है। सन्त कवियों ने ण निराकार का ज्ञान पदों द्वारा प्रकट किया है। वैष्णवों ने उसका निरूपण किया तो उनमें या तो भागवत से लिया हुआ ज्ञान था, जैसे सूर आदि में; अथवा नागरिक रसिकता का भाव था विद्यापति आदि में; सन्तों में ज्ञानवादिता के कारण गेयकाव्य के त-रस का अभाव ही था। मीरां के गीतों में भागवत-गाथा- का बोझ नहीं मिलता। और नागरिक रसिकता का भी अत्यन्त ाव हो गया है। उनके गीतों में यथार्थ प्रगीतिता मिलती है, जिसमें हज लोकवृत्ति, सहज हृदयोद्गार; जिसमें कहीं भी कठोर वा कटु भावों को अवकाश नहीं। कोमल, मधुर और करुण ये ही भाव मीरां की वाणी में ओत-प्रोत हैं। उनमें भी सहज स्वाभा- भाषा सरल मुहावरा और अत्यन्त साधारण पारमार्थिक अलङ्कार- ना सोने में सुगन्ध का कार्य करती है। पद और गीत लिखते भी सूर में एक प्रबन्ध-सूत्रता मिलती है, कम से कम उनके मुक्त- में भी कथा-भाग का बीज और अंकुर रहता है, किन्तु मीरां में नहीं। तुलसी की विनय के पदों की भाँति का भी आत्म-निवेदन में नहीं मिलता। वह राजसी ठाठ और आतंक मीरा में कहाँ? में विनय नहीं प्रेम-निवेदन और प्रेम-समर्पण है। इसीलिए गीत कोकिल की एक कूक के समान हृदयों को पार कर जाने हैं, उनमें छन्द-शास्त्र की दृष्टि से कुछ दोष कहीं-कहीं मिलते किन्तु ऐसा कौन है, जो हृदय के सङ्गीत को छन्द के बन्धन ाँधे। सङ्गीत के स्वर-लोक में छन्द-सम्बन्धी विषमता स्वतः ही ीन हो जाती है।

मीरां के गीतों में पाण्डित्य नहीं है, हृदय के सहज उद्गार हैं। पण्डितों के लिए नहीं लिखा, वरन् जन साधारण के लिए लिखा। गीत सच्चे अर्थ में लोकगीत कहे जा सकते हैं। लोकगीतों शैली में एक तो यह प्रवृत्ति होती है कि अन्त में कुछ शब्द स्वर ने के लिए रहते हैं। जैसे कि मीरां के इस पद में—'राम नाम मेरे राम रसिया रिझाऊँ, रिझाऊँ ओ माय।' यह 'प्रभाव' प्रत्येक चरण

के अन्त में मिलता है, कहीं-कहीं 'म्हारो महाराज' शब्द पद के सुर का आरम्भ बनाया जाता है। जैसे मीरां ने लिखा है, 'हो जी म्हाराज छाँड़े मत जा ज्यो।'

काव्य-सौन्दर्य—मीरां के सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि वह भक्त पहले थी या कवि। कारण यह है कि उनकी भक्ति में और काव्य में कोई अन्तर नहीं। उनकी भक्ति किसी साम्प्रदायिक सीमा में घिरी हुई नहीं थी। वह मुक्त हृदय से उद्भूत थी। इसीलिए पूर्णतः काव्यमय थी। उनका प्रत्येक पद एक सहज काव्य से युक्त है, और अलङ्कार-योजना अत्यन्त मार्मिक हुई है। अधिकांश अलंकार प्रायः सादृश्यमूलक हैं जिनमें से भी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा प्रधान हैं, उक्ति-प्रधान अलंकारों का समावेश कम है। शब्दों का सौन्दर्य मीरां में है तो अवश्य पर वह उतना अनुप्रास, यमक आदि के आश्रित नहीं। वह शब्दों की सुचारु ध्वनि संतुलना पर निर्भर करता है। इस शब्द-सौन्दर्य का एक उदाहरण यह है :—

राम मिलण के काज सखी मेरे आरति उर में जागोरी।
तलफत तलफत कल न परत है बिरह बाण उर लागोरी॥
निसदिन पन्थ निहारूं पीव को पलक न पल भरि लागोरी।
विरह भवंग मेरा डस्यो है कलेजा लहरि हलाहल जागोरी॥

शब्दों ने स्वयं अपनी ताल-गति से युक्त अपनी रुनझुन का समां इस करुणा के प्रवाह में बाँध रखा है। इस शब्दों के सहज और मूल सौन्दर्य के आगे अनुप्रास और यमक का विन्यास कितना कठोर और उद्वेगकारी लगेगा।

मीरां का यथार्थ काव्य-सौन्दर्य भावमय उक्तियों में है जो किसी शास्त्रीय अलङ्कार विधान में नहीं बाँधी जा सकतीं। मीरां के साजन घर आये हैं पर वह अभागिनि सो रही है, साजन चले गये-अब दुख का क्या कहना :

मैं जान्यो नाहिं प्रभु को मिलण कैसे होइरी।
आये मेरे सजना, फिरि गये अँगना, मैं अभागण रही सोइरी॥
अब फारूंगी चीर करूँ गल कंथा रहूँगी वैरागण होइरी।
चुरियाँ फोरूँ, माँग बखेरूँ कजरा डारूँ धोइरी॥

बङ्गाल के ही नहीं विश्व के मर्मी कवि रवीन्द्र को मीरां ने प्रभावित किया है। उपरोक्त पंक्तियों में जो भाव है उस पर ही रवीन्द्र का भी एक गीत है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी गार्डनर नामक रचना का भाव भी मीरां के एक पद से लिया है ऐसा माना जाता है—वह पद यह है—

मने चाकर राखोजी मने चाकर राखोजी।
चाकर रहसूं बाग लगासूं नित उठ दरसण पासूं॥
बिंद्रावन की कुञ्जगलिन में तेरी लीला गासूं।
चाकरी में दरसण पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची॥
भाव भगति जागीरी पाऊँ तीनों बातां सरसी।

× × × ×

आधी रात प्रभु दरसन दैहैं प्रेमनदी के तीरा॥

इन मर्मस्पर्शी भाव सूक्तियों ने मीरां का साहित्य में एक अद्वितीय स्थान बना दिया है। उसके काव्य का सौन्दर्य सीप से निकले मोती जैसा है।

नरोत्तम का सुदामा-चरित्र

हिन्दी-साहित्य में भक्तियुग का आरम्भ तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से आरम्भ होगया था, इस भक्तियुग में भक्ति की कई प्रवृत्तियाँ चल रही थीं—प्रत्येक सम्प्रदाय में जो इस समय, उत्तरी भारत में विशेषतः, प्रचलित था, किसी न किसी प्रकार के रूप-रङ्ग की भक्ति अवश्य समाविष्ट थी। जिन सम्प्रदायों में भक्ति का अभाव था, वे युग-प्रभाव से नष्ट हुए जा रहे थे। विशेष द्रष्टव्य बात यह थी कि भक्ति के क्षेत्र में भी वैष्णवभक्ति का ही विशेष बोलबाला था। यदि इस युग की प्रवृत्तियों के संघर्ष का अध्ययन किया जाय तो विदित होगा कि—

एक ओर 'मायावाद' और 'जगन्मिथ्या' के प्रतिपादक, शंकर-दर्शन से प्रभावित, किन्तु उसमें सामयिक संशोधन करके चलने वाले शैव, नाथ, सिद्ध आदि थे जिन्होंने साधना के मार्ग में 'योग' का आधार ग्रहण किया था। दूसरी ओर 'भक्ति' पर निर्भर करने वाले वैष्णव। वैष्णव सम्प्रदायों के चार रूपों में सबसे अन्तिम किन्तु सबसे अधिक लोकाकर्षक वह रूप था जो राम और कृष्ण को, विष्णु के अवतार को, विष्णु और ब्रह्म के स्थान पर ग्रहण करते थे। 'राम' और 'कृष्ण' मूल प्रवृत्ति में एक ही माने जायँगे, पर फिर भी ये दो रूप थे, और दोनों, किन्हीं दो भाव-धाराओं को, और किन्हीं दो पृथक आवश्यकताओं को सन्तोषप्रदान करने के लिए उद्भूत होकर प्रवर्तित, विकसित और परिवर्द्धित हुए।

राम और कृष्ण की भक्ति में एक मौलिक अन्तर है। कृष्ण के रूप में एक मनोरम स्वच्छन्द विलास प्रतीत होता है। बन्धनों का एकदम लोप है। मर्यादा, नियम, निग्रह, आदर्श सब का लोप है। यदि आदर्श है तो केवल प्रेम का आदर्श है। प्रेम कोई बन्धन नहीं मानता, कोई शासन नहीं स्वीकार करता। उसकी धारा

सदा बाँध तोड़ कर ही बहती है। उसमें सब कुछ गर्क हो जाता है। यह प्रेम की पराकाष्ठा है। दैवी दृष्टि में केन्द्रित हो जाने से यही 'भक्ति' बन जाती है। मन मैदान में दौड़ भरता है। चारों ओर उसे वही दिखलायी पड़ता है। जीवन में मुक्ति की झाँकी मिल जाती है। यह भक्ति की पश्चिम दिशा है। यहाँ का प्रातःकाल भी पूर्व की अपेक्षा देर में होता है। सूर्य पर्याप्त मार्ग चल चुकता है तब अपने उस इष्ट-ध्येय के निकट पहुँचती हुई अवस्था में दिखायी पड़ता है। पूर्व में उसका रूप कुछ और हो जाता है। पश्चिम और पूर्व ये एक ही बिन्दु के दो नाम हैं।
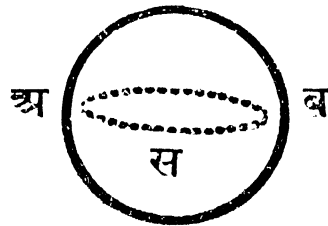
इस चित्र में 'स' बिन्दु 'अ' से पूर्व है, और 'ब' से पश्चिम। वस्तु एक ही है। भक्ति का इष्ट इसी प्रकार 'स' है। 'अ' वालों ने उसे 'कृष्ण' का रूप दे रखा है। 'ब' वाले पूर्व में खड़े होकर उसे 'राम' पुकारते हैं। पर 'स' एक होने से भी 'अ स' और 'ब स' एक नहीं। कृष्ण और राम में अन्तर है। यही दिशान्तर कहलाता है। और परस्पर सम्बन्धित होने पर भी 'अ' और 'ब' एक दूसरे से विपरीत कहे जायँगे। 'कृष्ण' का रूप 'राम' के विपरीत है। राम में वे सभी नियम, और आदर्श-आग्रह हैं जो श्रीकृष्ण में नहीं। उनमें स्वच्छन्द विलास नहीं, एक जागरित तपस्या है। यहाँ प्रेम, नेत्र-हीन प्रेम नहीं। यह प्रेम मर्यादा को छोड़ कर नहीं चला—'कुल गली' और 'कुल कानि' छोड़ने की नौबत यहाँ नहीं आती। यहाँ तो एक-एक पग सँभाल कर रखना पड़ता है। इधर यह ध्यान सदा बना है कि प्रेम के मार्ग में चलना 'तरवार की धार पै धावनो है'—तलवार की धार अत्यन्त सूक्ष्म, जो ज्यामेट्री की रेखा के समान बाल से भी कहीं महीन, जिस के चारों ओर प्रेम नहीं—खाई, गड्ढे बीहड़, बञ्जर और कुछ भले ही हो, भय की वस्तु भले ही हो, पर प्रेम नहीं। ऐसो 'सांकरी गली' प्रेम की है। यहाँ नियम और आदर्शों का दबदबा है। यह राम का रूप है। ये दो प्रमुख कोटियाँ है।

परिध्याश्रयी

पश्चिम—कृष्ण .... राम—पूर्व
वि-श्रान्ति परिध्यान्तरी श्रान्ति
रहस्य-मग्नता रहस्य-प्रकाश

अपेक्षान्वित दो बिन्दु सदा गोलाकार में स्थान पा सकते हैं। गोलाकार में किसी एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक हमारे लिए दो मार्ग हैं: (१) परिध्याश्रयी (२) परिध्यान्तरी। परिध्याश्रयी मार्ग पर दिशान्तर इतना प्रतीत नहीं होता। परिध्यान्तरी मार्ग पर दिशान्तर स्पष्ट प्रतीत होता है। परिध्याश्रयी एक रहस्यवादी हो सकता है। पर परिध्यान्तरी व्यक्ति के लिए सभी स्पष्ट और ग्रहण-योग्य है। एक समुद्र के किनारे खड़े हुए व्यक्ति के सामने धरा का छोर और सागर का आर है। सागर का छोर उसके लिए रहस्य हो सकता है। उसमें प्रतिक्षण नवीन परिवर्तन—नयी-नयी लहरों का गिरि-स्पर्द्धा से सिर उठाये वेग से रजतखण्ड की तरह प्रधावित होते वह देखता ही है कि ताश के किले की तरह, उन्निद्र के स्वप्न की भाँति वह चट विलीन हो जाता है। एक समान सपाट श्याम चद्दर सी सामने प्रतीत होने लगती है। शैवाल-जाल और मूँगों के मृत्तिका द्वीपों के विलोलित दृश्य उसे चकित कर देंगे। सागर का ऊपरी-तल आकाशीय मेघ की तरह छलना-मन्त्र सा विमोहक है—उसका अन्तर उससे भी अधिक। यह सब रहस्य की एक प्रबल चद्दर से आच्छादित है। पर धरा पर चलने वाला सबको पहचानता चलता है। वृक्ष उगते हैं, अपने समय से, अपने क्रम से। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ किसी का शासन है। समुद्र राजा की तरह अपने मन के नियमों का राजा है। इधर हर एक पाद धरा पर विश्वास से प्रसूत है। कारण न जान सकें पर इसके रूप-आकार-गुण में विश्वास है। पत्थर इतने उत्तप्त ताप से भी पिघल क्यों नहीं जाते, इसका कारण क्या सभी बता सकते हैं, पर अपने विश्वास से उसे यह दृढ़ धारणा है कि वह कदापि पिघलेगा नहीं। परिध्यान्तरी मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति ऐसी ही विश्वास-धारणा से चलता है। उसमें रहस्य का प्रवेश बहुत कम होता है। चारों ओर सीमा और संघर्ष का चेत उसे रहता है। यहाँ

वह सीमा से बाहर नहीं हो सकता। ऐसे कवियों में लोक-कल्याण की मात्रा अधिक मिलेगी। वे उन्हीं बातों पर ध्यान देंगे जो स्पष्ट इनके सामने आकर खड़ी हैं। और वे एक विश्वास के साथ आगे बढ़ेंगे, उनमें वे रहस्य की भावना का आरोप नहीं कर सकेंगे।

पन्द्रहवीं शताब्दी में भारत का राजनैतिक वातावरण जर्जरित हो रहा था। भारत की प्रजा दीन हो गयी थी। हिन्दुओं के पास अपने खाने भर को कठिनता से था। अलाउद्दीन के कठोर राजकीय विधान का सबसे भयंकर आघात हिन्दुओं की आर्थिक-स्थिति पर हुआ। भारतवर्ष की आत्मा ब्रह्मतेज मण्डित है। वह ब्राह्मण है। और पन्द्रहवीं सदी में वह ब्राह्मण महादारिद्र था। ठीक सुदामा की तरह दरिद्र था।

यहाँ—'कोदों सवां जुरतो भर पेट न' यह भोजन की अवस्था थी। वस्त्रों के लिए "सीत बितीत भयो सिसियातहिं"—आह, इस सीत काल की सिसकारी का अनुभव कीजिए। इतना भी तो नहीं कि भोजन के साधन ही कुछ ठीक हों—पन्द्रहवीं शताब्दी की एक हिन्दू गृहिणी इन सारे सङ्कटों को झेलती हुई भावी भाग्याकाश को पूर्ण अन्धकाराछन्न देखकर अपने पति से बड़े दुःख भरे उलाहने में कहती है—

या घरतें न गयो कबहूँ, पिय !
टूटो तवा अरु फूटी कठौती॥

भला; ऐसी अवस्था में कोई धार्मिक कृत्य भी कैसे हो सकता है—

फाटे पट टूटी छानि खाय भीख मांगि-मांगि,
बिना जज्ञ विमुख रहत देव पित्रई।

अश्रु-संचरण क्या नहीं हो सकता, ऐसी दयनीय दशा पर? नरोत्तम की आँखों में यही खार खटक रहा था। वस्तुतः सुदामा रूपी भारतीय पर इस काव्य के द्वारा स्वयं नरोत्तम रो पड़े हैं—

"पानी परात को हाथ छुओ नहिं,
नैनन के जल सों पग धोये।"

ये कृष्ण के आँसुओं से अधिक नरोत्तम के आँसू हैं, और इसी वास्तविक और हार्दिक अनुभूति के कारण ही यह छोटा-सा काव्य

इतना आकर्षक हो सका है। सुदामा की तरह फक्कड़ फकीरी के ताण्डव नृत्य को देखते हुए भी उसमें किसी मनोहर मुग्धता की झलक वे नहीं देख सकते थे। विद्यापति-जयदेव सी रहस्य-शृङ्गार की केलि उन्हें मोह नहीं सकती थी। वे परिध्याश्रया न थे, परिध्यान्तरी थे। धर्म के दैन्य ने अर्थ-शून्यता से गांठ जोड़ कर उनके सामने एक भयङ्कर अवतारणा खड़ी कर रखी थी। उनकी शक्ति मुग्ध अकर्मण्यता के विरुद्ध उन्हें निरन्तर उत्तेजित कर रही होगी। यही कारण था कि उनका मन भागवत की शृङ्गाराजित-प्रेम-विभोर कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं अथवा बाल-लीलाओं पर नहीं अटका। उन्होंने उस समय कृष्ण में छत्र-तेज की मूर्ति देखी। और ब्रह्म की दयनीयता दिखाकर छत्र के सहयोग की याचना का चित्र खड़ा किया। उन्होंने कृष्ण के लीलारूप को नहीं, उदार – कल्याणकर रूप को गृहण किया। इसमें यह अभिप्राय स्पष्ट है कि 'कृष्ण' का चरित आरंभ के युग में राम के चरित्र की भांति परिध्यन्तरी ही था, और उसका यही रूप लोकग्राह्य था।

उनमें रसखान की सी सूर की सी केवल कलात्मक-ललित मृदु आस्था नहीं थी।

वे रसखान के स्वर में स्वर मिलाकर ऐसा कभी गा ही नहीं सकते थे—

कोटिन हू कलधौत के धाम,
करील के कुञ्जन ऊपर वारौं।

× × × ×

आठहूँ सिद्धि नवों निधि कौ सुख,
नन्द की गाय चराइ बिसारौं॥

× × × ×

वे कृष्ण की लीलाओं में केवल इसलिए मुग्ध नहीं हो सकते थे कि वे कृष्ण की लीलायें हैं। कोई यदि उनसे कहे कि—

औरन को धन चाहिये बावरि,
बांभन को धन केवल भिक्षा।

तो उन्हें सन्तोष नहीं होता। वे इसे ऐसा क्रान्ति पाठ समझते हैं—जो स्वार्थ के लिए मनुष्य दूसरों को सिखाना चाहता है। वे तो यही कहेंगे—

श्री जदुनाथ से जाके हितू सो,
तिहूँ पन क्यों कन मांगत डोलै ?

इस दारिद्रय में वह रंग-रास की कल्पना कहाँ ? वह मुरली की ध्वनि, वह छेड़-छाड़, वह आँख मिचौनी, वह लुकाछिपी कहाँ—दरिद्रता के मरुस्थल में मरुद्यान की ही कल्पना हो सकती है। यमुना-गंगा के शस्य-श्यामल पुलिनों के इन्द्रधनुषी सुगन्ध पारिजातों का तो स्वप्न भी नहीं हो सकता।

नरोत्तम ने जनता का चित्र सामने रखा—अमीरों का नहीं। क्या भारत आज भी सुदामा नहीं बना हुआ ! यही कारण है कि नरोत्तम की परिध्यान्तरा प्रकृति कृष्ण के उस रूप से विमोहित न हो सकी—तभी उसने यह चुभता हुआ अंश उस वृद्ध ग्रन्थ में से चुन लिया। यहाँ हमें कृष्ण और राम दोनों से ही भिन्नता दिखाया पड़ती है।

प्रत्येक साहित्य-स्रष्टा का अपना निजी दृष्टिकोण होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस दृष्टिकोण में परिस्थितियों से रङ्ग आ जाता है। पर यह रङ्ग साहित्य-विश्लेषक ही शास्त्रीय प्रयोगशाला में पृथक कर सकता है। यह रंग उसके व्यक्तित्व उसकी सृजन-शक्ति के शील और उसकी प्रतिभा का गति से भिन्न होता है। यह उसका सन्देश नहीं कहा जा सकता। कला को कला के लिए लिखा जाय तो भी यह व्यक्तित्व लुप्त नहीं हो सकता—उस दशा में तो कविता और भी व्यक्तित्व प्रधान हो जाती है, और भी Personal हो जाती है। यही कला में सन्देश, दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है।

जिस युग में नरोत्तम का जन्म हुआ वह सूर और तुलसी से कुछ पूर्व था। इनसे पहले कबीर हो चुके थे। प्रेम-मार्गी कवियों का भी तानपूरा खूब खटक चुका था।

किन्तु इनसे लोक-भावना को संतोष नहीं मिला था, इनसे जीवन में प्रकाश नहीं आया था। यह बात ध्यान देने की है कि 'सुदामा-चरित्र' का नायक 'सुदामा' कृष्ण के पास 'मोक्ष', 'सद्गति' अथवा आध्यात्मिक शान्ति के लिए नहीं गया। न कृष्ण ने ही उसे, अपने दर्शन देकर अपने धाम में भेजा, अथवा अपनी रहस्य-लीला में सम्मिलित किया। आज के 'प्रगतिवादी' की भांति नरोत्तम ने उस

धार्मिक और आध्यात्मिक युग में भारतीय नागरिक की, एक भक्त की, आर्थिक समस्या का चित्र प्रस्तुत किया। नरोत्तम के कृष्ण ऊपर से तो हमें साम्यवादी प्रतीत होते हैं, वे सुदामा को भी अपना जैसा ही बना डालना चाहते हैं—पर यह साम्य यथार्थ में नहीं,—कृष्ण ने उन्हें अपना सब कुछ दे डालने का निश्चय कर लिया है, तभी रुक्मिणी उन्हें रोकती हैं। 'नाथ कहा निज बास की आस बिसारी'—उन्हें तीसरी मुठा खाने ही नहीं दी। दूसरे कृष्ण ने अपने मित्र को ही अपने जैसा बनाने का उद्योग किया। दरिद्रता मात्र को दूर करने का उद्योग नहीं किया। पर यह इस काव्य का प्रकृत विषय नहीं। वस्तुतः भगवान की 'उदारता' 'दया', 'करुणा' का मार्मिक रूप प्रस्तुत करके कृष्ण के दया-दाक्षिण्य में आस्था उपस्थित करना ही अभीष्ट है।

इस काव्य की तीन विशेषतायें हैं—एक संवाद का चटकीलापन, पति-पत्नी के संवादों में युक्ति-तर्क, यथार्थ-वर्णन, भाव-भावुकता और भक्ति-विश्वास के साथ नीति, धर्म और समाज का चित्र कवि ने खींच दिया है। दूसरे इस छोटे से कथानक में ही करुणा और हास्य और अद्भुत के साथ भक्ति रस का समावेश कर दिया है—तीसरे 'निराश' मानव के लिए तीन मार्गों का सुझाव भी प्रस्तुत किया है। अपना कर्तव्य करते हुए दरिद्र रहने में भी एक आन्तरिक सुख है, क्या आवश्यकता है, कहीं हाथ पसारने की। कर्तव्य करो, सन्तोष को सबसे बड़ा धर्म समझो। दूसरे निराश मानव की आशा है भगवान, उस पर विश्वास करो, उस पर निर्भर करो, पर फल की इच्छा मत करो। तीसरे निर्भर करो, और फल भी प्राप्त करो। सुदामा का चित्र उस मानव का चित्र है जो आशा-विश्वास के पग रखता हुआ आगे बढ़ता है, पर वैफल्य और निराशा का बोझ लिए डिगमिगाता लौटता है--पर अनायास ही आशा का साकार रूप अपने समक्ष प्रस्तुत पाता है—भाग्य और भगवान पर भरोसा रखने वाले भारत को इस संदेश में कितना सुख और आनन्द है।

के समालोचक इस कार्य पर एक अनोखी दृष्टि से विचार करते हैं। वे कहते हैं, कि यह काव्य कृत्रिम-आभिजात्य काव्य है, स्वाभाविक नहीं, अतः सूर और तुलसी तो युग की भावनाओं को प्रकट और अभिव्यक्त करने वाले, उस युग की आकांक्षाओं को रूप देने वाले प्रगतिवादी कवि हैं। बिहारी और देव वैसे कवि नहीं। रीतिकालीन कवियों ने प्रतिगामी काव्य और समाज को तथा जन को पतन की ओर प्रवृत्त किया। इस दृष्टि का पोषण सर्वत्र ही हुआ है। हमें इस दृष्टि के मर्म को भी समझने की आवश्यकता है। क्यों सूर और तुलसी तथा कबीर जो सामयिक आन्दोलन के प्रवाह और दबाव में लिख रहे थे, स्वाभाविक और प्रगतिवादी काव्य के रचयिता हुए, और क्यों सहज रूप से, बिना किसी आन्दोलन के दबाव के जो रचनायें की गयीं वे अस्वाभाविक और प्रतिगामी हुईं। इसके लिए इतिहास को, काव्य की पृष्ठभूमि को समझने की आवश्यकता है।

इतिहास यह बताता है कि जन-जीवन के इतिहास के युगों में जो परम्परा मिलती है वह एक की दूसरे के प्रतिक्रिया के रूप में होती है। वैदिक कर्म-काण्ड के विरुद्ध बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हुआ और अहिंसा का युग प्रतिष्ठित हुआ। इस बौद्ध युग की प्रतिक्रिया ब्राह्मण युग में हुई। इसी प्रकार सर्वत्र। फलतः 'रीतिकाल' भक्ति-काल की प्रतिक्रिया कहा जाना चाहिए—और वह है भी। भक्तिकाल में प्रेम को जन-जीवन के व्यवहारिक धर्म से अलग कर दिया, उसे अपने से इतर पुरुष-निर्गुण अथवा सगुण के लिये समर्पित कर दिया, उसकी अपनी भावना का अपने ही हाड़-मांस के लिए कोई भी स्थान और उपयोग नहीं रहा।

भक्ति एक भावावेश की चरमावस्था है। वह हृदय के भावों में उत्ताल गति चाहती है। ऐसी भावाविष्ट दशा सदा नहीं बनी रह सकती, न सदा रुचिकर ही हो सकती है। रीति-काव्य ने उसी प्रेम तत्व को दिव्य धरातल से उतार कर शरीर'—'हाड़-मांस' में अनुरक्त कर दिया। यह एक प्रतिक्रिया थी। इश्वर में से उन्होंने ईश्वरत्व निकालकर अपने जैसा नग्न मानव नायक अथवा नायिका का रूप दे दिया।

आन्दोलन में मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं की ओर

विशेष आकर्षण होता है, प्रत्येक आन्दोलन पूर्ण-मानव के लिए नहीं उठ सकता, वह उसके किसी अंश को सन्तुष्ट करने के लिए प्रवृत्त होता है। फलतः मूल-मानव कभी इन आन्दोलनों का विषय नहीं बनता। 'शाश्वत' और कुछ नहीं 'मूल-मानव' ही है। यही युग-युग में समान रहता है। आन्दोलन केवल युग धर्म को, एक विकार को अथवा एक हानि को प्रस्तुत करता है। वह जब सफल अथवा विफल हो जाता है, तो शाश्वत तत्वों की ओर पुनः दृष्टि जाती है। मानव कुछ विराम की ओर आकृष्ट होता है। इसी मनोदशा में रीतिकालीन साहित्य की प्रेरणा निहित है। प्रत्येक साहित्यिक अभिव्यक्ति अपने लिए कोई न कोई रूप चाहती है। भक्ति-काल ने बहुधा प्रबन्धात्मकता का आश्रय लिया। वह सर्गबद्ध रही हो जैसे 'रामचरितमानस' में चाहे खण्ड-खण्ड रही हो जैसे 'सूरसागर' में। भक्तिकाव्य ने वस्तु को प्राधान्य दिया, शैली को गौण स्थान मिला। रीतिकाल ने इस स्थिति की प्रतिक्रिया में शैली और रूप को सुनिश्चित व्यवस्था देने का यत्न किया। ये कुछ अत्यन्त स्थूल और स्पष्ट बातें हैं जो यह प्रकट करती हैं कि रीतिकाल में भक्तिकाल की प्रतिक्रिया हुई कि रीतिकाल भक्तिकाल के ह्रास का विकृत रूप नहीं था और भी स्पष्ट करने के लिए हम यों तुलना कर सकते हैं :—

भक्तिकाल	रीतिकाल
१—भक्तिकाल कृष्ण भगवान को नायक मानता है।	१—रीतिकाल नायक को कृष्ण मानता है।
२—भक्तिकाल नायक को भगवान ब्रह्म मानता है।	२—रीतिकाल नायक को मनुष्य मानता है।
३—भक्तिकाल सम्प्रदाय और आन्दोलन का परिणाम है।	३—रीतिकाल असाम्प्रदायिक तथा स्वाभाविक है।
४—भक्तिकाल प्रेम को दिव्य भावावेश का रूप देता है।	४—रीतिकाल प्रेम को रति, स्त्री-पुरुष की साधारण स्वाभाविक ऐन्द्रिक रति के रूप में ग्रहण करता है।
५—भक्तिकाल प्रेम को अभोग्य, ब्रह्म समर्पणीय मानता है।	५—रीतिकाल प्रेम को भोग्य और ऐन्द्रिक विषय मानता है।

६—भक्तिकाल सिद्धान्त और दर्शन के आधार पर खड़ा होता है।

७—भक्तिकाल विषय और वस्तु को महत्त्व देता है।

८—भक्तिकाल उपयोगितावादी है।

९—भक्तिकाल प्रबन्धात्मकता की ओर आकृष्ट है।

६—रीतिकाल जीवन को ऐसे किसी माध्यम से नहीं देखना चाहता।

७—रीतिकाल शैली और रूप को महत्त्व देता है।

८—रीतिकाल कलावादी है।

९—रीतिकाल सर्वथा मुक्तक है।

इस प्रकार और भी तुलना के विषय मिल सकते हैं, जो एक की दूसरे के विरुद्ध स्थिति अभिव्यक्त कर सकते हैं। अतः रीतिकाल भक्तिकाल की प्रतिक्रिया तो है हां; हमें उसकी अन्य ऐतिहासिक स्थिति को भी समझ लेना है।

इस काल की ऐतिहासिक प्रवृत्ति पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि रीतिकाल का आरम्भ मुगल-साम्राज्य के वैभव के सम्पन्न होने के युग में हुआ। यों तो इस रीतिकाल का बीजारोपण करने वाले महाकवि केशवदास अकबर के समय में हुए, ठीक उस काल में जब भक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी और सूर-तुलसी जैसे महान कवि अपनी रचना से काव्य को वह स्थान प्रदान कर रहे थे, जो किसी भी साहित्य को कठिनाई से ही मिला करता है। तुलसी और सूर स्वतन्त्र कवि थे, केशव राज-दरबार के कवि थे। अकबर का समय धार्मिक और साहित्यिक पुनराहरण का युग कहा जा सकता है। इस पुनराहरण में संस्कृत भाषा के पुराण और धार्मिक ग्रन्थों का ही अध्ययन और अनुवाद नहीं हुआ, काव्य-ग्रन्थों का ओर भी ध्यान आकर्षित हुआ। केशवदास ने 'अलङ्कारवादी' संस्कृत आचार्यों का अनुकरण किया। अब उनकी शास्त्रीय रचना के प्रधान आधार दण्डी का काव्यादर्श, 'अमर' का काव्य-कल्पलता वृत्ति और केशव मिश्र का 'अलंकार शेखर' है। आगे के रीतिवादी आचार्यों ने भी संस्कृत आचार्यों से प्रेरणा और सामग्री ली। यह पुनराहरण भी इस बात का द्योतक है कि ऐतिहासिक स्थिति व्यवस्था और शान्ति के अनुकूल होती जा रही थी। आगे दो-तीन पीढ़ियों तक यह व्यवस्था और शान्ति बनी ही रही; यह स्वाभाविक ही था कि पूर्वकालीन आन्दोलनों का वेग मन्द पड़ जाता, यही हुआ भी। इसी कारण कवियों का ध्यान दूसरी ओर गया। राज्य की व्यवस्था ठीक हो जाने

पर राजा में पुनः श्रद्धा लौटी, उनके दरबारों में फिर ऐश्वर्य की भीड़ होने लगी। ऐतिहासिक जीवन में जो पतवार जनता के हाथ में चला गया प्रतीत होता था, वह पुनः राजाओं के हाथ में आ गया। भक्ति आन्दोलन जीवन की वैषम्यपूर्ण दशा का द्योतक था; रीति-काल में जीवन में साम्य दशा लौटी तो काव्य और साहित्य की भूमि भी बदल गयी। अब साहित्य माध्यम नहीं रहा। अब वह साध्य हो गया। उसका विषय हो गया जीवन की मांसल छवि या सौन्दर्य का निरूपण। इसके लिए उसे वैसे ही अलंकार-रस जैसे काव्य-साधन और उक्तियों का आश्रय लेना पड़ गया।

कोई भी साहित्य बिना आवश्यकता के नहीं पनप सकता, कम से कम उसका युग दीर्घ नहीं हो सकता। रीति-काल दीर्घ काल है। इस काल में अनेकों कवि हुए। इनमें से अधिकांश राज्याश्रय में रहे किन्तु इनका काव्य सर्वत्र फैला और समादृत हुआ। 'बिहारी' की सतसई पर इतनी टीकाओं का निर्माण यह सिद्ध करता है कि इस रीतियुगीन साहित्य को गम्भीर दृष्टि से अध्ययन का विषय बनाने का एक महत्-उद्योग होता रहा। तो प्रश्न यह है कि यह ऐसा अगतिवादी साहित्य क्यों इतना अनिवार्य रहा?

साधारण जन के जीवन में प्रत्येक भावधारा अपना एक विशेष स्थान रखती है। वह केवल न भक्त हो सकता है, न केवल वीर। ये उसके जीवन में अपना स्थान रखते हैं। पर इनकी सीमाएँ भी हैं। इस जीवन में उसे मनोरञ्जन, भक्ति-चमत्कार और ऐन्द्रिक-सौन्दर्य-विषय की भी आवश्यकता है। इसी रीति-साहित्य ने उसकी इस आवश्यकता को पूर्ण किया। यह रचना बिना काव्य-शिक्षा के नहीं हो सकती थी। यह केवल आत्मानुभूति का उद्गार नहीं था कि जिस रूप में भी प्रकट हो जायगा उसी में ग्राह्य हो सकेगा, इसकी सहायता के लिए सङ्गीत भी नहीं आ सकता था, इसे तो अपने रूप की व्यवस्था स्वयं करनी होगी। इस आवश्यकता ने साहित्य-शास्त्र की रीति को आवश्यक बना दिया। ये दोनों बातें युग-धर्म बन गयीं। यही कारण है कि इस काल में दोनों प्रकार के कवि मिलते हैं, एक वे जो आचार्य भी हैं, दूसरे वे जो केवल कवि हैं। इनकी कविताएँ भी दो प्रकार की हुई: एक रीति-युक्त, दूसरी रीति-मुक्त।

रीतिकाल के अध्ययन का यह भी एक रूप है।

रीतिकालीन कविता की परम्परा

स०—बीती विभावरी जागरी।
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।
अधरों से राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये,
तू अब तक सोई है आली,
आँखों में भरे विहाग री!

बा०—बड़ी सुन्दर कविता सुनायी! प्रसादजी ने इस उद्बोधन में नई कविता के अरुणोदय की ओर भी संकेत कर दिया है। काव्य की पुरानी रीतिकालीन धारा तो हरिश्चन्द्र तक आते-आते बिल्कुल सूख ही गयी थी। रतिश्रान्ता ब्रज-बनिता की भाँति रीतिकालीन ब्रजभाषा काव्य से भी विश्राम ले लिया था। नये युग से नये प्रकार के काव्य का उदय स्वाभाविक ही है।

स०—पर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से आज तक, मेरा तो विचार है कि यह धारा सूखी नहीं, अक्षुण्ण अभी तक बही चली जा रही है। यही नहीं, उलटे यह धारा और विशद हो गयी है।

बा०—आपका यह विचार निश्चय ही किसी भ्रम के कारण हुआ है। बात बहुत स्पष्ट है, रीतिकाल एक ऐतिहासिक काल हो चुका है। प्रत्येक काल सामयिक घटना चक्रों का परिणाम होता है। रीतिकाल में देश की जो परिस्थिति थी वह वर्तमान युग में नहीं है। अतः रीतिकाल का काव्य आज नहीं पनप सकता। न तो वे विलास-मग्न सामन्त आज हैं जो किसी फड़कती उक्ति पर उछल कर कवि को निहाल करदें। आज का कवि अनूठी स्वच्छन्दता से काव्य प्रस्तुत करता है।

स०—यह सब तो एक दृष्टिकोण है, और प्रायः सभी इतिहासकारों ने और नवयुग के प्रवर्तक कवियों ने भी यही कहा है। पर यह यथार्थ नहीं। हाँ कोई भ्रम न रहे इसलिए पहले रीतिकालीन काव्य-परम्परा का अर्थ स्पष्ट हो लेना चाहिए।

बा०—हाँ! आपही बताइये, आप रीतिकाल की कविता की परम्परा किसे कहते हैं?

स०—मेरी दृष्टि में पहले तो हमें 'रीति और रीति सम्बन्धी कविता' में अन्तर समझ लेना चाहिए। 'रीति' को वामन ने काव्य की आत्मा बताया था।

बा०—किन्तु वामन तथा अन्य संस्कृत आचार्यों ने 'रीति' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया है, उसी अर्थ में हिन्दी में उसका प्रयोग नहीं होता है।

स०—यह भी ठीक ही है। किन्तु रीति शब्द को महत्व पहले वामन ने ही दिया। उसने रीति की कविता को शैलियों के अर्थ में ग्रहण किया। पर आत्मा मान लेने से कविता के गुण अलङ्कार आदि सभी उससे सम्बद्ध हो गये। हिन्दी में इसी विस्तृत अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। 'रीति' ग्रन्थ, अतः वे ग्रंथ हैं जिनमें काव्य अथवा साहित्य की 'रीति', दूसरे शब्दों में उसके शास्त्र का निर्देश हो। हिन्दी के रीतिकाल में हमारे आचार्य कवियों ने पहले रीति का निरूपण किया, यह बहुधा दोहों में किया। यह तो हुई रीति—इसमें काव्य, ध्वनि, रस, अलङ्कार और उनके भेदों की परिभाषा की गयी। यह रीति या लक्षण कविता नहीं हो सकती। रीतिकाल की 'कविता' तो वह है जो रीति के लक्षणों के उदाहरण स्वरूप कवि ने रची।

बा०—इसीलिए तो भूषण की कविता वीर रस की होते हुए भी रीतिकालीन ठहरती है?

स०—माफ कीजिये, मैं अभी अपनी बात पूरी कहाँ कह पाया था। भूषण ने रीति ग्रन्थ तो लिखा 'शिवराज भूषण', किन्तु उसकी कविता रीतिकालीन परम्परा में नहीं आती। रीतिकाल की कविता की कुछ विशेष बातें हैं, एक तो यह कि वह शृङ्गार रस के विलास की रचना होती है।

बा०—हाँ, यह विलास शब्द आपने अच्छा रखा, इससे भ्रम की गुञ्जाइश नहीं रही। 'तुलसीदास' में शृङ्गार रस की कविता है किन्तु उसमें शृङ्गार रस का विलास नहीं, सूर की रचनाएँ तो अति शृङ्गार पुष्ट हैं फिर भी उनमें रस का विलास नहीं है।

स०—जी हाँ, तो यह 'रस-विलास' रीतिकालीन कविता की पहली चीज है। इसी शृङ्गार रस का विलासिता से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाली दो और बातें हैं। एक नायक-नायिका-भेद की ओर विशेष आकर्षण और रस के उद्दीपन के लिए प्रकृति, दूती तथा चेष्टाओं का वर्णन, संयोग में रतिकेलि और वियोग में तड़पन का भी विशद निरूपण होगा ही।

बा०—मेरे विचार से इन सब बातों के साथ एक और बात है जो रीति काल के काव्य में मिलती है—वह है ऊहा और उक्ति-वैचित्र्य। वैसे तो मैं लक्षण देने का भी रीतिकालीन परम्परा का मुख्य अङ्ग मानता हूँ।

स०—पर यह तो केवल बाहरी लक्षण है। यथार्थ में किसी कविता की मूल प्रवृति को देखने की आवश्यता है। रीतिकालीन काव्य का मूल बिन्दु 'रति' की भावना है। इसी भावना की प्रमुखता के कारण रीतिवादी कवियों ने शृङ्गार रस पर, नायक नायिकाओं पर इतना अधिक ध्यान दिया है। नहीं तो रीति की प्रतिष्ठा करने में लक्षणों की परिभाषा करने और उन्हें समझाने में भूषण की भाँति किसी अन्य रस का भी सहारा ले सकते थे।

बा०—यहाँ पर आप एक बात आप भूले जा रहे हैं। युग का प्रभाव साहित्य पर पड़ता ही है। भूषण का वीर रस औरङ्गजेब के शासन की प्रतिक्रिया के कारण परिपक्व हुआ। 'रीतिकाल' की लम्बी परम्परा का रहस्य मुगल सम्राटों की नीति में है। उन्होंने राजाओं के शौर्य को अनावश्यक कर दिया। वे विलास में डूब गये। रीति-काल भारतीय सामन्तशाही की मध्यकालीन प्रवृत्ति पर आश्रित था। उसी में पैदा हुआ था। उसी के समस्त धर्म उसमें आगये थे।

स०—कैसे ?

बा०—राजा अपने आश्रित कवियों में पाण्डित्य आवश्यक मानते थे। जिससे उन्हें सन्तोष हो कि उनके दरबार में भी रत्न हैं।

इस प्रवृत्ति ने कवियों को शास्त्र तथा लक्षण-ग्रन्थ लिखने की ओर लगाया। राजा विलासी थे ही। उन्होंने शृङ्गार की चर्चा और नायिकाओं के वर्णन को उत्तेजना दी। इस विलास को सजीव बनाने के लिए उन्हें फड़कती चीज की आवश्यकता थी। उसने उक्ति-वैचित्र्य और ऊहा प्रदान की। आज वह युग नहीं रहा। अतः रीतिकालीन कविता भी समाप्त हो गयी।

स०—जहाँ तक साहित्य के इतिहास का प्रश्न है वहाँ तक आपको यह रीतिकालीन कविता अपने रूप में आज तक अटूट मिलती है।

बा०—कैसे ? जरा स्पष्ट कीजिए

स०—भारतेन्दु तक तो आप और सभी इतिहासकार मानते हैं। आपने ऐतिहासिक तर्क में भूषण को औरङ्गजेब कालीन नीति की प्रतिक्रिया बताया। पर उसी काल में मतिराम, देव, कालिदास, त्रिवेदी, कुलपति मिश्र जैसे दिग्गज आचार्य और कवि हुए जिन्होंने रीति-कालीन काव्य की परम्परा में भूषण को केवल एक अपवाद ही कर दिया है। आचार्यत्व की दृष्टि से लाला भगवानदीन, जगन्नाथ-प्रसाद भानु, विनायक राव, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, केडियाजी, रसालजी और अपने 'रस कलश' के लिए प्रसिद्ध पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय रीतिकालीन परम्परा के आचार्यत्व को आज तक बनाये हुए हैं। और जहाँ तक रीतिकालीन कविता का प्रश्न है वहाँ जगन्नाथदास रत्नाकर को कौन भूल सकता है।

बा०—यह तो आप ब्रज-भाषा काव्य की बात कह रहे हैं। नये कवि और नये भाव क्या नहीं आये ?

स०—नये युग में भी रीतिकालीन काव्य का अभाव कहाँ हुआ है ? रीति-युग के बाद साहित्यिक युग की दृष्टि से तो छायावाद का ही युग आया है। उसमें तो रीतिकाल की समस्त प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। केवल रूप-भेद हुआ है। इस युग के प्रवर्तक प्रसाद में और पन्त में ही आप देखें, समस्त प्रवृत्ति वही रीतिकालीन काव्य की है—वही 'प्रिय और प्रिया' के संयोग, वही उनके वियोग में आहोजारी और दीर्घ उच्छ्वास, वही हाव-भाव, लुकना-छिपना, वही अलङ्कार-प्रियता, वही उक्ति वैचित्र्य।

बा०—यह तो आप बहुत चलती बात कह रहे है।

स०—नहीं उदाहरणों से पुष्ट करके यह स्थापना सिद्ध की जा सकती है। प्रसादजी का आँसू तो इन सब प्रवृत्तियों का प्रबल परिचय देता है।

जल उठा स्नेह दीपक सा, नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूम रेखा से, चित्रित कर रहा अँधेरा।

इसमें अलंकार, ऊहा और उक्ति-वैचित्र्य के साथ शृङ्गार रस की रति भावना ही तो स्थायी है। पन्तजी का पल्लव तो समस्त रीतिकालीन रूप विधान पर खड़ा हुआ है। उसमें उच्छ्वास, षट-ऋतु, विशेषतः पावस और बसंत, सहेट-सकेत, और विविध नायिकायें, उनकी चेष्टाएँ अत्यन्त स्पष्ट देखने को मिल जायँगी।

इस युग के कवियों ने केवल एक विपर्यय कर दिया है। प्राचीन कवि नायिका के अंग प्रत्यंगों के लिए प्रकृति से उपमान खोजते थे। आज के कवि प्रकृति में नारी का आरोप करते हैं। आज ऊषा अथवा चाँदनी नारी बन गयी है। और उनमें किसी न किसी नायिका का रूप दर्शन हो सकता है।

बा०—पर यह सब रीतिकालीन मनोवृत्ति से तो नहीं हुआ। एक विराट और भव्य की भावना तो इनमें प्राचीनों से धरातल का अन्तर पैदा कर देती है।

स०—वह विराट-भावना तो केवल आड़ मात्र है। माँस की स्थूल बेचैनी आप अंचल में देखते ही हैं। प्रसाद की कामायनी में भी श्रद्धा में नायिका-भाव का उद्दीपन करने वाला प्रतिपादन हुआ है। उसमें तो कवि ने वास्तविक रति भी चित्रित करदी है। उपाध्यायजी के 'प्रियप्रवास' से वियोग वर्णन की परिपाटी महाकाव्यों में मिलती है। मैथिलीशरण गुप्त जैसे राष्ट्रीय कवि की 'उर्मिला' और यशोधरा में वियोगिनियों के वही चित्र उतरे हैं जो रीतिकालीन कवियों में मिलते हैं।

बा० -पर ठहरिये, आपने इन सब उदाहरणों में क्या यह नहीं देखा कि वह 'राधा' देश और समाज की सेवा के लिए कटि बद्ध हो जाती है। भारतेन्दु जी की रचनाओं में भी देश की आर्त अवस्था उभरी है—

आवहु सब मिलकर रोवहु भाई,
हा हा !! भारत दुर्दशा न देखी जाई।

उर्मिला सैन्य-संचालन का कार्य करने को तत्पर है। मानवीय करुणा ही आज की रचनाओं में प्रतिफलित मिलती है। 'निरालाजी' की, 'तोड़ती पत्थर थी इलाहाबाद की सड़क पर' में स्त्री का चित्र होते हुए भी क्या परिपाटी-भुक्त नायिका मिलती है। छायावादी कवियों ने आज वह चोला उतार फेंका है और प्रगतिवाद के निकट आ गये हैं।

स०—हाँ, पर उससे हुआ क्या है ? यह भी तो देखिये।

बा०—वही तो मैं बता रहा हूँ। प्रगतिवाद ने तो समस्त प्राचीन रूढ़ियों को एक दम धता बतादी है, न अलंकारों का आकर्षण है, न छन्दों का। विषय की दृष्टि से नारी उसमें नहीं आती। इस वाद ने तो रीतिकालीन प्रवृत्ति के मूल को ही रूँध दिया है। प्रगतिवाद के अवतरण से रीति-कालीन प्रवृत्ति के लिये अब भविष्य भी बिल्कुल अन्धकारमय हो गया है।

स०—किंचित गहराई में जाकर देखिये, जिस प्रगतिवाद का आप उल्लेख कर रहे हैं, वह एक सामयिक लहर है। जिसने मनुष्य की शाश्वत भावनाओं, उसके मनोवेगों को साहित्य के लिए अस्वाभाविक उद्वेगों से कुछ काल के लिए दबा दिया है। पन्तजी प्रगतिवादी होकर भी ग्राम्या में सौन्दर्य के रीतिकालीन मानों को नहीं त्याग सके। अंचल आदि की कविताओं में नारी का रीति-कालीन रूप छिपा हुआ है। उसकी वेशभूषा प्रगतिवादिनी होगयी है। यथार्थ यह है कि रीतिकाल ने जिस 'रति-काम' को महत्व दिया वह शाश्वत मानववृत्ति है। वह किसी सामयिक आन्दोलन से, उत्तेजित विचारधारा से कुछ काल के लिए पीछे पड़ सकती है, पर टूट नहीं सकती। फ्रायड के मनोविश्लेषण ने इस बात को वैज्ञानिक प्रमाण-पत्र प्रदान कर दिया है।

बा०—देखिये ! एक बात फिर भूल की सी हो रही है। आप जिसे शाश्वत वृत्ति कहते हैं, उसे मैं भी शाश्वत मानता हूँ पर प्रेम का वर्णन तुलसी ने भी किया है, सूर ने भी, पर वे रीति-

कालीन कविता करने वाले नहीं हो जाते। भक्त कवियों ने खिले गुलाब की मादकता को लिया। रीतिकालीन कवियों ने गुलाब को सड़ा कर निकाले हुए शृङ्गारिक इत्र की मादकता में विभोरता पायी। आज आपको यह मानना पड़ेगा कि वह इत्र की मादकता छूट रही है। खिले गुलाबों की ओर फिर दृष्टि जा रही है।

स०—सामयिक प्रभाव को मैंने मानने से कब इनकार किया है पर वह सब क्षणिक है। भक्तिकाल की भक्ति के अभाव होने से रीतिकाल के उदय की बात कितने ही विद्वानों ने कही है। जबकि केशवदास उसी भक्तियुग में बैठे-बैठे रीतिकाल का बीज अंकुरित कर रहे थे। यह रीतिकालीन भावना तो वेदों से लेकर आज तक उसी रूप में आयी है और आगे भी रहेगी। मनुष्य के दो रूप मानने ही होंगे, एक शाश्वत जब वह 'अपने व्यक्ति और व्यक्तित्व' में बँध रहा हो, दूसरा संघर्ष का सामयिक रूप, जब वह आन्दोलनों से आन्दोलित हो उठता है। पहला रीतिकालीन प्रवृत्ति का परिचायक है, वह किसी भी परिपाटी में बँधा हुआ हो, और अमर है।

बा०—पर क्या यह भी आप नहीं मानेंगे कि, स्त्री अब उन कवियों की नायिकाओं की भाँति 'भोग्या' नहीं रही। और ऐसी उक्तियां आज ही सुनने को मिलती हैं।

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और नयनों में पानी॥

जैसा दिनकर ने कहा है—

आज न उड़के नील कुञ्ज में स्वप्न खोजने जाऊँगी,
आज चमेली में न चन्द्रकिरणों से चित्र बनाऊँगी।

यही आज कविता की दिशा होनी है।

स०—यों आज की बात है यह तो। कल की बात कहाँ है? युग-युग से जो चली आयी है वह किसी एक युग से परास्त कहाँ हो पाती है। वह आज पीछे भले ही पड़ जाय। कल फिर उभरेगी। इसमें इतिहास प्रमाण है।

— —

ब्रज-भाषा-माधुरी

ब्रजभाषा की मिठलौनी कहाँ ?

'ब्रज-भाषा' भारतीय आर्य भाषा-वर्ग की एक प्रधान भाषा है। आजकल भी यह एक विशाल-क्षेत्र में बोली जाती है। अभी कुछ समय पूर्व ही यह प्रायः समस्त उत्तरी भारत की काव्य-भाषा थी। सन् १६०० के लगभग तक हिन्दी-क्षेत्र के समस्त कवि ब्रज-भाषा में ही काव्य-रचना करते थे। खड़ीबोली, अवधी आदि के उदाहरण कहीं कहीं अपवाद स्वरूप हैं। इसकी साक्षी न केवल ग्रंथों से मिलती है वरन १६ शताब्दी के उन साप्ताहिक पत्रों से भी मिलती है जो लाहौर या कलकत्ता से निकलते थे। लाहौर के मित्रविलास में या कलकत्ता के 'सार सुधानिधि' में भी ब्रजभाषा के उदाहरण मिलेंगे। 'मित्र-विलास' सन १८८६ में लाहौर से निकलता था, १६ वीं शताब्दी में। उसके सन् १८८६ ई० के अंक में बारहमासा का एक छन्द देखिये—

> पोह परम गत पावे सोई जिहँ सत संग पियारा है,
> पाप कटत सत् संगत से चित विमल बोध उजियारा है
> सतसंगत पथ मुक्ति होनको श्रुति ने टेर पुकारा है
> त्रिविध ताप अरु त्रिविध पाप कटने को सतसंग आरा है

इसी समय के लगभग कलकत्ते से 'सार सुधानिधि' साप्ताहिक पत्र निकलता था, उसमें बहुधा कवितायें निकलती थीं ! वे सभी प्रायः ब्रजभाषा की होती थीं २४ अक्टूबर १८८१ के अंक से एक उदाहरण लीजिए :

> लोचन हमारे सदा रहत हैं उघारे
> कहो कैसे रहें मूँदें जिनें रूपरस चाख्यौ है।

मनहु हमारो मन काहूसौं करन वारो
कैसें मन मानें जोग भोग भार राख्यों है।
कानहू हमारे रस रास रीझे तानन सों
कौन सुने ज्ञान इन ज्ञान अभिलाष्यो है।
रसक सभा को तेरे कसक न लागी याते
खीर मौंझ मूमर सो मुक्ति पद नाष्यौ है।

पश्चिम और पूर्व के इन ब्रजभाषामय उद्धरणों से यही सिद्ध होता है कि ब्रजभाषा इस शताब्दी तक प्रायः समस्त उत्तरी भारत के हिन्दी-क्षेत्र की काव्य-भाषा थी। इससे कोई एक शताब्दी पूर्व तक यही ब्रज-भाषा राष्ट्र-भाषा के रूप में समस्त लिखित साहित्य की भाषा थी। अब तक ऐसा विश्वास था कि ब्रज-भाषा में गद्य-विशेष नहीं मिलता, पर बाद की खोजों की रिपोर्टों से यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रजभाषा में गद्य में भी खूब लिखा गया। ब्रज-भाषा के इस प्रचुर प्रचलन के कारण ही एक समय लोगों का यह विश्वास जम गया था कि उर्दू और खड़ीबोली ब्रजभाषा से निकली है। 'ब्रजभाषा' का इस लिए बहुत महत्व है।

यह ब्रज-भाषा 'शौरसेनी प्राकृत' के क्षेत्र में बोली जाती है, और शौरसेनी का ही रूपान्तर है। अल्फ्रेड सी० बूलनर महोदय ने शौरसेनी प्राकृत के बारे में लिखा है कि—

'शौरसेनी प्राकृत मध्यदेश की भाषा थी, जिसका नाम मथुरा के आस पास के प्रदेश 'शूरसेन' के नाम पर रखा गया। यह संस्कृत नाटकों की साधारण भाषा है। यह स्त्रियां और विदूषक द्वारा बोली जाती है; कर्पूर मंजरी में राजा द्वारा भी। यह प्राकृत शिष्ट संस्कृत (Classical Sanskrit) के निकटतम है। यह उसी प्रदेश में उठी और उस बोल-चाल की भाषा से अवतीर्ण हुई है, जिस पर शिष्ट संस्कृत का निर्माण हुआ। यह इस प्रकार संस्कृत और हिन्दी (अर्थात् पश्चिमी हिन्दी जिस पर से साहित्यक हिन्दी बनी है) की मध्यवर्ती अवस्था है। — इन्ट्राडक्सन टू प्राकृत

मुगलों के समय में यह ब्रजभाषा शिष्टों और काव्य की व्यापक भाषा थी। १६७६ ई० के लगभग मीरजाखाँ ने 'तोहफतुल-हिन्द' नाम की पुस्तक में ब्रजभाषा का व्याकरण लिखते हुए ये शब्द कहे हैं :

"ब्रजवासियों की भाषा सभी भाषाओं में श्रेष्ठ है। गंगा जमुना के बीच में जो देश है, चन्दवार आदि, वह भी शिष्ट गिना जाता है। चन्दवार··· चूँकि इसी भाषा में प्रिय-प्रिया की प्रशंसा और सरस एवं अलंकृत कविता है। तथा यही भाषा शिष्टों और काव्य की व्यापक भाषा है। इसलिए इसके व्याकरण की रचना की जाती है।

—[ब्रज-भारती, वर्ष १ अङ्क १]

इस भाषा का मर्म इसकी मधुरता है। देशी और विदेशी सभी व्यक्तियों ने मुक्त कंठ से यह बात मानी है कि ब्रजभाषा सब भारतीय भाषाओं में मधुर है। संस्कृत आचार्यों ने माधुर्य को एक गुण माना है। उसे रस का नित्य धर्म कहा गया है। इस गुण की परिभाषा आचार्य मम्मट ने यों दी है: "आल्हादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुति कारणम्। करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्। (का० प्र० ८।६८।६९) जिसके कारण चित्त द्रुत हो जाता है, द्रवित हो जाता है, उस आह्लाद को माधुर्य कहते हैं। यह शृङ्गार से करुण में, करुण से विप्रलम्भ में, विप्रलम्भ से शान्त में अतिशय होता है। इसी को महाकवि देव ने किस मधुरता से प्रस्तुत किया है:—

"रस निचुरत अच्छरन त, मधुर अर्थ सुखदानि।
सुन्दर अर्थ समुद पद सो माधुर्य बखानि॥"

अतः यह माधुर्य आल्हादमय भाव से तो होता ही है, अक्षरों पर भी निर्भर करता है। इसी के लिए संस्कृत में वृत्तियों का निरूपण हुआ है। संस्कृत आचार्यों ने माधुर्य-गुण के व्यंजक वर्णों का यह विधान किया है: ट वर्ग के ट ठ ड ढ को छोड़ कर शेष स्पर्श वर्ण, क ख ग घ, च छ ज झ, त थ द ध, प फ ब भ वर्गान्त के वर्ण और उनसे युक्त अन्य सानुनासिक वर्ण, ह्रस्व 'र' और 'ण', समास का अभाव, तथा कोमल पद रचना माधुर्य पैदा कर देती है। ब्रजभाषा की वर्णमाला में मधुर वर्णों का ही प्राधान्य है। 'ण' ब्रज में 'न' हो जाता है। 'ल' बहुधा 'र' हो गया है। 'श' और 'ष' का स्थान 'स' ने ले रक्खा है। 'ऋ' ने 'रि' का रूप ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार समस्त वर्णमाला की प्रवृत्ति कोमलता और मधुरता की ओर हो गयी है। शब्दों की बनावट में भी यही कोमलता और मधुरता की प्रवृत्ति मिलती है। एक हृदय शब्द को ही लीजिए, यह 'हिय'

हुआ, 'ही' हीर, हिरा भी हुआ। इसी प्रकार ब्रजभाषा के अन्य शब्दों के रूप-निर्माण के संबंध में भी यही नियम लागू होता है।

कोमलता लचीलेपन से आती है। मक्खन इसीलिए कोमल है, कि उसमें लचक है, वह मौके के मुताबिक अपना रूप बना लेता है। यह गुण ब्रजभाषा में सबसे अधिक है। इसमें शब्दों के रूप को अवसरानुकूल फैलाकर, सिकोड़कर, घिसकर, माँजकर रखा जा सकता है। 'नवनीत' शब्द, नौनीत, नवनी, नौनी, लवनी, लोनी, लउनी में से कोई भी रूप ले सकता है। इसीकार दृष्टि, दिष्टि, दीठ। अतः ब्रज-भाषा सब भाषाओं में मक्खन की भाँति है। यह ब्रजभाषा ही है जो 'कृष्ण' को कृस्न, कसन, किसुन, कान्ह, कान्हा, कन्हैया, कंधैय कन्हाइ, कान, आदि सभी रूपों में आदर करती है, और विशेष आदर उन रूपोंको करती है, जिनमें मिठास आगया है।

ब्रजभाषा जिस युग में फली-फूली थी उस युग में भक्ति-रस और रीति-साहित्य का विशेष उत्थान हुआ था। भाषा अपने विषय के अनुकूल रूप बनाती है। इन दोनों रसों में भक्ति और शृङ्गार में माधुर्य का ही प्राधान्य रहता है, फलतः ब्रजभाषा को ढलन में, उसके शब्द-भंडार में मिठास भर गया। ब्रजभाषा के प्रिय कवित्त और सवैया जैसे छन्दों ने भी माधुरी में सहायता दी है। पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने अनेकों युक्तियों से खड़ीबोली के उदय काल में यह सिद्ध किया था कि मधुरता किसी एक भाषा की ही बपौती नहीं होती, यह तो शब्द-चयन के कौशल पर निर्भर करती है। उनके इस कथन में असत्य न होते हुए भी संस्कृत के 'रीति संप्रदाय ने जो प्रतिपादन किया था वह भी भूला नहीं जा सकता। उन्होंने विशेष प्रदेशों के अनु-सार काव्य की शैलियां निर्धारित की थीं, पांचाली, गौड़ी आदि। उन्होंने बहुत पूर्व ही इस सचाई को भी जान लिया था कि किसी प्रदेश के अपने संस्कारों के कारण उस प्रदेश की भाषा अथवा बोली में मिठास अथवा कोमलता, अथवा परुषता स्वाभाविक हो जाती है। खड़ीबोली में छायावादी युग में कोमल और मधुर भावों का घटा-टोप होगया था, उसके अनुसार खड़ीबोली में भी मार्दव और माधुर्य आया, फिर भी स्वाभाविक लोच, सहज संप्रसारण और

संकोचन और विशेष कर वाक्य-विन्यास संबंधी स्वतन्त्रता का अभाव होने के कारण खड़ीबोली की समस्त मिठास उसके शब्दानुशासन मात्र में रह गयी है, वह खड़ीबोली के मुहाविरे में, इडियम में, नहीं भर पायी। कारण स्पष्ट है खड़ीबोली में छायावादी संस्कृति स्थायी नहीं रह सकी, किन्तु ब्रजभाषा के पद-पद में माधुरी झलकती मिलती है। यह ऐसी माधुरी है, ऐसा मिठास है कि उसकी चसक बनी ही रही है, और जैसे सरस जलेबियाँ खाकर मनुष्य बार बार जीभ चटकारता है, वैसे ही ब्रजभाषा काव्य की माधुरी का स्वाद चखकर उसे करना पड़ता है।

अतः इस भाषा में जिधर से चाखो मिठास भरा मिलता है। क्या पुराने, क्या नये, क्या बड़े, क्या छोटे कवि सभी ब्रजभाषा की रसता से सराबोर रचनाएँ लिए आपकी बाट जोह रहे हैं। बड़े-बड़े पुराने कवियों में सूर, तुलसी, गंग, रसखान, घनानन्द, देव, बिहारी का नाम सभी ने सुना होगा। इन्होंने कृष्ण और राम की भक्ति में ही अपनी हृदय की तान नहीं मिलायी, मानव के रूप, रंग और स्वभाव का अनुपम चित्रण भी किया है। राधा-कृष्ण की रति-केलि में ही नहीं रमे रहे नीति और आचार का भी सम्यक् प्रतिपादन किया, प्रकृति के वर्णन किये हैं, हास्य को सँवारा है। सूर बाल-वर्णन में अद्वितीय हैं, उन्होंने बाल-मनोविज्ञान की सूक्ष्म से सूक्ष्म बात का भी उल्लेख कर दिया है, और वह ब्रजभाषा के कारण बड़ा मधुर बन पड़ा है, और ब्रजभाषा उसके कारण बड़ी मधुर होगयी है—जब कृष्ण मां से पूछते हैं—

> मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
> कितो बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।

तो बाल-स्वभाव के उतावले पन का मीठा चित्र हमें मुस्करा जाने के लिये विवश कर देता है, और पद के प्रवाह में भाव की मधुरता से लिप्त होकर चोटी का 'ट' कार भी अपनी कर्कशता खो बैठा है—

> "अँखियाँ हरि दरसन की भूखीं,
> कैसे रहें रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी"—में जहाँ

आँखों की भूख का मार्मिक वर्णन है वहाँ—

'बरु ये बदराऊ बरसन आये,
अपनी अवधि जानि नँद-नंदन गरजि गगन घन छाये।
× × × ×
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि मधुवन बसि बिसराये'॥
में हृदय की हूक है।

इस हृदय की हूक को सुन कर यह बात असंदिग्ध प्रतीत होती है कि शृङ्गार से करुण में और करुण से विप्रलम्भ में बढ़कर 'माधुर्य' गुण, अथवा हृदय की द्रवणशीलता रहती है।

सूर को पढ़िये और सिर धुनिये और तानसेन के साथ कहिये,

'किधौं सूर को सर लगो किधौं सूर की पीर,
किधौं सूर को पद लग्यो तन मन धुनत सरीर।

सूर के पदों की पीर मिठास से भरी है—

पर 'सूर' तो सूर्य हैं, ब्रजभाषा का माधुर्य तो अन्यत्र स्वयं ही प्रकाशित हो रहा है, उसे देखें।

तुलसीदास को लीजिये, ये भी सूर से कम नहीं हैं, कवितावली में किंचित शिशु राम के इस सौन्दर्य को तो देखिये :—

वरदंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की,
चपला चमकै घन बीच जुगै छवि मोतिन माल अमोलन की।
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुण्डल लाल कपोलन की,
नेवछावरि प्रान करैं तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

सुदामा-चरित में नरोत्तमदासजी ने तो दरिद्रता और वैभव को एक सूत्र में पिरोकर निराला समाँ बाँध दिया है—सुदामा के घर की जो दशा है उसे उनकी पत्नी के मुख से सुनिये—

"कोदों समाँ जुरतो भरि पेट न चाहति हौं दधि दूध मिठौती,
सीत वितीत भयो सिसिआतहि हौं हठती पै तुम्हें न हठौती।
जो जनती न हितू हरि से तो मैं काहे को द्वारिका पेलि पठौती,
या घरतें कबहूँ न गयो पिय टूटो तवा अरु फूटो कठौती॥

कैसा हृदय द्रावक चित्र है, आज के मजदूर का भी क्या ऐसा होगा? इस घर में रहने वाला सुदामा द्वारिका में जाकर जो देखता

है उससे उसके मन में पीर उठनी ही चाहिए। द्वारिका के घर घर का वैभव पुस्तक में ही पठनीय है—

मङ्गल संगीत धाम धाम में पुनीत जहाँ
नाचैंबार बधू देव नारि अनुहारिका।
घंटन के नाद कहूँ बाजन के छाय रहे
कहूँ कीर केकी पढ़ें वेद सुक सारिका।
रतनन टाट हाट बाटन में देखियत
घूमैं गज अश्व रथ पाँति नर नारिका।
दसौ दिसा भीर द्विज धरत न धीर मन
उठै अति पीर लखि बलबीर द्वारिका।

एक नहीं, अमीरी और विलास के मनोरम चित्र ब्रजभाषा में कम नहीं मिलेंगे—पद्माकर ने तो पूरा ठाठ खड़ा कर दिया है—

गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनी जन हैं,
चाँदनी हैं, चिक हैं चिरागन की माला हैं,
कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा हैं,
सजी सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्याला हैं।
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं,
तान तुकताला हैं विनोद के रसाला हैं
सुबाला हैं दुशाला हैं विशाला चित्रशाला हैं॥

अनुप्रास की छटा में भाषा की माधुरी तो देखिये। यह तो शरद ऋतु का वर्णन भर कर दिया है। इसमें प्रकृति की सुषमा का रूप कहाँ। बसंत में छहों ऋतुओं का वर्णन करने में ब्रज के कवि अत्यन्त सिद्ध-हस्त हैं, और शृङ्गार के परम सहायक, काम के अग्रदूत वसन्त के वर्णन में तो इन्हें कमाल ही हासिल है—इस वसंत की शोभा पर मुग्ध होकर देव ने तो उसे बालक ही बना दिया है। कैसे कैसे पालने बने हैं, कैसे वस्त्र, और उसे कैसे लाड़ लड़ाया जा रहा है—देव कहते हैं—

"डार द्रुम पालन बिछौना नव पल्लव के
सुमन झँगूला सोहै तन छबि भारी दै।

पवन झुलावैं केकी कीर बतरावैं "देव"
कोकिल हलावैं हुलसावैं कर तारी दै ॥
पूरित पराग सों उतारा करै राई नोंन,
कञ्ज कली नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक वसन्त,
ताहि प्रात हिए लावत गुलाब चटकारी दै ॥

वाह ! इस एक ही पद में देव ने किस कौशल से बसन्त की कोमलता, मधुरता और मादकता भरदी है, जिसमें वसन्त की प्रकृति का स्वरूप चित्रमय हो उठा है। वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, पवन, पुष्प सभी हाथ में हाथ मिलाये खिल उठे हैं। बसंत से भी सुन्दर और कौन होगा ? अतः पराग से राई नोंन उतारने में बसंत की शोभा और उसको 'नजर' से बचाने के टोने ने चमत्कार भर दिया है।

देव के साथ बिहारी का स्मरण हो आता है। बिहारी ने ब्रजभाषा के नागरिक माधुर्य को अपने छोटे छंद में जिस ढब से भरा है, उस पर सहृदय को लट्टू ही हो जाना पड़ता है। बिहारी को नाजुक बयानी बड़ों-बड़ों के कान काट लेती है—उर्दू फारसी की शैली के और संस्कृत गाथाओं के ढंग के मजमून बिहारी की सतसैया में बहुत ऊँचे उतरे हैं, ब्रजभाषा की अपनी मिठास ने उनमें सोने में सुगंध का काम किया है। बिहारी ने कहा—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत में चतुर चितेरे कूर ॥

'तसवीर' के मजमून पर उर्दू शायरों ने भी कमी नहीं रखी। जौक़ फ़र्माते हैं :—

शकल तो देखो मुसव्विरे खींचेगा तस्वीर यार,
आप ही तसवीर उसको देखकर हो जायगा।

एक और जरा 'जफर' नातवानी देखिए—

नातवानी ने बचायी जान मेरी हिज्र में
कोने कोने ढूंढती फिरती कज़ा थी, मैं न था।

और इधर बिहारी की बिरह दुर्बलता देखिये—

करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाँड़ति नीच,
दीन्हे हू चसमा चखन चाहै लखैं न मीच।

शृङ्गार और भक्ति की मिठास से ब्रजभाषा का कण कण सिक्त है। रहीम, रसखान, घनानन्द, आलम की रचनाओं में तो चुआ पड़ता है। यहां हिन्दुओं और मुसलमानों का कैसा भी भेद नहीं रहा।

विरह और शृङ्गार तथा भक्ति की रसीली अमराइयों में तो मिठास मिलना स्वाभाविक ही है, भाषा की मधुरता तो तब है जब और रसों में भी, अन्य विषयों में भी वह उसे बनाये रहे। तो यह 'लखनऊ की कीच' का ही रंग देखिये—'बेनी' कैसे मजे में कह रहे हैं; भले ही अतिशयोक्ति हो, फबन तो है ही—

गड़ि जात बाजी औ गयन्द गज अड़ि जात
सुतुर अकड़ि जात मुसकिल गऊ की,
दावत उठाय पाय धोखे जो धरत होत
आप गरकाप रहि जात पाग मऊ की।

ब्रजभाषा की बोली की मधुरिमा कुछ और भी अनोखी है। एक बार यदि कोई ब्रज के गाँव में इस बोली को सुनले तो वह सदा के लिए चुभ जाय। अली मुहिब्ब खाँ उसे ही सुनकर तो इस भाषा के मिठास पर रीझ गये थे। ब्रजबाला के शब्द उसके कानों में गूँजने लगे थे। ब्रजभाषा की माधुरी अद्वितीय है। जिस भाषा को समान भाव से हिन्दुओं और मुसलमानों ने, पुरुषों और स्त्रियों ने अपनी सहृदयता से ४००-५०० वर्ष से निरन्तर सींचा है, जो कभी देश की राष्ट्र-भाषा के स्थान पर सुशोभित रही है, जिसे सिखाने के लिए मीरजाखाँ ने औरङ्गजेब के समय में व्याकरण लिखी, सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' ने अङ्ग-दर्पण रचा और कहा—

"ब्रजबानी सीखन रची, यह रसलीन रसाल
गुन, सुबरन, नग, अरथ लहि हिय धरियो ज्यों माल।

और जो भाषा शब्दों के लिए कभी प्रमाण मानी जाती थी—जिसके लिए दास ने काव्य निर्णय में लिखा—

ब्रजभाषा हेत ब्रज-बास ही न अनुमानों,
ऐसे एसे कविन की बाणी हूँ सो जानिए।

तथा जिसके प्रभाव से बङ्गाल में 'ब्रजबुली' ने जुदा ही स्थान बनाया, जिसमें गीति-काव्यता के गुण सबसे अधिक हैं, उस

ब्रजबोली की वह विजय किसी राजनीतिक कारण से नहीं थी, उसकी इसी सहज मधुरता के कारण थी, और यह यथार्थ है कि मतिराम के शब्दों में—

ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि
त्यों त्यों खरी निकरै सुनिकाई"

पर क्या करें अकबर की एक और शैर याद आ जाती है—

कदरदानों की तबियत का अजब रङ्ग है आज।
बुलबुलों को यह हसरत है कि वह उल्लू न हुए॥

ब्रजभाषा आज भी 'नेरे ह्वै' देखने की चीज है, ब्रज-भाषा का उपवन अब भी नये नये फूलों से विकसित हो रहा है। उसके सजीव ग्रामगीत', रसिये, और होली रसिकों के मन को आज भी लुभाते हैं, और साहित्य क्षेत्र में माहौरजी, उमेशजी, किशोरीदास वाजपेयी, आदि अनेकों कवि तथा मथुरा के गोविन्दजी, राम-ललाजी आदि अनेकों कवि नये नये सामयिक विषयों पर लिखते हुए ब्रजभाषा की माधुरी की पैतृक सम्पत्ति को सँवारने में लगे हुए हैं।

वीर रस के उत्थापक भूषण

जीवनवृत्त—भूषण के जन्म और मृत्यु का विषय विवादास्पद है। शिवसिंह सरोज में उनका जन्म सं० १७३८ वि० लिखा है। मिश्र-बन्धु सं० १६६२ वि० मानते हैं। पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित सरोज के संवत् को ठीक मानते हैं। इसके दो कारण दिये हैं। एक यह कि शिवसिंह सेंगर ने सरोज का निर्माण भूषण मतिराम के जीवन चरित्र को संशोधित कर परिष्कृत रूप देने के लिए किया था। उनका यह परिष्कार विशेष मान्य इसलिए है कि स० शिवसिंह की जन्मभूमि काँथा, भूषण के निवास स्थान तिकवाँपुर से १५-२० मील ही दूर है। दूसरा यह कि 'आश्रयदाता उपाधिदाता तथा अन्य कार्यों तथा रचनाओं से भी इसी बात की पुष्टि होती है।' दीक्षितजी ने सेंगरजी का संवत् तो प्रामाणिक मान लिया है, जिसे प्रामाणिक न मानने का एक कारण तो स्पष्ट था। दीक्षितजी के मतानुसार भूषण जी का जन्म बनपुर में हुआ, तिकवाँपुर में नहीं। किन्तु सेंगरजी का वह कथन स्वीकार नहीं किया जो यथार्थतः जीवन से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् भूषण का शिवाजी के दरबार में रहना। दो में से एक ही बात सत्य ठहर सकती है। या तो जन्म संतव ठीक हो या उनका शिवाजी के दरबार में जाना ठीक हो। दीक्षितजी ने जन्म संवत ठीक मानकर दूसरी बात को अप्रामाणिक माना है, और अन्य व्यक्तियों ने शिवाजी के दरबार में जाना ठीक माना है। भागीरथप्रसादजी दीक्षित ने भागीरथ प्रयत्न करके भी अपना मत अभी मान्य नहीं करा पाया। भूषण शिवाजी से मिले अवश्य होंगे, ऐसा प्रतीत होता है। अतः संवत् १७३८ उनका जन्मकाल नहीं हो सकता। मिश्रबन्धुओं का दिया हुआ समय उचित प्रतीत होता है। उनका मृत्युकाल सं० १७८६ वि० के लगभग माना जा सकता है।

इनको पूर्णतः निश्चित करने के लिए अभी अकाट्य प्रमाणों की अपेक्षा बनी ही हुई है।

निवास तथा कुल—भूषण तिकवाँपुर के रहने वाले कश्यप गोत्र के थे। रत्नाकर इनके पिता का नाम था। मतिराम इनके भाई थे, पर 'छन्दसार पिंगल' अथवा 'वृत्त कौमुदी' में मतिराम का जो परिचय किन्हीं प्रतियों में मिला है उन्हें यदि मान्य समझा जाय तो मतिराम सहोदर नहीं थे। चिन्तामणि इनके बड़े भाई थे, यह सभी मानते हैं। कुछ लोग नीलकण्ठ को भी इनका भाई मानते हैं। भूषण के सभी भाई प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

असली नाम—भूषण तो उपाधि है। इनका वास्तविक नाम क्या है वह ठीक-ठाक ज्ञात नहीं हुआ है। जो महानुभाव भूषण का असली नाम मतिराम मानते हैं वे अधिक ठोस और दृढ़ प्रमाण पर निर्भर नहीं करते।

भूषण के आश्रयदाता—भूषण के कई आश्रयदाता थे। पहले तो शिवाजी थे। जब तक शिवाजी रहे भूषण कहीं नहीं गये। शिवाजी की मृत्यु के उपरान्त वे कई राज दरबारों में गए। शिवाजी के पौत्र साहू तो उनमें प्रधान हैं। फिर छत्रसाल पन्ना नरेश, हृदयराम चित्रकूटाधिपति आदि प्रधान हैं।

भूषण के सम्बन्ध में यह किंवदन्ती है कि उनकी भाभी ने उन्हें नमक न लाने का उपालम्भ दिया था, तभी वे घर छोड़ कर चल पड़े और कविता की सिद्धि प्राप्त कर शिवाजी की सेवा में पहुँचे। पहली भेंट में ही इन्होंने शिवाजी को ५२ छन्द सुना दिये जिसके उपहार में इन्हें ५२ गाँव मिले। इसके अतिरिक्त अपनी भाभी के पास भेजने के लिए ५२ गाड़ी नमक भी माँग लिया था। उस काल में भूषण का बड़ा सम्मान था। जब ये एक बार पन्ना नरेश छत्रसाल के दरबार में गये तो स्वयं नरेश ने इनकी पालकी से कन्धा लगा दिया था। छत्रसाल की प्रशंसा में भी इन्होंने प्रायः दस छन्द लिखे हैं।

ग्रन्थ रचना—यथार्थ में जिसे ग्रन्थ कह सकते हैं वह तो

'भूषण' भूषण कवि ने पूर्वतः भली प्रकार योजना बना कर लिखा। शिवा बावनी उनके बावन छन्दों का संग्रह है, इनमें कोई प्रबन्ध कल्पना अथवा दूसरा विधान नहीं संग्रह मात्र ही है। 'छत्रसालदशक' में छत्रसाल की प्रशंसा में दश छन्द कहे गये हैं। कुछ फुटकर छन्द और भी हैं। जो विविध नरेशों के सम्बन्ध में हैं।

'शिवराज भूषण' में निर्माण का संवत दिया हुआ है। यह संवत् विविध प्रतियों में भिन्न भिन्न प्रकार से है। इसके तीन रूप विशेषतः मिलते हैं।

१—शुभ सत्रह से तीस पर बुध सुदि तेरस मान,
भूषण शिव भूषण कियौ पढ़ियो सुनौ सुग्यान।

२—संवत् सत्रह सै तीस सुचि बदि तेरसि मान,
भूषण शिव भूषण कियौ पढ़ियो सकल सुजान।

३—संवत् सतरह तीस पर सुचि बदि तेरसि मान,
भूषण शिव भूषण कियौ पढ़ियो सकल सुजान।

इन तीनों पर विचार करने से विदित होता है कि कम से कम रचना के संवत् के विषय में तीनों ही एक मत हैं कि वह संवत १७३० है। महीना और दिनों के सम्बन्ध में मतभेद है और जब तक 'शुचि' का अर्थ ज्येष्ठ न माना जाय तिथि ठीक नहीं बैठती। कुछ आलोचकों का कहना है कि यह संवत ही किसी ने बाद में इस पुस्तक में मिला दिया है। यह बात कुछ आश्चर्य जनक ही है।

'भूषण' ग्रन्थों की परम्परा—यथार्थ में भूषण का ग्रन्थ तो शिवराज भूषण ही है। उसमें नाम की दृष्टि से भी और विषय प्रतिपादन की शैली की दृष्टि से भी एक परम्परा का पालन मिलता है। 'शिवराज भूषण' वास्तव में साहित्य-शास्त्र का एक ग्रंथ है। इसमें अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरणों में जो छन्द दिये गये हैं वे प्रायः सभी शिवाजी से सम्बन्ध रखते हैं और कम से कम शृङ्गार रस का तो उनमें अभाव ही है। हिन्दी में ऐसी प्रणाली का प्रचार प्रायः नहीं था। हाँ संस्कृत में यह प्रथा प्रचलित थी विशेषतः दक्षिण में। वहाँ १३ वीं शताब्दी में वारङ्गल के काकतीय राजा प्रतापरुद्र के नाम से 'विद्यानाथ' नामक एक कवि ने 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' ग्रन्थ रचा।

पण्डित रामकर्ण कवि ने 'यशवन्त यशोभूषण' लिखा। १४ वीं शताब्दी में दक्षिण के अनन्तार्य ने कृष्णराज यशो डिण्डिम; १५०५-१५२६ के लगभग गङ्गानाथ मैथिल कवि ने बीकानेर के श्रीकर्ण राजा की आज्ञा से कर्ण भूषण लिखा। इस प्रकार यह प्रणाली हिन्दी में तो उतनी प्रचलित नहीं थी और सम्भव है यह प्रणाली भूषण ने दक्षिण के सम्पर्क से ही ग्रहण की हो।

लक्षण ग्रन्थों की परम्परा—हिन्दी में लक्षण ग्रन्थों के लिखने का आरम्भ केशव से भी पहले माना जा सकता है, किन्तु केशव ने उसे जो रूप दिया वह आगे के कवियों और आचार्यों के लिए आदर्श हुआ। केशवदासजी ने दोहों में लक्षण दिए, कवित्त तथा सवैये में उनका उदाहरण दिया, उनका आधार प्रायः संस्कृत साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थ थे। किन्तु विविध कारणों से और विशेषतः भक्ति के प्राधान्य और प्रचार ने केशव द्वारा स्थापित मार्ग को कुछ काल तक अवरुद्ध रखा। भक्ति-काव्य के शिथिल होते ही यह रीति-काव्य प्रबल हो उठा, और इसने समस्त साहित्य को व्याप्त कर लिया। भूषण इसी काल में, जो 'रीति युग' कहलाता है, हुए थे। अतः इस युग में दो प्रवृत्तियाँ थीं। एक आचार्यत्व की लक्षण ग्रन्थ रचना की, दूसरी शृङ्गार काव्य की। अधिकांश काव्य इस युग में शृङ्गार सम्बन्धी था और बहुधा एक कवि में ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ सम्मिलित पाई जाती हैं।

इसके समन्वय का मार्ग प्रायः यही रहा है कि दोहों में लक्षण लिखने के उपरान्त जो उदाहरण दिये गये वे सभी शृङ्गार-रस सम्बन्धी होते थे। शृङ्गार-रस में भी नायक-नायिका भेद का वर्णन विशेष स्थान रखता था। भूषण ने इस परिपाटी में एक बड़ा परिवर्तन कर डाला। उदाहरण में शृङ्गार रस का एक दम बहिष्कार कर दिया और उसके स्थान पर वीर तथा रौद्ररस का उपयोग किया।

भूषण के युग की ऐतिहासिक तथा अन्य प्रवृत्तियाँ—भूषण जिस युग में हुए इतिहास में वह युग साम्राज्य विरोधी शक्तियों के उदय का था। साम्राज्य-विरोधी से अभिप्राय साम्राज्य की भावना और उसके सिद्धान्त के विरोध से नहीं। किन्तु साम्राज्य में मिलने वाले

शैथिल्य और उसके अनाचारों तथा अत्याचारों का विरोध करने के लिए इस समय कई क्षेत्रों में विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हुई। दक्षिण में मराठे, पश्चिम में सिक्ख इसी काल में प्रबल हुए। यह औरङ्गजेब का शासन काल था। औरङ्गजेब ने मुगल साम्राज्य की मानी हुई नीति त्याग दी—वह धर्म के आधार पर प्रजा-प्रजा में अन्तर करने लगा। यही बीज असन्तोष का था—भूषण ने इस विद्रोह की ध्वनि को बुलन्द करते हुए कहा—

> साँच को न माने देवी देवता न जान,
> ऐसी उर आनै मैं कहत बात जब की।
> और पातसाहन के हुती चाह हिन्दुन की,
> अकबर शाहजहाँ कहै साखि तब की।

साम्राज्य की शक्ति का यह दुरुपयोग नहीं सहा जा सका। शिवाजी का उत्थान इसी युग-प्रवृत्ति के कारण सफल हुआ और इसी कारण भूषण ने शिवाजी को अपनी कविता का नायक चुना। शिवाजी का यह विद्रोह धार्मिक विद्रोह नहीं माना जा सकता; साम्राज्य की धार्मिक नीति के विरोध में किया हुआ विद्रोह धार्मिक कैसे हो सकता था? किन्तु क्योंकि अत्याचार भागी हिन्दू ही थे अतः इस काल में यह विद्रोह राष्ट्रीय-भावना का होते हुए भी हिन्दुओं की हिमायत करने वाला ही हो जायगा। अन्यथा भूषण ने बाबर के पुत्र हुमायूँ की प्रशंसा में कहा है—

> बब्बर के तब्बर हुमायूँ हद्द बाँधि गये दो मैं,
> एक करी ना कुरान वेद ढब की।

और यही रूप भूषण को राष्ट्र का स्वीकार था। इस नीति को बदलने से ही औरङ्गजेब का विरोध हुआ और भूषण उस विरोध के मुख्य कवि हुए, जिनकी वाणी आज तक उत्साह फूँकती है।

भूषण में साम्प्रदायिकता—यहीं इस प्रश्न पर विचार कर लेना समीचीन होगा कि क्या भूषण साम्प्रदायिक विद्वेष पैदा करने वाले हैं। ऊपर इस सम्बन्ध में कुछ विचार किया जा चुका है किन्तु एक बात विशेष विचारणीय यह है कि भूषण की रचनाओं में जहाँ

हिन्दुओं पर किये गये औरंगज़ेबी अत्याचारों का तो विशद वर्णन है जैसे—

> कुम्भकर्न असुर औतारी अवरंगजेब
> कीन्ही कत्ल मथुरा दोहाई फेरी रब की।
> खोदि डारे देवी देव सहर मुहल्ला बाँके
> लाखन तुरुक कीन्हे छूट गई तब की।

वहाँ भूषण ने न तो हिन्दू धर्म की कोई प्रशंसा की है, न मुसलमान धर्म की निन्दा। धर्म पर कहीं भी कोई आक्षेप नहीं किया गया। साम्प्रदायिक भूषण और कुछ नहीं तो कबीर की भाँति ही मुसलमान धर्म पर आक्रमण कर सकते थे। औरंगजेब की ही निन्दा है, उसके कृत्यों के कारण कवि को कुम्भकर्ण की याद आ गयी है। किन्तु उन्होंने अकबर, शाहजहाँ और बाबर तथा हुमायूँ की स्पष्ट प्रशंसा की है। कोई भी साम्प्रदायिक ऐसा नहीं कर सकता था। भूषण में हिन्दुत्व के लिए भी कोई साम्प्रदायिक मोह अथवा तअस्सुब का भाव नहीं था। यदि यह तअस्सुब होता तो क्या वह यों लिख सकते—

> "गौरा गनपति आप औरन को देत तार,
> आपनी ही बार कूँ लगाय गये दुबकी।"

शिवाजी ने अत्याचार के विरुद्ध झंडा खड़ा किया था। इतिहास भली प्रकार जानता है कि वे कुरान और मस्जिद का अत्यन्त आदर करते थे और मुसलमानों की भी उनकी नजर में इज्जत थी। उनका भक्त भूषण कैसे मुसलमानों के विरुद्ध घृणा का प्रचार कर सकता था। उसने अत्याचारी, अत्याचार और अत्याचार-ग्रस्त का विशद वर्णन किया है और अत्याचार विरोधी को नायक के रूप में स्वीकार किया है। विरोध का यह धरातल साम्प्रदायिक नहीं है। अत्याचार ग्रस्त को उत्साह मिले यह भूषण ने अवश्य चाहा है। किन्तु उसमें भी साम्प्रदायिक विद्वेष नहीं माना जा सकता—

भूषण में भक्ति—भक्ति काल इस युग में समाप्त प्रायः हो चुका था। किन्तु उसका अभिप्राय यह नहीं कि भक्ति का

अभाव हो गया था। भक्ति की कई धाराएँ अन्तर में चल रही थीं, वे भी रीतिकालीन शृङ्गार और रसिकता से प्रभावित हो रही थीं। इसी युग में राम और सीता तक को भक्तों ने नायक-नायिका के रूप में चित्रित किया। पर इन धाराओं के द्वारा भक्ति के भाव क्षीणत: बने अवश्य रहे। भूषण ने शिवाजी को नायक चुना और उसमें अवतार का भाव भी स्थापित करने की चेष्टा की। और 'वामनन देखि करत सुदामा सुधि मोहि देखि काहे सुधि भृगु को करत हौ।' इस पंक्ति में शिव जी को विष्णु ही मान लिया गया है। यह आरोप मात्र नहीं है, मान्यता है। और भी स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है—

> इन्द्र को अनुज तें उपेन्द्र अवतार याते,
> तेरा बाहुबल लै सलाह साधियतु है।

हे शिवाजी आप इन्द्र के भाई विष्णु के अवतार हैं। यह कवि का अलङ्कारिक प्रयोग नहीं, उसका विश्वास है, जिसके आधार पर कवि ने अलङ्कार खड़ा कर दिया है। किन्तु शिवाजी में अवतार की भावना मानकर उन्होंने उनके प्रति जिस भक्ति का प्रदर्शन किया है वह भक्ति उस आध्यात्मिक भक्ति से भिन्न है जो सन्तों और वैष्णवों में मिलती है। उस भक्ति का रूप साम्प्रदायिक माना जायगा तथा लक्ष्य मोक्ष। भूषण की भक्ति में मोक्ष आदि धार्मिक परमार्थ पाने का कहीं भी संकेत नहीं। वीर पूजा भाव का ही प्राधान्य है और भक्ति उसी पूजा भाव से है, अपने लिए किसी फल की कामना के लिए नहीं। उनकी दृष्टि में अवतार का कार्य मोक्ष-परमार्थिक अर्थ में मोक्ष दिलाने का नहीं जितना कि 'अभ्युत्थानमधर्मस्य' का। धर्म की ग्लानि को दूर करने का, संसार से अत्याचार और कलुष मिटाने का। इस दृष्टि से भूषण भक्ति कवि तो नहीं पर उनमें भक्ति अवश्य है।

भूषण का पाण्डित्य—भूषण के पाण्डित्य के हमें दो रूप मिलते हैं। एक है शास्त्र का पाण्डित्य दूसरा है विविध ज्ञान-विज्ञान का। शास्त्र का पाण्डित्य तो इसी से प्रकट है कि भूषण ने अलङ्कार ग्रन्थ लिखा। कुछेक अलङ्कारों को छोड़कर आचार्यों द्वारा मान्य प्राय: सभी अलङ्कारों का उल्लेख 'शिवराज भूषण' में हुआ है। प्रत्येक अलंकार के दोहे में दिये हुए लक्षण बहुत स्पष्ट हैं। व

संस्कृत आचार्यों की परिभाषा से कहीं दुर्बल नहीं बैठते। कुछ विद्वानों का यह विचार रहा है कि भूषण के दिए हुए कुछ लक्षण ठीक नहीं हैं। किन्तु दूसरे विद्वानों का कहना है कि भूषण के लक्षण ठीक हैं। जिससे तुलना करके भूषण के अलङ्कारों के लक्षणों को गलत बताया गया है यथार्थ में वह आधार ही गलत है। मिश्रबन्धुओं का कहना है कि भूषण ने परिणाम और दीपक के उदाहरण अन्य सभी आचार्यों से उत्तमतर दिये हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि भूषण ने विविध आचार्यों के ग्रन्थों का अनुशीलन कर जो सबसे अच्छा लक्षण निश्चित हुआ उसी को मान कर अपनी रचना कर डाली। यही कारण है कि किसी एक आचार्य के आधार पर भूषण के अलंकारों की जाँच नहीं हो सकती। ज्ञान-विज्ञान को प्रकट करने वाला पाण्डित्य दिखाने का भूषण को अवकाश नहीं मिला।

भूषण के अलङ्कारों के उदाहरण बहुत स्पष्ट और निर्भ्रम होते हैं। विरोध का एक उदाहरण यह है—

श्री सरजा सिव तो जस सेत सों
 होत हैं बैरिन के मुँह कारे,
भूषन तेरे अरुन्न प्रताप
 सपेत लखे कुनबा नृप सारे।

परिणाम का एक सुन्दर उदाहरण नीचे के छन्द में है—

भौंसिला भूप बली भुव को भुज भारी
 भुजङ्गम सों भरु लीनो।
भूषन तीखन तेज तरन्नि सों,
 बैरिन कों कियो पानिप हीनो।
दारिद दो करि बारिद सो दलि यों,
 धरनी तल सीतल कीनो।
साहि तनै कुल चन्द सिवा जस चन्द सों,
 चन्द कियो छवि छीनो।

वीर काव्य की स्थापना—हिन्दी का जब से उदय हुआ तभी से वह युद्ध के वीरतामय और रौद्र वातावरण में पली है। उसका आरम्भिक युग वीरगाथा काल कहा जाता है। इस काल का कवि वीर रस का आदर करता था। किन्तु उससे भी अधिक वीर का

आदर करता था। ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ही इस समय ऐसी थीं। इस समय कवियों में हम कुछ विशेषताएं मिलती हैं। उनकी रचनाएं यथाथतः प्रबन्ध काव्य की भाँति थीं। वीरों की गाथाओं के सहारे वे अपने काव्य का भवन खड़ा करते थे। अतः रचना में वीरता के स्थल गिने चुने ही आते थे। उनके जीवन की अन्य अनकों रोचक और आकर्षक कहानियाँ उसमें समा जाती थीं। इस युग में राजपूतों के संघर्ष आपस में ही हो जाते थे फलतः क्षुद्र सामन्तशाही वृत्ति ही काव्यों के द्वारा पोषण पा सकती थी। राजपूतों में अनेकों युद्धों का कारण विवाह अथवा प्रेम होता था। इन काव्यों में जहाँ ऐसी वीरता का उल्लेख हुआ है वहाँ उसमें प्रेम की कहानी भी आई है। इस काल में अनेकों रासो लिखे गये जिनमें से प्रमुख हैं वीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो, हम्मीररासो आदि। इन रासों की एक लम्बी परम्परा है जो विग्रहराज के समय से हम्मीर के समय तक चली आयी है। इसके बाद युग बदला; साहित्यकार की दृष्टि दूसरी ओर गयी। अब वीर भाव काव्य में उतना स्फुट नहीं हो सका। प्रेम मार्गी काव्य में विशेषतः जायसी में वीर रस का वर्णन हुआ है। पर यह जायसी के सन्देश के सामने अत्यन्त प्रभा हीन हो गया है। तुलसी ने समाज को बल देने के लिए वीरता को कुछ निखारा पर उनका भी समस्त लक्ष्य दूसरा था। भक्ति युग के उपरांत तो वीरता का वर्णन एक साहित्यक परिपाटी के रूप में रह गया। निर्जीव। प्रत्येक कवि ने अपने कायर से कायर राजा को भी महान्, वीर और प्रतापी चित्रित करने का उद्योग किया। इसमें न विषय को लाभ हुआ न रस को। भूषण वह पहला कवि है जिसने हिंदी में वीर रस का रस की शक्ति के कारण ग्रहण किया और उस समय की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति के लिए उपयोगी बनाया। भूषण वीर रस के यथार्थ उपासक हैं। उनका काव्य वीर गाथा काव्य नहीं, मात्र वीर काव्य है। उन्होंने प्रबन्ध काव्य नहीं लिखा। मुक्तक शैली में ही शिवाजी के चरित्र और इतिहास की विविध घटनाओं को गूँथ दिया है। प्रत्येक छन्द में रस-प्रवाह है, प्रत्येक छन्द में कोई न कोई अलङ्कार योजना है, प्रत्येक छन्द में या तो शिवाजी के चरित्र की कोई झलक है; यथा—

चाहत निर्गुन सगुन को ज्ञानवन्त की बान ।
प्रगट करत निर्गुन सगुन शिवा निवाजी दान ॥

इसमें शिवाजी का दान वीरता तथा समदृष्टि का उल्लेख है, या शिवाजी के आतङ्क का यथा—

महाराज शिवराज चढ़त तुरंग पर,
ग्रीवा जात नै करि गनीम अति बल की ।
भूषण चलत सरजा की सेन भूमि पर,
छाती दरकत है खरी अखिल खल की ।
कियो दौरि घाव उमरावन अमीरन पै,
गई कटि नाक सिगरेई दिली दल की ।
सूरत जराइ कियो दाह पातसाह उर,
स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी ॥

या शिवाजी के युद्ध और युद्ध वीरता का जैसे—

भूप सिवराज कोप करी रन मंडल में,
खग्ग गहि कूद्यौ चकता के दरबारे में ।
काटे भट विकट और गजन के सुन्ड काटे,
पाटे रन भूमि, काटे दुवन भितारे में ।
भूषन भनत चैन उपजे शिवा के चित्त,
चौसठ नचाई जबै रेवा के किनारे में ।
आंतन की तांत बाजी खाल की मृदंग बाजी,
खोपड़ी की ताल पसुपाल के अखारे में ॥

ऐसा ही वर्णन भूषण ने छत्रसाल तथा शिवाजी के नाती साहू का किया है । छत्रसाल की तलवार का वर्णन तो अद्वितीय है ।

भुज भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के ।
बखतर पाखरनि बीच धंसि जाति मीन,
पैरि पारि जात परवाह ज्यों जलन के ।
रैयाराय चम्पति को छत्रसाल महाराज,
भूषन सकत को बखान यों बलन के ।
पच्छी परछीने ऐसे परे पर छीने,
वीर तेरी बरछी ने वर छीने हैं खलन के ॥

इस प्रकार भूषण ने अपने समय के वीर पुरुषों की वीरता को अपने काव्य का प्रधान विषय बना कर वीर रस की हिन्दी में अनुपम प्रतिष्ठा कर डाली है।

भूषण की स्थापित वीर रस काव्य की प्रणाली का विशेष अनुकरण नहीं हो सका इसीलिए हिन्दी में वीरगाथा काल अथवा भक्तिकाल की भाँति कोई वीर काव्य काल नहीं मिलता।

भूषण के साथ लाल कवि का नाम लिया जा सकता है। या उसके बाद के सूदन का। अच्छे वीर-रस प्रधान काव्य इन के द्वारा रचे गये। इस उदासीनता का कारण मुख्यतः राजनीतिक अवस्था में है।

भूषण में ऐतिहासिक सामग्री—यों भूषण ने इतिहास नहीं लिखा, पर जिन घटनाओं का उसने उल्लेख किया है वे सभी ऐतिहासिक हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व रखती हैं। कुछेक ऐतिहासिक भ्रमों और अज्ञानों का निवारण भी भूषण की रचनाओं से हुआ है। उदाहरण के लिए पहले इतिहासकार यह मानते थे कि अफजलखाँ और शिवाजी की मुलाकात में शिवाजी ने विश्वासघात किया था। उसने धोखे से अफजलखाँ को बघनख चला कर मार डाला था। भूषण ने इस घटना का उल्लेख दूसरे ही रूप में किया था—

बैर कियो सिव चाहत हो,
तब लौं अरि बाह्यो कटार कठैठो।
योंहि मलिच्छहि छांड़ै नहीं,
सरजा मन तापर रोस में पैठो।

भूषन क्यों अफजल्ल बचै,
अठपाव के सिंह को पाय उमैठो।
बीछू के घाय धुक्योई धरक्क ह्वै,
तो लगि धाय धराधर बैठो॥

पहले अफजलखाँ ने तलवार से वार किया तब शिवाजी ने। बाद की ऐतिहासिक शोधों से भूषण के मत का ही प्रतिपादन हुआ है। किनकेड नाम के इतिहासकार ने लिखा—

शिवाजी हथियार रहित दिखाई पड़ा और अफजलखाँ ने जो कि साथ में तलवार लाया था सोचा कि उसे पकड़ लेने का अवसर आ गया है। खाँ ने बाईं भुजा से शिवाजी की गरदन पकड़ ली....साथ ही खाँ ने अपनी तलवार उसके पेट में भोंक देने का चेष्टा की। जिरह बख्तर ने पासा पलट दिया।....उसने - शिवाजी ने अपनी बाईं भुजा खाँ की कमर में डाल दी, जब कि खाँ ने अपना सीधा हाथ दुबार वार करने के लिए ऊपर उठाया। लोहे के नख खाँ के पेट में गहरे घुस गये और जब वह खाँ पीड़ा से तड़पा 'शिवाजी ने अपनी दाईं भुजा मुक्त कर ली और शत्रु की पीठ में कटार भोंक दी।'

औरङ्गजेब और शिवाजी तथा तत्कालीन इतिहास के सम्बन्ध में भूषण ने कितनी ही सामग्री दी है जिसका उल्लेख हमारे क्षेत्र से बाहर है।

भूषण निश्चय ही एक महाकवि थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा से हिन्दी-साहित्य में एक नवीन लहर पैदा की, एक भारी अभाव पूरा किया। यही नहीं तत्कालीन राष्ट्रीय समस्या में पूरा सहयोग दिया। उनका काव्य नवयुग की और नई प्रेरणा की उत्तेजक शंख-ध्वनि थी।

'आचार्य कवि दास की परख'

साहित्य-शास्त्र पर संस्कृत में बड़ा विशद तथा गम्भीर विवेचन हुआ है। बाल की खाल निकालने में जिस सतर्क बुद्धि-क्षमता से संस्कृत आचार्यों ने काम लिया है उस पर कोई कैसे उंगली उठा सकता है। पर इसका अति ने विषय को केवल जटिल ही नहीं बना दिया वरन् किसी सीमा तक औचित्य के परे भी कर दिया है, जो कम से कम विद्यार्थियों के क्षेत्र में स्थान पाने योग्य नहीं। हिन्दी में आचार्य केशवदासजी के समय से ही काव्य शास्त्र की ओर रुचि हुई, और वह खूब हुई। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जो रीति-काल कहा जाता है, उसके प्रत्येक कवि ने लक्षण-ग्रन्थ लिखना आवश्यक समझा। सम्भवत: उस समय ऐसी धारणा हो गयी थी कि लक्षण-ग्रन्थों द्वारा अपना पाण्डित्य प्रकट किये बिना कोई कवि कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। तभी बेचारे भूषण को भी अलङ्कार-ग्रन्थ लिखना ही पड़ा।

हर एक भाषा की अपनी कुछ मौलिकता होती है हिन्दी में जब काव्य और उसके अङ्गों पर विवेचन किया गया तो वह कुछ निराला ही रहा। अधिकांश आचार्य कवि संस्कृत के विद्वान् थे। इस प्रगति को जन्म देने वाले केशव संस्कृत के कुछ कम पण्डित न थे। उसी संस्कृत के आधार पर उन्होंने अलङ्कार आदि पर लक्षण-ग्रन्थ लिखे। जहाँ बहुत कुछ मसाला उन्होंने दण्डी जसे संस्कृत के प्रकांड पण्डितों के ग्रन्थों से लिया, वहाँ उन्होंने कुछ अपनी बुद्धि का भी प्रयोग किया। इस प्रकार उन्होंने मौलिकता लाने का कुछ उद्योग किया। वह उद्योग उचित हुआ अथवा अनुचित, सफल हुआ अथवा असफल, इस विषय पर कभी अलग ही विचार करना चाहिये।

केशव से लेकर भिखारीदास तक वह प्रगति हमें स्पष्ट दिखायी

पड़ती है। अतः दासजी की परख करते समय हिन्दी के आचार्य की इस शैली को विस्मृत नहीं कर देना होगा। 'वीणा'※ की तीन संख्याओं में दासजी के 'काव्य-निर्णय' पर कुछ विचार प्रकाशित हुए हैं।

ये विचार काव्य कल्पद्रुम के विद्वान् लेखक पोद्दारजी के हैं। इन लेखों में उन्होंने जो बातें कही हैं उन्हें इस प्रकार रख सकते हैं।

(१) दासजी ने 'काव्य-निर्णय' की रचना 'चन्द्रालोक' और 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर की है. परन्तु 'वही बात सिगरी कहैं उलथो हात' के भय से उन्होंने अपने स्वतन्त्र विचार, संस्कृत के सिद्धान्तों के बीच में, परिवर्तन का कुछ कारण स्पष्ट किये बिना ही, नीर-क्षीर-न्याय से दूध में जल की तरह मिला दिये (हैं)। फल यह हुआ (है) कि साधारण पाठकों की तो बात ही क्या साहित्य-मर्मज्ञों को भी यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि दासजी ने यह परिवर्तन क्यों किया। इससे पाठक भ्रमजाल में फँस गये हैं।

(२) अभिधा शक्ति के वर्णन में 'संयोग' वियोग' आदि जो अभिधा-शक्ति के नियंत्रक हैं, अप्रासङ्गिक है। उनकी उपयोगिता व्यञ्जना-प्रकरण में है।

(३) अभिधा की परिभाषा भ्रमपूर्ण ही नहीं विपरीत लिख डाली है क्योंकि 'अभिधा' का यह नियम नहीं है कि अनेकार्थी शब्दों का एक ही अर्थ अभिधा द्वारा हो—दूसरा अर्थ अभिधा शक्ति द्वारा न हो। श्लेष अलङ्कार में अनेकार्थी शब्दों के प्रयोग द्वारा एक से अधिक जितने अर्थ होते हैं, वे सभी अभिधाशक्ति द्वारा अभिधेय अर्थात् वाच्य ही होते हैं। यहाँ दास जी पथ-भ्रष्ट हो गये।

(४) दासजी की अभिधामूला व्यञ्जना की परिभाषा में श्लेषालङ्कार की परिभाषा आगयी है। श्लेष से व्यञ्जना की पृथकता करने वाले एक मात्र 'संयोग आदि है' उनकी व्यञ्जना-प्रकरण में नितान्त आवश्यकता थी।

(५) शुद्धाप्रयोजनवती लक्षणा के चार भेद बतलाते समय आप अपने मिश्रण से चक्र में भ्रामत हो गये हैं।

※ 'वीणा' मध्यभारत हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की इन्दौर से निकलने वाली पत्रिका।

(६) शुद्धालक्षणा के, उपादान, सारोपा तथा साध्यवसाना भेद करते हुए आपने उसमें गौणीलक्षणा के लक्षण की व्याप्ति करदी है। 'शुद्धा' के लक्षण में 'समता' पद का प्रयोग तो अक्षम्य प्रमाद है।

(७) शुद्धा साध्यवसाना का यह उदाहरण 'बैरिन कहा बिछवता फिर-फिर सेज कृशानु। सुन्यौ न मेरे प्रानधन चहत आजु कहुँ जानु।'—शुद्धा का भी यह उदाहरण नहीं हो सकता। टीकाकार इसमें रूपकातिशयोक्ति का होना मानते हैं पर इसमें 'रूपकातिशयोक्ति' की गन्ध भी नहीं।

जून १९३१ की 'वीणा' में उन्होंने यह आक्षेप किये हैं—

(८) दासजी ने लक्षणा की परिभाषा में केवल मुख्यार्थ का बोध कहा है, किन्तु लक्षणा में इसके अतिरिक्त 'मुख्यार्थ सम्बन्ध और रूढ़ि अथवा प्रयोजन में से किसी भी एक का होना आवश्यक है। यह परिभाषा किसी भी काम की नहीं, इसके द्वारा तो, प्रत्युत, अर्थ का अनर्थ होता है। दासजी लक्षणा को मूल परिभाषा ही स्वयम् न समझ सके।'

(९) गूढ़ व्यंग्या लक्षणा को 'काव्य प्रकाश' में लक्षणा प्रकरण के अन्तर्गत ही लिखा गया है। और वहीं यह उदाहरण (आनन में मुसुकानि········) दिया गया है। पर दास जी ने इसे वहाँ न लिख कर व्यञ्जना-प्रकरण में लिखा है। क्यों? इसलिए कि आपने ग्रन्थारम्भ में जो 'वही बात सिगरी कहै' इत्यादि की प्रतिज्ञा की थी···उसकी रक्षा की जाय। इसमें प्रकरण भङ्ग हुआ।

(१०) 'काव्य प्रकाश' में 'मुख विकसित स्मित' पद्य गूढ़ व्यंग्यालक्षणा के उदाहरण में दिया गया है। इसके प्रत्येक वाक्य में गूढ़ व्यंग्य है। दासजी उन व्यंग्यों को अनुवाद में न ला सके आपने अपने अनुवाद को काव्य-प्रकाश के उक्त पद्य का अनुवाद समझ लिया और गूढ़ व्यंग्या लक्षणा के उदाहरण में लिख दिया। न तो दासजी इस संस्कृत पद्य के अनुवाद में सफल हुए, और न अपने अनुवाद को इस स्थान पर उदाहरण के रूप में देने में ही सफल हुए।

शैथिल्य और उसके अनाचारों तथा अत्याचारों का विरोध करने के लिए इस समय कई क्षेत्रों में विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हुई। दक्षिण में मराठे, पश्चिम में सिक्ख इसी काल में प्रबल हुए। यह औरङ्गजेब का शासन काल था। औरङ्गजेब ने मुगल साम्राज्य की मानी हुई नीति त्याग दी—वह धर्म के आधार पर प्रजा-प्रजा में अन्तर करने लगा। यही बीज असन्तोष का था—भूषण ने इस विद्रोह की ध्वनि को बुलन्द करते हुए कहा—

> साँच को न माने देवी देवता न जाने,
> अरु ऐसी उर आनै मैं कहत बात जब की।
> और पातसाहन के हुती चाह हिन्दुन की,
> अकबर शाहजहाँ कहै साखि तब की।

साम्राज्य की शक्ति का यह दुरुपयोग नहीं सहा जा सका। शिवाजी का उद्याग इसी युग-प्रवृत्ति के कारण फल हुआ और इसी कारण भूषण ने शिवाजी को अपनी कविता का नायक चुना। शिवाजी का यह विद्रोह धार्मिक विद्रोह नहीं माना जा सकता; साम्राज्य की धार्मिक नीति के विरोध में किया हुआ विद्रोह धार्मिक कैसे हो सकता था? किन्तु क्योंकि अत्याचार भागी हिन्दू ही थे अतः इस काल में यह विद्रोह राष्ट्रीय-भावना का होते हुए भी हिन्दुओं की हिमायत करने वाला हो ही जायगा। अन्यथा भूषण ने बाबर के पुत्र हुमायूँ की प्रशंसा में कहा है—

> बब्बर के तब्बर हुमायूँ हद्द बाँधि गये दो मैं,
> एक करी ना कुरान वेद ढब की।

और यही रूप भूषण को राष्ट्र का स्वीकार था। इस नीति को बदलने से ही औरङ्गजेब का विरोध हुआ और भूषण उस विरोध के मुख्य कवि हुए, जिनकी वाणी आज तक उत्साह फूँकती है।

भूषण में साम्प्रदायिकता—यहीं इस प्रश्न पर विचार कर लेना समीचीन होगा कि क्या भूषण साम्प्रदायिक विद्वेष पैदा करने वाले हैं। ऊपर इस सम्बन्ध में कुछ विचार किया जा चुका है किन्तु एक बात विशेष विचारणीय यह है कि भूषण की रचनाओं में जहाँ

भी चक्कर में पड़ जाता है कि आखिर अभिधा क्या बला है? व्यञ्जना में उसका रूप और अर्थ और!

अब यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि दासजी की परिभाषा में कम से कम विपरीत कुछ भी नहीं। अभिधा का यही नियम है कि अनेकार्थी शब्दों का एक ही अर्थ हो। श्लेष अलङ्कार में अनेकार्थी शब्दों के कई अर्थ लिये जाते हैं, निस्संदेह वे सभी अभिधेयार्थ होते हैं। दासजी की अभिधा की परिभाषा से भी उनके सभी वांछित अर्थ अभिधेयार्थ हैं। इसे 'काव्य-कल्पद्रुम' के ही एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है:—

सोहत हरि-कर-सङ्ग सों अतुल राग युत सोय।
तव मुख आगे अलि! तऊ कमलाभा गत होय।

पोद्दारजी के अप्रकृत-मात्र आश्रित श्लिष्ट श्लेष के उदाहरण में यह पद्य दिया हुआ है। पाद-टिप्पणी में इसका अर्थ देते हुए लिखा है, 'लक्ष्मीजी के पक्ष में हरि श्री विष्णु, कमल पक्ष में हरि = सूर्य्य···· ठीक' हरि के अर्थ बन्दर भी होते हैं। सिंह और सर्प भी हैं फिर यहाँ केवल श्री विष्णु और सूर्य ही क्यों लिये गये? लेख में आपने लिखा है:—'श्लेष' अलङ्कार में अनेकार्थी शब्दों के प्रयोग द्वारा एक से अधिक जितने अर्थ होते हैं वे सभी अभिधा शक्ति द्वारा अभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ ही होते हैं'—यही सही, यहाँ हरि के अर्थ बन्दर, सिंह और सर्प भी होंगे, यह भी अभिधेयार्थ है, केवल श्री विष्णु और सूर्य्य ही क्यों? क्या यहाँ इस शब्द के एक से अधिक सभी अर्थ है? पोद्दारजी की परिभाषा कोई काम नहीं दे सकती। 'काव्य कल्पद्रुम' में फिर, वाच्यार्थ की व्याख्या में पढ़ कर कि 'राचिर चौतनी सुभग सिर······इसमें चौतनी सिर केश आदि वाचक शब्दों का जो सरल अर्थ बोध होता है, वह वाच्यार्थ है, विद्यार्थी इस चक्कर में पड़ जाता है कि यहाँ हरि का अर्थ 'विष्णु' अथवा सूर्य्य, सिंह, वानर अथवा सर्प—या सभी। सभी अर्थ तो यहाँ लग नहीं सकते, ऐसा पोद्दारजी ने भी पाद-टिप्पणी में उसका अर्थ लिखकर स्पष्ट कर दिया है। फिर यहाँ 'श्री विष्णु' और सूर्य्य यही दो अर्थ अभिधेयार्थ रहे। क्यों? दासजी की परिभाषा देखिये! लक्ष्मी के प्रकरण से हरि का अर्थ श्री विष्णु होगा। कमल पक्ष से उसका अर्थ सूर्य होगा।

हरि का अर्थ एक समय में एक ही होगा। अतः दासजी ने जो अभिधा के अध्याय में ही उसके नियन्त्रक नियम रख दिने वह बहुत ही अच्छा किया। यदि उन्होंने बिलकुल काव्य-प्रकाश का अनुकरण किया होता तो बेचारा विद्यार्थी बड़े भ्रमजाल में फँस जाता। इसमें कहीं दासजी पथ-भ्रष्ट नहीं हुए। जहाँ पथ भ्रष्ट हुए हैं, उसका उल्लेख पोद्दारजी ने किया ही नहीं। इसी अभिधा के लक्षण में दासजी ने लिखा है—

'तेहि वाच्यारथ को कहैं सज्जन अभिधा शक्ति'—उसी वाच्यार्थ को अभिधा-शक्ति कहते हैं। अर्थ और शक्ति एक वस्तु नहीं, शक्ति तो अर्थ तक पहुँचने का साधन मात्र (Process) है, वह स्वतः अर्थ नहीं अतः यहाँ दासजी परिभाषा में चूक गये हैं।

दासजी ने शुद्ध साध्यवसाना के उदाहरण में यह दोहा दिया है :

वैरिन कहा बिछावती, फिर-फिर सेज कृशानु।
सुन्यौ न मेरे प्राण धन, चहत आज कहुँ जान॥

इसकी टीका करते हुए पं० महावीरप्रसाद मालवीय ने लिखा है कि "सखी को वैरिन और सेज को कृशानु कहना 'साध्यवसाना' है।" इसी बात को ठीक मान कर पोद्दारजी पूछ बैठे हैं, कि इसमें साध्यवसाना का लक्षण कहाँ है? यह सारोपा लक्षणा का उदाहरण हो सकता है। टीका को देखने से तो ऐसा ही जान पड़ता है। सेज आरोप्य विषय और कृशानु आरोप्यमाण दोनों ही कहे गए हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं। हे वैरिन (सखी) तू क्या बार-बार सेज पर (फूल) अग्नि बिछा रही है। सेज बार-बार कैसे बिछाई जा सकती है। फूल तो थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बार-बार बिछाये ही जाते हैं और प्रवत्स्यपतिका को प्रवास वियोग में फूल जितने कोमल हैं उतने ही दाहक लगेंगे, अतः यहाँ कृशानु सेज के लिए नहीं आया, वरन् यह फूल का आरोप्यमाण है। 'फूल' आरोप्य विषय है उसका कथन न होने के कारण यह शुरू से साध्यवसाना लक्षणा है।

लक्षणा के लक्षण में निस्संदेह जैसा पोद्दारजी ने बतलाया है, दासजी दो बातें छोड़ गये हैं; परन्तु उससे किसी प्रकार की अड़चन नहीं पड़ती। 'मुख्य अर्थ के बाध ते शब्द लाच्छनिक होत'—' मुख्य

अर्थ का बाध हो जाने से शब्द लाक्षणिक हो जाते हैं—जब मुख्य अर्थ रुकता है, उससे तात्पर्य की सिद्धि नहीं होती तो अवश्य किसी अन्य अर्थ से उसका सम्बन्ध होगा, यह साधारण विचार करने से ही नहीं, दोहे की व्याख्या करते ही उद्भासित हो सकता है। यदि इसका कथन स्पष्ट शब्दों में दासजी ने नहीं किया तो कोई हानि नहीं हुई। रूढ़ि और प्रयोजनवती का होना तो नीचे की पंक्ति से स्पष्ट ही है। पं० किशोरीदासजी बाजपेयी ने यह ठीक ही लिखा है कि हिन्दी के इस काल के काव्याचार्यों के ग्रन्थों पर वृत्ति लिखी जानी चाहिये। इन आचार्यों ने बहुत कुछ संस्कृत से लिया है और बहुत विचार पूर्वक उसमें कहीं-कहीं उचित परिवर्तन भी कर दिये हैं। ये सारी बातें इनके सम्बन्ध में वृत्तिकार स्पष्ट कर सकता है। तब इन आचार्यों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम नहीं रह सकता। अब इस युग में जब कि नयी रोशनी के काव्य-कलाविदों को अपनी प्राचीन काव्य-सम्पत्ति दादुरा-वृत्ति-सी प्रतीत होती है, यह आवश्यक है कि प्राचीन कवियों पर यथार्थ रूप से प्रकाश डाला जाय और हृदय-स्पन्दनों के कल्पनातीत शिखर पर उतराते हुए इन नये मर्मज्ञों की आँखें खोली जावें।

दासजी ने 'काव्य प्रकाश' अथवा 'काव्य-कल्पद्रुम' की तरह लक्षणा को गूढ़ व्यंग्या अथवा अगूढ़ व्यंग्या में नहीं बाँटा और यह ठीक ही किया। बिना व्यञ्जना का निरूपण हुए कोई लक्षणा के व्यंग को कैसे समझ सकता है? अतः उन्होंने व्यञ्जना-प्रकरण में ही लक्षणामूला का भेद लिखा। पोद्दारजी मानते हैं कि गूढ़ व्यंग्या लक्षणा जो लक्षणा के अन्तर्गत 'काव्य प्रकाश' में दी गयी है और लक्षणामूला व्यंग्या में जो व्यंजना-प्रकरण में दी गयी है, कोई अन्तर नहीं। यदि कोई अन्तर नहीं तो व्यर्थ दो स्थानों पर लिखने से कोई लाभ नहीं, दासजी ने इसीलिए लक्षणा में व्यंग्या को स्थान नहीं दिया। वहाँ देने से विद्यार्थी समझ भी नहीं सकता था। अब व्यंजना-प्रकरण में, जब व्यंजना के लक्षण और रूप से वह परिचित हो गया और लक्षणा का रूप वह पहिले ही समझे हुए है, तभी वह उचित स्थान है कि लक्षणा मूला व्यंग्या का उल्लेख कर दिया जाय। अतः दासजी ने यह उचित ही किया।

हम इसे प्रकरण भंग भी नहीं कह सकते। गूढ़ व्यंग्या

अथवा अगूढ़ व्यंग्या का प्रकरण लक्षणा में दासजी ने उठाया ही नहीं फिर प्रकरण-भंग कैसा ? पोद्दारजी समझ रहे हैं कि 'काव्य-निर्णय' काव्य प्रकाश का हू-ब-हू अनुवाद है अतः आपने यहाँ प्रकरण-भंग दोष आरोपित कर दिया ! जब दोनों स्थल एक ही हैं तो एक उदाहरण को एक जगह से दूसरी जगह रख देने में प्रकरण-भंग कदापि नहीं होता। इस दृष्टि से काव्य-प्रकाश में जिसे लक्षणा प्रकरण में रखा है उसे उसके अनुकूल स्थान पर व्यंजना के प्रकरण में रख देना किसी प्रकार भी प्रकरण-भंग नहीं कहा जा सकता। अतः प्रकरण-भंग का दोष दासजी पर कभी नहीं आ सकता।

अब इस पद में व्यंग्य की बात रही

आनन में मुसकानि सुहावनि, वंकता नैनन माँझ दई है।
बैन खुले मुकुले उरजात, जकी विथकी गति ठौन ठई है॥
दास प्रभा उछलै सब अंग सुरंग सुबासना फैलि गई है।
चन्द्रमुखी तन पाइ नवीनो, भई तरुनाई अनन्द मई है॥

पोद्दारजी लिखते हैं, 'काव्य प्रकाश' में भी यह उदाहरण इसीलिए गूढ़ व्यंग्या लक्षणा के उदाहरण में दिया गया है कि इस पद्य के प्रत्येक वाक्य में गूढ़ व्यंग्य है। किन्तु खेद है कि दासजी उन व्यंग्यों को अपने अनुवाद में न ला सके, तथापि आपने अनुवाद को 'काव्य-प्रकाश' के उक्त पद्य का अनुवाद समझ लिया और गूढ़-व्यंग्या लक्षणा के उदाहरण में लिख दिया'—इनमें से एक भी बात नहीं। दासजी ने सचमुच संस्कृत-पद्य के अनुवाद में सभी व्यंग्य लाने की चेष्टा नहीं की, न उन्होंने अपने पद्य को संस्कृत-पद्य का अनुवाद ही मान लिया है। वे जिस सुन्दरता को, जिस चमत्कार को अपने पद्य में लाये हैं, उसमें जो व्यंग्य छलछला रहा है, वह गूढ़ व्यंग्य अत्यन्त अलौकिक है और वह संस्कृत पद्य में कहीं नहीं।

इस पद्य के व्यंग्य को समझने की चेष्टा नहीं की गयी। कुछ आलोचकों ने केवल वाक्यों में व्यंग्य दिखाने का प्रयत्न किया है। वास्तव में कहीं-कहीं इस पद्य के वाक्यों में भी व्यंग है, परन्तु दासजी तो और ही व्यंग लाना चाहते थे। उनका अन्तिम चरण यह है:—

चन्द्रमुखी तन पाय नवीनो भई तरुनाई अनन्दमयी है॥

इस चन्द्रमुखी के नवीन शरीर को पाकर यौवनावस्था आनन्दमग्न हो गयी है—अत्यन्त प्रफुल्लित होगयी है। यौवनावस्था को एक अभूत-पूर्व नयी वस्तु प्राप्त हुई है, अतः उसके आनन्द का ठिकाना नहीं—इसी भाव को पूर्णरूप से व्यक्त करने के लिए ऊपर के सारे पद्य में किस पूर्णता से व्यक्त किया गया है—यह एक बार उक्त पद्य को पढ़ने से जाना जा सकता है—जब तरुणावस्था इसे पाकर इतनी आनन्दित हुई तब यदि कोई दूसरा इसे पायेगा तो वह कितना सुखी होगा-यह व्यंग्य है और गूढ़व्यंग्य है। यह सारा पद्य ही व्यंगमय है, अलग-अलग वाक्यों में व्यंग्य ढूंढने की क्या आवश्यकता? फिर दासजी पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि उदाहरण उचित नहीं हुआ, वे प्रत्येक वाक्य में व्यंग्य क्यों नहीं लाये? संस्कृत-पद्य का अन्तिम चरण है—'नतेन्दुवदना तनौ तरुणिमोमदुयामोदते' इस पद्य का जो भावार्थ पोद्दारजी ने किया है क्या उसमें दास जी का सा व्यंग्य है। किंबहुना दासजी के वाक्यों में भी व्यंग्य है। तब यह नहीं कहा जा सकता कि दासजी का उदाहरण लक्षण के अनुकूल नहीं। इस विवेचन से स्पष्ट होगया होगा कि दासजी ने अपने ग्रन्थ का यह भाग विद्वत्ता पूर्वक लिखा है।

"भाषा की उत्पत्ति"

[भारतीय दृष्टिकोण]

दो दृष्टिकोण—इतिहास, संसार की सभ्यता के इतिहास पर दृष्टि डालने पर हम उसे स्पष्ट ही दो विभागों में बँटा हुआ पाते हैं। इन दोनों के विचार का ढङ्ग मौलिक रहा है। साधारणतः तो हम एक का दूसरे पर प्रभाव देखते ही हैं परन्तु मूल में उनके विचार की प्रणाली हमें स्वतन्त्र ही कहनी पड़ेगी। यदि कभी एक ने दूसरे से कुछ लिया भी तो समय-प्रभाव से उसकी आत्मा में वही मौलिकता आगयी। तात्पर्य यह है कि संसार में हमें सभ्यता की दो स्पष्ट धाराएँ दीख पड़ती हैं। ये प्रणालियाँ अपने रूप में मौलिक हैं—इनकी आत्मा एक दूसरे से भिन्न है। इन सभ्यताओं को पूर्वी-सभ्यता और पाश्चात्य सभ्यता कह कर अभिहित किया जाता है। एक विषय पर जब संसार में विचार होने लगता है तो पूर्व वाले अपने दृष्टिकोण से और पाश्चात्य वाले अपने दृष्टिकोण से विचार करते हैं।

भाषा के प्रश्न पर भी दोनों विभागों में विचार किया गया। पूर्व वालों ने अपने ढङ्ग से, पाश्चात्य वालों ने अपने ढङ्ग से। वैज्ञानिक ढङ्ग प्रायः सभी के लिए एक-सा होता है। प्राच्य और पाश्चात्य की आत्मा में महद् अन्तर होते हुए भी, हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि वे प्रायः एक ही प्रकार से इस प्रश्न के ऊपर विचार करने के लिए चले हैं। उनमें कहाँ अन्तर उपस्थित हुआ हम इसे भी देखेंगे। इन दोनों में पूर्व के दृष्टिकोण से हम भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर यहाँ विचार करेंगे।

पूर्व का दृष्टिकोण—आज यह सूर्य के प्रकाश की तरह प्रकट है कि भारत में प्रायः सभी विद्याओं के बीज का मूल-रूप में

वर्णन हुआ। 'भाषा-विज्ञान' विज्ञान के रूप में, उस रूप में जिसमें कि हम आज उसे ग्राह्य समझते हैं, आधुनिक युग की वस्तु समझा जाती है। परन्तु भारत में उसका अध्ययन विज्ञान की दृष्टि से ही बहुत पूर्व आरम्भ हो चुका था। हम यह जान चुके हैं कि विज्ञान भाषा को साध्य मानता है, व्याकरण की तरह साधन मान कर उसका अध्ययन नहीं करता। इसी दृष्टि से भाषा के ऊपर भारत में बहुत प्राचीन काल से ही विवेचन आरम्भ हो गया था। वेदों में ऋग्वेद में भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ विचार मिलते हैं। निस्सन्देह हम उन्हें 'विज्ञान' की कोटि में नहीं ला सकते। परन्तु उपनिषद् काल के बाद से तो इन प्रश्नों पर खूब ही विचार किया गया।

हमें आश्चर्य होता है कि उस समय भी आर्य विद्वान, प्रायः उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे थे, जिन पर कि अपने मौलिक अध्ययन और विचार के द्वारा आधुनिक विज्ञान पहुँचता जा रहा है।

भाषा-उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम आर्य विद्वानों के अगनग पाँच मत पाते हैं—

पहला मत : भाषा का मूल ब्रह्म—पहला तो वह मत है जो यह प्रतिपादन करता है कि भाषा का मूल ब्रह्म है। दैव ने मनुष्य को भाषा दी। यह मत बहुत पुराना है। सभी जातियों में, कम से कम, उन जातियों में जिनकी सभ्यता विशेष धर्म-मूलक है, हमें सबसे पहले इसी मत के दर्शन होते हैं।

'संस्कृतं नाम दैवी वाक्' (काव्यादर्श, १, ३३.) "दैवीवाक् व्यवकीर्णेयम" (वाक्यपदीय १, १५६)। इन वाक्यों में स्पष्ट ही भाषा के दैवी मूल की ओर संकेत किया गया है। संस्कृत को 'गीर्वाणवाणी' नाम से पुकारना भी यही बतलाता है कि संस्कृत उस कोटि की पवित्र भाषा है जो देवों की ही कही जा सकती है। एक मत में 'ओंकार' ही वाक् का मूल है (ओंकारवेदं सर्वम्)। इसी मूल से सभी भाषाएँ उत्पन्न हुई *। आरम्भ काल में भारतीयों का भाषा-उत्पत्ति सम्बन्धी इस धारणा को साधारण भी कहा जा सकता है और

* 'सर्वावाचो वेद मनुप्रविष्टाः' और स (प्रणवः) हि सर्वशब्दार्थ प्रकृतिः—(वाक्पदीय कारिका १-१०)

महत्त्वपूर्ण भी। यों तो, यह मान कर कि प्राचीन काल में जिस वस्तु का कारण ठीक समझ में न आया उसे 'ईश्वरीय' कह देना कोई बड़ी बात नहीं थी--हम इस धारणा को साधारण सी बात कह सकते हैं। परन्तु इसमें एक बहुत ही गम्भीर सत्य कहा गया है। मनुष्य बोलता है, उसके शारीरिक अधिष्ठान में 'अ, इ' आदि अक्षर कहाँ से निकलते हैं। यह मानकर भी कि विभिन्न स्थानों में जिह्वा, नाद और स्वरयन्त्र तथा मुख-वृत्त के विशेष प्रकार के संयोग से ऐसी ध्वनि पैदा हो जाती है, यह सन्तोष नहीं होता कि क्यों हो जाती है? इसी प्रकार के रूप से दूसरी ध्वनि क्यों नहीं पैदा होती—तो हमें अन्त में यही मानना पड़ेगा कि 'वाक्' का बीज किसी अमानुषी अथवा दैवी शक्ति ने ही मनुष्य में आरोपित कर दिये थे।

मनु कहता है कि यह परम 'स्वयम्भुः' ही था जिसने 'वाक्' को रचा। बृहदारण्यक वेदों को 'अनन्त ब्रह्म' को निश्वास से उद्भूत मानता है। यह कहा जाता है कि अनायास ही ब्रह्मा के मुख से जो 'प्रणव' निकला वही 'वाक्' के विभिन्न रूपों को जन्म देने वाला है—यह है पहला मत भाषा का दैवीमूल।

दूसरा मत : भाषा नित्य है—मीमांसाकार—भाषा का दैवीमूल, आगे के विचारकों को सन्तोष न दे सका। उन्होंने प्रत्येक मत को उसकी वस्तु-स्थिति के रूप में समझने की चेष्टा की। बनायी हुई वस्तु का मूल अवश्य होता है। उसका, अतः, इतिहास भी होता है। फिर दैव ने किस रूप में बनाया, और यदि दैव ने बनाया तो उसका सबके लिए एक रूप क्यों न रहा। विभिन्न रूप क्यों हुआ? दैवीमूल के सिद्धान्त में इसका कोई उत्तर विशेष न था। 'ब्रह्म ही वाक्' है। ब्रह्म नित्य है— फिर वाक् भी नित्य है। यह बात तर्क-सङ्गत प्रतीत हुई। वाक् सब जगह एक ही क्यों न हुआ—दैवीमूल वाला सिद्धान्त इसका क्या उत्तर देता—उन्होंने कहा वाक् नित्य है। उसको किसी ने बनाया नहीं वह अपौरुषेय है, वह अनादि है। मनुष्य उसे नहीं बना सकता—वह तो सदा से अनन्त काल से आ रही है वह मनुष्य के अन्तरतम में सदा उपस्थित है—और समय पर शरीर-यन्त्र के द्वारा रूप ग्रहण करके प्रकट हो जाता है। भोज ने कहा (वाकपदीय) 'नित्यत्वे कृतकत्वे व तेषामादिर्न विद्यते'—वह

'नित्य' हो अथवा 'कृत्य' हो—परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका आदि कुछ नहीं—यदि वेद को नित्य और सत्य मानना है तो वाक् को भी नित्य मानना आवश्यक है।

मीमांसकों ने इसीलिए वाक् को नित्य माना। उन्हें वेद का नित्यत्व सिद्ध करना था ऐसी दशा में उन्हें और कोई चारा न था—

न्याय-वैशेषिक मत—शब्द नित्य नहीं—मीमांसकों का विरोध करने वाला दल था न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय। न्याय-वैशेषिक के अनुसार स्वर-यंत्र के द्वारा मनुष्य जिन्हीं शब्दों को पैदा करता है, वे पैदा होते ही विलीन हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं—अतः उनमें उत्पत्ति और नाश दोनों गुण विद्यमान हैं, फिर वे नित्य कैसे? वैशेषिकों ने इस बात की छान बीन की कि शब्द वस्तु, क्रिया, अथवा गुण में से क्या है? उन्होंने निर्णय किया कि 'शब्द गुणमाकाशं'—शब्द आकाश का गुण है—फिर वह 'नित्य' नहीं हो सकता+। नैयायिकों ने आजकल के वैज्ञानिकों की तरह बतलाया कि 'वीचितरङ्ग न्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता×। लहरों की तरह गति होने से शब्द पैदा होता है (Wave theory)। अतः वह नित्य नहीं। परन्तु एक समस्या इनके सामने भी थी।

आखिर, किसी शब्द का मूल में कोई विशेष अर्थ ही क्यों हुआ। 'गौ' का अर्थ 'गमन करने वाला' कैसे हुआ। नैयायिक इस बात को नहीं मानते कि मनुष्य-समुदाय में समझौता करके विशेष शब्द का विशेष अर्थ में ही प्रयोग करने का निश्चय कर लिया गया। वे कहते हैं कि 'ईश्वरेच्छा' ने उन शब्दों को वह शक्तिः (अर्थ) दी। ईश्वर ने कहा—इस शब्द का यह अर्थ हो उसका वही अर्थ हुआ। नैयायिकों ने शब्द को मनुष्य कृत मानते हुए भी उसकी शक्तिः को ईश्वरेच्छाधीन बतलाया। इसमें सन्देह नहीं कि शब्द-उत्पत्ति को 'वीचि-तरङ्गन्यायेन' बतला कर उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त का पूर्वाभास उपस्थित किया, और इसमें उनका महान् विचार-

---

+व्योम गुणेष्व नित्येषु ध्वनिषु—शब्द-खण्ड, तत्व चिन्तामणि, पृ० ४६४,

×भाषा परिच्छेद कारिका १६६

शक्ति का पता अवश्य लगता है—परन्तु यह सिद्धान्त भी विशेष मान्य नहीं हुआ।

वैयाकरणों और निरुक्तिकारों ने भी इस मत की पुष्टि न करके मीमांसकों के पक्ष का समर्थन किया। उन्होंने कहा भाषा 'नित्य' है, परन्तु उस नित्य का रूप उन्होंने एक और सिद्धान्त मान कर निश्चित किया। उन्होंने 'स्फोट' का सहारा लिया।

मीमांसकों का पक्ष : उनका उत्तर—वैयाकरणों के 'स्फोट' सिद्धान्त को हम अभी देखेंगे, परन्तु यह न समझ लिया जाय कि न्याय-वैशेषिकों के मत का मीमांसकों के पास कोई उत्तर न था, अतः हम यहाँ मीमांसकों के मत का और स्पष्टः उल्लेख किये देते हैं।

शब्द को जो आकाश का गुण बताया जाता है, और जो उत्पत्ति और नाश के आधीन बतलाया जाता है, यह ठीक नहीं। शब्द की उत्पत्ति होती ही नहीं। शब्द के उच्चरित होने के माने केवल प्रकट होने के हैं। जब हमारे स्वर-यन्त्र काम करने लगते हैं तो शब्द प्रकट होते हैं जब वे अपना काम बन्द कर देते हैं तो शब्द अप्रकट रहते हैं। अतः उत्पन्न होना अथवा नष्ट होना इसका अर्थ है स्वर-यंत्रों का काम करना अथवा न काम करना। मनुष्य के मस्तिष्क में बहुत से दृश्य स्मृति की अचेतना में पड़े रहते हैं। उसी के समान कोई और दृश्य सामने आजाने पर उनकी स्मृति भी जाग्रत हो उठती है—तो क्या वे पैदा होते कहे जाँयगे, और हम उन दृश्यों का मनन नहीं करते होते तो वे फिर हमारे मस्तिष्क के क्रिया-केन्द्र में नहीं रहते तो क्या उन्हें नाश हुआ समझा जायगा। किसी विगत भाव का भावना-क्षेत्र में आना अथवा न आना उसके उत्पादन अथवा प्रलय का द्योतक नहीं, वरन् उस यन्त्र की क्रिया अथवा अक्रिया का सूचक है। इसी प्रकार वाक् सदा उपस्थित है—भाषा की तरह स्वर-यन्त्र रूपी अपने साधन के सचेष्ट होने पर न तो वह उत्पन्न होती है, और न उसके निश्चेष्ट होने पर वह नष्ट हो जाती है। अतः Ethereal Vibration वीचितरङ्ग न्यायेन जो उत्पन्न होता है वह स्वर-यन्त्र क्रिया का रूपान्तर है, स्वतः शब्द नहीं—स्वतः शब्द नित्य है।

वैयाकरण : शब्द के दो भेद : १ नित्य और २ कार्य—

वैयाकरणों और नैरुक्तों ने शब्द के दो रूप मान लिए। "इह द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च।" नित्य शब्द और कार्य शब्द। पतञ्जलि ने जब 'ध्वनिः शब्द' कह कर ध्वनि को शब्द बतलाया, तब वह कार्य शब्द की ओर संकेत कर रहा था।

वैशेषिक तथा नैयायिक जिस शब्द को अनित्य मानते हैं वह कार्य-शब्द है। कार्य शब्द को हम ध्वनि-मात्र कह सकते हैं। ध्वनि तो बाह्य रूप है। वैशेषिकीयों और नैयायिकों ने शब्द के इसी बाह्य रूप की ही विवेचना की, उसके मानसिक पक्ष और आभ्यन्तरिक रूप को जानने की चेष्टा नहीं की।

कार्य शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति असम्भव—वैयाकरणों को इससे सन्तोष न हुआ। उन्होंने देखा कि शब्द का वह रूप जो कि शरीर की आकुल क्रियाओं द्वारा स्वर-यन्त्र से उत्पन्न होता है वह तो व्यक्त रूप है। उस व्यक्त रूप में अक्षरों की समष्टि है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार यह ध्वनि केवल अनित्य है, पैदा होती है और नष्ट हो जाती है तो फिर अक्षरों की समष्टि का शब्द रूप में कैसे ज्ञान होता है। वे किसी अर्थ को किस प्रकार व्यक्त करते हैं? क्योंकि केवल शब्द के एक अक्षर के द्वारा तो अर्थ व्यक्त हो नहीं सकता, ऐसा होगा तो शब्द के अन्य अक्षर व्यर्थ हो जायँगे, और न अक्षरों की समष्टि से ही अर्थ-ज्ञान हो सकता है, क्योंकि अक्षर 'कार्य' होने के कारण क्षण-भंगुर हैं, उनकी समष्टि सम्भव नहीं, वे उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते हैं। यह भी नहीं कह सकते कि वे स्मृति की समान क्रिया से जाने जाते हैं, यदि ऐसा होता तो 'नदी' और 'दीन' रस और स्वर में अन्तर करना बहुत मुश्किल पड़ जाता क्योंकि इन समष्टियों में अक्षर वही हैं और उसी स्मृति के द्वारा यह रखे जाते हैं। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि नदी और दीन, अथवा सर और रस में कोई अन्तर न समझा गया हो। दोनों भिन्न शब्द हैं। यह भेद स्फोट के कारण है।

स्फोटवाद—वैयाकरणों ने, (Analytic) विश्लेषक ढङ्ग का पहले अनुकरण किया। उन्होंने अक्षर, शब्द और वाक्य इस क्रम से एक वाक्य को अंगों में विभाजित करके अर्थ को समझने की चेष्टा

की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विश्लेषण शब्द और अक्षर की व्यवस्था, उनका सम्बन्ध और महत्त्व समझाने में उपयोगी थे, परन्तु इससे शब्द के रूप का ठीक पता न चला। वे कठिनाइयाँ जिनका परिगणन ऊपर कराया जा चुका है, सामने उपस्थित हुईं। वैयाकरणों ने और गम्भीर विचार किया। और तब वे स्फोटवाद के सिद्धान्त पर पहुँचे। सचमुच स्फोट का सिद्धान्त बहुत ही महत्त्व पूर्ण है, यद्यपि दर्शनकारों की परम्परा ने इस 'बाद' को दाद नहीं दी। उन्होंने, उल्टे इसका विरोध ही किया। उस विरोध को हमें विशेष जानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि हमें 'स्फोट' की दार्शनिकता की तत्वालोचना नहीं करनी। हमें तो केवल इतना जानना है कि भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्फोट भी एक विशेष मत और महत्त्व रखता है। अतः उसका रूप समझ लेने से ही हमारा काम चल जायगा।

स्फोट—उसका रूप—स्फोट का विषय इतना सुगम नहीं, इसका समझना भी दुरूह है और उसका रूप कुछ रहस्यमय है। यह एक ऐसी बात है जिसने ही प्रायः सभी दर्शनकारों को स्फोट वाद का विरोध करने के लिए विवश किया। परन्तु फिर भी हम स्फोट का रूप समझने की चेष्टा करेंगे, और हम देखेंगे कि विरोधी दार्शनिकों ने स्फोटवाद की विवेचना करने और उस पर गम्भीर विचार करने की चेष्टा की परन्तु उसके स्वभाव को ठीक न समझ पाने के कारण उनसे यह भूल हुई कि उन्होंने उसकी बिलकुल उपेक्षा की। स्फोटवादी भी इस बात को मानते हैं कि स्फोट सहज ही दर्शनीय नहीं। वह कुछ रहस्यमय है। उनकी विचारधारा न स्फोट अथवा वास्तविक दृश्य को केवल नित्य, व्यापक, अखण्डत्व आदि गुणों से बनाकर ही सन्तोष नहीं कर लिया—उन्होंने प्रणव की तरह उसे ब्रह्म' तक कह दिया। फिर तो सचमुच ही स्फोट को जानना सहज नहीं।

स्फोट : अखंडनीय—वैयाकरण स्फोट को ही वाच्य समझते हैं। यह वाच्य उनकी दृष्टि में अखण्डनीय है। जो ध्वनि कि स्वर-यंत्र के द्वारा निकलती है। वह स्फोट नहीं। वह तो खण्डों में विभक्त की जा सकती है। जैसे 'गौः' ध्वनि को ग + औ + विसर्ग में विभक्त किया

जा सकता है। इसी प्रकार 'गौः' के स्फोट को, जो कि इन अक्षर समूहों को अर्थ प्रदान करने वाला है, विभक्त नहीं किया जा सकता, वह एक है, और नित्य है, और अखण्ड है।

नाद से प्रादुर्भाव—इसे अन्तस्स्फोट भी कहा जा सकता है। यह स्फोट नाद के द्वारा प्रादुर्भूत होता है।

नाद : विन्दु : बीज—नगेश का सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी विचार—नित्य चैतन्य सर्व प्रथम वेद रूप में प्रकट होता है। सृष्टि उत्पत्ति पर विचार करते हुए नगेश ने इस रहस्य को स्पष्ट किया है।

तत: परमेश्वरस्य: सिसृक्षात्मिका मायावृत्ति जायते। ततो विन्दुरूपमव्यक्तं त्रिगुण जायते। इदमेव शक्ति...............विन्दो-चदंशो बीजम् etc.

(वैयाकरण-सिद्धान्त मञ्जूषा पृ० १७१)

Linguistic Speculations of the Hindus में प्रभात-चन्द्र चक्रवर्ती M. A. इसी को, यों लिखते हैं :—

After the annihilation of the cosmic world....... when the Supreme Being felt the necessity of creating this Universe, His potentiality took the form of an 'atom' (विन्दु), a combination of three Gunas. This is in reality an inexhaustible stock of energy. The unconscious part (inertia) is known to be बीजम् (Seed). The part representing a mixture of both inertia and consciousness is called Nada (Sound), and the intelligent element goes by the name of Vindu. This Nada, regarded as the ultimate source of all Vak (Para, Pasyanti, Madhyama, and Vaikhari), is what is known as 'Sabda Brahma.'

अत: नाद प्रकट होता है विन्दु से जो महा शक्तितत्व है, शुद्धशक्ति और मनस् (intelligence) है और मूलाधार में रहने वाली वायु की चेष्टा से रूप ग्रहण करता है। छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है:—

यः प्राणापानयोः सन्धिः सव्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्माद् प्राणश्च प नत्त्वाचमाभिव्याहरति। (छान्दो ० — ३)

प्राण-व्यान की सन्धि-वाला वायु ही वाक् है। यह नाद क्रम से चार प्रकार के वाक् का प्रकट करता है। परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी। मूलाधार में निश्चेष्ट बिन्दु के रूप में रहने वाला नाद 'परा-वाक्य' है, यही शब्द ब्रह्म है। जब व्यान से प्रेरित यह ऊपर (navel region) नाभि संस्थान में पहुँचता है तापश्यन्ति हो जाता है। परावङ् तचक्रस्था पश्यन्ति नाभि संस्थिता। ये दोनों वाक् अत्यन्त सूक्ष्म हैं। महाभारत में परावाक् के सम्बन्ध में कहा गया है कि मूलाधार में रहने वाला वाक् ज्योतिर्मय चैतन्य है और अखण्डनीय है। पश्यन्ति रूप में प्रकट होने पर यह नाभिस्थल में पहुँचता है। यह भी अभिव्यक्त है, और मनस् तत्व (intelligence) इसमें मिली होती है।

इसके बाद जब नाद 'हृदय' में होकर जाता है तो यह 'मध्यमा' वाक् हो जाता है। यह मध्यमा नाद ही 'स्फोट' कहा गया है।

जब यही नाद मनुष्य के स्वर-यन्त्र से निकलता है, तो ध्वनि का रूप धारण कर बोलने योग्य वस्तु बन जाता है। यही वैखरी रूप कहलाता है। वैखरीरूप ही मनुष्य बोलते। इस व्यक्त रूप के अतिरिक्त और सभी रूप कुछ रहस्यमय और कठिनता पूर्वक समझे जाने वाले हैं।

यह है हिन्दुओं का शब्द उत्पत्ति के सम्बन्ध में दार्शनिकता। शब्द के इस आन्तरिक रूप को भारतीयों के अतिरिक्त और किसने समझने की चेष्टा की है?

नाद से स्फोट होता है। इस स्फोट का लक्षण पतञ्जलि ने इस प्रकार दिया है—

'श्रोत्रोपलब्धिबुद्धि निर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभि—
ज्वलितः आकाश देशः शब्द।

इससे स्फोट का एकत्व, अखंडत्व और नित्यत्व सिद्ध होता है। स्फोट के कई विभाग किये गये। परन्तु विशेष ध्यान देने

योग्य बात यह है कि वाक्य स्फोट को ही प्रधानता दी गयी। आज वैज्ञानिक जिस मत पर पहुँच रहे हैं कि शब्द अथवा स्वरों से भाषा का आरम्भ नहीं हुआ, वरन् वाक्य से हुआ, उसी निश्चय पर 'वाक्य स्फोट' का सिद्धान्त पहुँचा।

'स्फोट' का समर्थक भर्तृहरि भी कहता है:—

पदे नवर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं अविवेको न कश्चन् ॥
(वाक्यपदीय, ३, ७३)

जैसे कि आदि वर्ण में ध्वनियाँ विश्लषित नहीं की जा सकतीं है, उसी प्रकार सार्थक शब्द में वर्ण प्रथक नहीं देखे जा सकते, और एक वाक्य में, उसी प्रकार 'शब्द' प्रथक सत्ता रखते हुए नहीं देखे जा सकते। वाक्य को शब्द आदि भेदों में व्याकृत करना अथवा बाँटना तो कृत्रिम साधन है, स्वाभाविक नहीं।

स्फोटवाद अन्तर रूप को ग्रहण करता है। वह वाक्य के बाहरी रूप पर ध्यान नहीं देता। नैरुक्तों ने उधर बाहरी रूप पर भी ध्यान दिया, और उन्होंने एक नया विचार ही खड़ा कर दिया।

उन्होंने कहा कि धातु ही भाषा का मूल है। भाषा के बाहरी रूपों का जैसे जैसे विश्लेषण किया, विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भाषा का यह आडम्बर केवल कुछ गिनती की धातुओं पर आश्रित है।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी

हिन्दी पर आक्रमण—

घर और बाहर के अनेकों व्यक्तियों ने अबतक हिन्दी पर अनेकों आक्रमण किये हैं। कुछ लोगों का तो मत यहाँ तक भी रहा था कि हिन्दी कोई भाषा ही नहीं। अब तक के सब विरोधों को यथोचित उत्तर भी मिलता रहा है और हिन्दी निरन्तर उन्नति भी करती गयी है। 'हिन्दुस्तानी' की ओर से हिन्दी पर जो आक्रमण हुए हैं, वे सब 'हिन्दुस्तानी' एकेडमी के भूतपूर्व प्रमुख अधिकारी विद्वान डा० ताराचन्द्र के लेखों और वक्तव्यों में विशेष रूप से एक साथ उपस्थित हुए हैं। उनका वक्तव्य हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जयपुर अधिवेशन के पश्चात् प्रकाशित हुआ था। इस से भी पूर्व अपनी ये धारणाएं डा० ताराचन्द्र जी लीडर में प्रकाशित करा चुके थे; जिसका हिन्दी अनुवाद २० जुलाई सन् १९३७ के साप्ताहिक भारत ने दिया था।

उनकी स्थापनाएं ये रही हैं:—१ हिन्दी बिल्कुल नयी भाषा है। भाषा यानी अदब की जबान की हैसियत से उन्नसवीं सदी से पहले इसका नाम निशान भी नही था। मुंशी सदासुख लाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल, सदल मिश्रने ही इसकी बुनियाद रखी।

२—नयी हिन्दी वह पुरानी उर्दू है जो चौदहवीं सदी से चली आ रही है, केवल पुरानी उर्दू के शब्द भंडार में से उन शब्दों को निकाल दिया है जो मुसलमानों के मेल से उस खड़ीबोली में शामिल हो गये थे जिसकी नींव पर हिन्दी और उर्दू की इमारतें खड़ी हैं।

३—हिन्दी और उर्दू का साँचा एक है। धुनियां और ग्रामरी नियमों के लिहाज से जितना ही हिन्दी और उर्दू एक दूसरे के

नजदीक है उतना ही वे दोनों संस्कृत से दूर हैं।

४—संस्कृत कुल हिन्द की भाषा मानी जा सकती है। राष्ट्रीय भाषा नहीं। यह विवादास्पद है कि भारत एक राष्ट्र है। आज संस्कृत का सम्मान इसलिए है कि वह हिन्दू-सम्प्रदाय में देववाणी समझी जाती है।

५—हिन्दी को जितना ही संस्कृतमय बनाया जायगा उतनी ही वह भी एक इतिहास की भाषा होती जायगी। उतना ही राष्ट्रभाषा कहलाने का उसका अधिकार कम होता जायगा।

६—उर्दू का साहित्य हिन्दी के साहित्य से बहुत पुराना है, ब्रज और अवधी के साहित्य से भी।

७—आज भी उसका हक है कि वह राष्ट्रभाषा यानी हिन्दुस्तान के सभी निवासियों [illegible] सम्प्रदायों की तरफ़ के आम भाषा मानी जाय।

८—हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ बनाने का कारण, भाषा और साहित्य का सुधार नहीं, सम्प्रदायी झगड़े में अपनी माँग को कड़ा और ऊँचा बनाना है।

आपने यह भी कहा है:—

९—हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं में लिखने वालों की निगाहें आगे नहीं देखतीं, पीछे तकती हैं।

क्या हिन्दी नयी भाषा है ?

एक विद्वान को ऐसी दलीलें नहीं सुहातीं। क्या आजतक भी दुनियाँ में कोई नयी भाषा गढ़ सका है? भाषा का अपना विज्ञान है उसके अनुसार वह विकसित होती है। सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल, सदलमिश्र वगैरह ने तो केवल उस समय की प्रचलित भाषा को उभारकर ऊपर उठा दिया। 'हिन्दी' नाम तो उर्दू से कई शताब्दी पुराना है—इसे स्वयं डाक्टर साहबने १९३७ के लीडर वाले लेख में स्वीकार [illegible] :—

"१२२८ में मोहम्मद ओफी ने कुछ कवियों की कविताओं का संग्रह किया। उन कवियों में उसने ख्वाजा मसूद सआद सुलेमान

नामक एक कवि का भी जिक्र किया है और लिखा है कि उसने हिन्दवी भाषा में एक दीवान लिखा। अलाउद्दीन खिलजी (१२६५-१३१५) के शासनकाल में फखरुद्दीन मुबारक गजनवी ने एक शब्द-कोष तैयार किया जिसमें उसने फारसी के शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची शब्दों को दिया।"

डाक्टर साहब के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि हिन्दवी और हिन्दी शब्दों का प्रयोग तेरहवीं सदी से होने लगा था। यहाँ पर 'हिन्दवी' या हिन्दी का साधारणतया 'भारतीय' अर्थ लेने से क्या तात्पर्य सिद्ध होता है ? क्या सुलेमान ने दीवान 'संस्कृत' में लिखा था ? या कोष में फारसी शब्दों के संस्कृत पर्याय दिये थे ? इन मुसलमान विद्वानों का यह कोष-रचना आदि का समस्त उद्योग वैसा ही कहा जायगा जैसा अंगरेजों का प्रारम्भ काल में था। उन्हें अपने शासित देश की भाषा समझने की आवश्यकता थी, अतः उन्होंने कोष बनाया। अमीर खुसरो की मुकरियाँ संदेहास्पद मानी जा सकती हैं, पर उसने भी जो एक कोष बनाया उसकी प्रामाणिकता तो दृढ़ है, 'खालिकबारी सिरजनहार वाहिद एक बिदा करतार' यह इस कोष की पहली पंक्ति है और इस पहली पंक्ति में 'सिरजनहार' और 'करतार' किस भाषा के शब्द हैं ? क्या भारतीय भाषा के ? स्पष्टतः ये हिन्दी के शब्द हैं। इस हिन्दी के आरम्भिक रूप नवीं शताब्दी के सिद्ध-साहित्य से लेकर विकास-क्रम से वृद्धि पाते हुए आजतक मिलते हैं, और डा० साहब ने जिसे 'नयी हिन्दी' कहा है वह इसी पुरानी परम्परा का अविकल विकसित रूप है। सिद्धों की रचनाओं के सम्बन्ध में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में ठीक ही लिखा है कि 'सिद्धों की उद्धृत रचनाओं की भाषा देश-भाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्य-भाषा है, यह तो स्पष्ट है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य-भाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमण्डल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी।.......पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्य-भाषा का ढाँचा शौरसेनी प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ीबोली (पश्चिमी हिन्दी) का था।" फिर हेमचन्द्र ने ग्यारहवीं शताब्दी में अपने व्याकरण में जो रूप दिया है :—

"भल्ला हुआ जु मारिआ
अहिण महारा कंतु"

इसमें तो सिद्धों के समय की मिश्र खड़ीबोली कितना उज्ज्वल रूप प्रकट कर उठी है। इसका विकास अमीर खुसरो की मुकरियों में होना असम्भव नहीं। इस प्रकार यह सन्देह नहीं रहता कि मोहम्मद औफी ने और फखरुद्दीन मुबारक ने जिस हिन्दी का उल्लेख किया वह वही हिन्दी थी जो 'विद्यापति' का 'देसिल बअना' या देष-भाषा थी। वह न तो संस्कृत हो सकती है, न मध्यदेश से इतर किसी अन्य प्रान्त की भाषा।

लीडरवाले लेख में डाक्टर साहब ने आगे बताया है कि—

'हिन्दी के लिये उर्दू नाम का प्रयोग शायद मुसहफी ने ही पहले-पहल किया था। १२५७ में तैयार किये गये अपने कविता-संग्रह में मीर ने जबाने-उर्दू-ए-मुअल्ला नाम का प्रयोग किया।'

इससे सिद्ध है कि 'उर्दू' नाम सत्रहवीं सदी से पड़ा। क्या डाक्टर साहब इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि जिस भाषा का नाम 'हिन्दी' था उसका नाम 'उर्दू' क्यों रक्खा गया? और क्यों वह शब्द एकदम इतना रायज हो गया? बाबू सुन्दरलालजी ने कुछ वर्ष पीछे प्रायः डाक्टर ताराचन्दजी के जैसे ही ऐतिहासिक आधारों को लेकर यह लिखा था:—

'इसी जबान के लिए जिसे पहले हिन्दी या हिन्दुस्तानी कहा जाता था, सत्रहवीं सदी में पहले पहल उर्दू नाम इस्तेमाल होना शुरू हुआ।'

हम विद्वान बाबू सुन्दरलालजी से भी यही प्रश्न पूछते हैं, क्यों यह अलग नाम रखने की आवश्यकता पड़ी, क्यों यह इतना प्रचलित हुआ? यह नाम दिया भी किसने? हिन्दी और हिन्दुस्तानी तो अर्थ में पर्यायवाची हैं, पर उर्दू तो वैसा नहीं। इस नाम का देने के स्पष्ट अर्थ है, कि 'उर्दू' वही जबान नहीं थी, जो हिन्दी और हिन्दुस्तानी थी। यही कारण है कि अब तक यह माना जाता रहा था कि उर्दू का निर्माण मुगलों के समय में हुआ?

हिन्दी यहाँ की जन-भाषा और लोक-भाषा थी, और लोक-साहित्य की रचना उसी में होती थी। मुसलमानी विद्वानों ने उसे नाम

दिया, 'हिन्दी' जब कि साधारण जन-समुदाय उसे 'भाखा' कह कर पुकारता था।

भ्रम क्यों फैला

फिर भी हम देखते हैं कि इतिहासकारों और विद्वानों में इस सम्बन्ध में भ्रम फैला हुआ है। चन्द्रधर गुलेरीजी से लेकर 'की' महोदय तथा मुसलमान इतिहासकार अब्दुलहक़ जैसे महानुभावों से लेकर डाक्टर ताराचन्द तक यह भ्रम मिलता है कि उर्दू में से अरबी फारसी शब्दों को अलग कर, संस्कृत भाषा के शब्द रख कर, हिन्दी बनायी गयी। इस भ्रम का कारण कुछ तो पक्षपात हो सकता है, कुछ अनैतिहासिक वृत्ति। लल्लूजीलाल के एक कथन के अर्थ का अनर्थ करके ही यह भ्रम फैलाया गया है। लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर में लिखा है—

'एक समै व्यासदेव-कृत श्री मद्‌भागवत के दशम स्कन्ध की कथा को चतुर्भुज मिस्र ने दोहे-चौपाई में ब्रजभाषा किया। सो पाठशाला के लिए श्री महाराजाधिराज, सकलगुण निधान, पुण्यवान मएजान मारकुइस अलिजलि गवर्नर जनरल प्रतापी के राज्य में श्रीयुत गुनगाहक, गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से सम्वत् १८६० में श्री लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले ने विसका सार ले यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली-आगरे की खड़ीबोली में कह नाम प्रेमसागर धरा।'

इसमें 'यामिनी भाषा छोड़' से अर्थ लगाया गया कि अरबी-फारसी के शब्द निकाल कर 'उनकी जगह संस्कृत और हिन्दी के नामानूस लफ्ज जमा दिये, लीजिये हिन्दी बन गयी।' (डाक्टर अब्दुलहक़)—और बस इसी 'यामिनी भाषा को छोड़' वाक्यांश के आधार पर गुलेरीजी ने भी, की साहबने भी यही अर्थ लगाया और भ्रम फैल गया। यदि इन विद्वानों ने इस बात पर ध्यान दिया होता कि लल्लूजीलाल ही अकेले उस काल के लेखक नहीं थे—जिस हिन्दी का उन्होंने उपयोग किया है, वह वस्तुतः सर्वसाधारण की भाषा थी; उसी में सदासुखलाल ने, इंशा ने, सदल मिश्र ने लिखा; उसी में हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्तमार्त्तण्ड' कलकत्ते से प्रकाशित हुआ—तो अर्थ का अनर्थ न किया जाता। लल्लूजीलाल ने तो 'यामिनी भाषा को

छोड़ने' का उल्लेख किया है, जैसा इन्शाने किया था कि कोई बाहरी शब्द न आवे, और जैसे इन्शाने लिखा कि जो सब भले लोग की बोलचाल की भाषा है, उसी में लिख रहा हूँ, वैसे ही लल्लूजीलाल ने कहा कि मैं दिल्ली-आगरे की खड़ीबोली में लिख रहा हूँ। लल्लूजी-लाल का उक्त-कथन कहीं तो इस बात का प्रमाण माना जाना चाहिये था कि लोक-भाषा में 'यामिनी-भाषा' का पुट प्रचलित नहीं था, वह उर्दू नहीं थी, इसलिए लल्लूजीलाल ने उसे छोड़ा, कहाँ उसे एक बना-वटी भाषा बनानेवाला घोषित कर दिया गया। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि लोक-भाषा में लल्लूजीलाल के समय तक भी अरबी-फारसी का प्रभाव बहुत कम था, और वह पढ़े-लिखे लोगों की बनावटी अरबी-फारसी से लदे शब्दों वाली भाषा से बिल्कुल भिन्न था। तभी गिल-क्राइस्ट महोदय ने उसके सम्बन्ध में लिखा था:—

The Prem Sagar, a very entertraining book, rendered with elegance and fidelity from the Brij Bhasha into the Khurre Boli by Lalooji Lal expre-ssly to effect the grand object of teaching our scho-lars the Hindostanee, in its mass extended sense···
The Hindi Roman Orthoepigrafid Ultimatum P. 20-1.

आगरे की यह खड़ीबोली प्रेमसागर में उतरी। प्रेमसागर की भाषा लोक-भाषा थी, इसकी सिद्धि नजीर आगरा वाले की रच-नाओं से भी हो जाती है, और किसी भी ख्यालबाज अथवा स्वांग-रचयिता की रचना से भी। हाँ, उसमें जो अरबी-फारसी के शब्द थे उनको छोड़ दिया है, लल्लूजीलाल ने; और जो प्रचलित बोली है, उसी के शब्द ग्रहण किये हैं—बनावट को निकालकर जो जैसे हैं, उसे वैसा ही ग्रहण किया है। यह कहीं नहीं लिखा उन्होंने कि यामिनी को छोड़कर संस्कृत के शब्द ले रहा हूँ। अतः यही हिन्दी यथार्थतः लोक-भाषा थी।

उर्दू नयी भाषा है

इसी लोक-भाषा का प्रयोग मुसलमान भी करते थे। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी भाषा-विज्ञान के प्रकाण्ड और प्रामाणिक पण्डित

है। उन्होंने 'कर्मवीर' में १९४१ में एक लेख लिखते हुए बताया कि—'हिन्दी वाले मुसलमान पहले-पहल संस्कृत भरी हिन्दी व्यवहार करते थे, पर ईस्वी सोलहवीं सदी के अन्त से दक्षिण के उत्तर भारत से आये हुए हिन्दी वाले मुसलमानों ने संस्कृत को छोड़ कर फारसी से शब्द (आवश्यक हों या न हों) उधार लेना शुरू किया। ऐसे मुसलमानों में 'दकनी' पैदा हुई जो उत्तरी उर्दू की पथ-प्रदर्शक बनी। मुसलमानों के हाथ में हिन्दी ईस्वी सतरहवीं सदी से इस नयी राह पर चली और हिन्दी से पृथक होकर उर्दू बनी''—

यहाँ है वह रहस्य, जिससे अलग नाम देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। स्वाभाविक लोक-भाषा हिन्दी से भिन्न खड़े होने वाले इस एक नये इम्तियाज की नयी भाषा 'हिन्दी' कैसे कही जाती है? साधारण लोक-समाज से भिन्न स्तर कैसे उपस्थित किया जाता? सैयद इन्शाअल्लाह ने लिखा है—

खुशबयानान आँ जा मुत्तफ़िक़ शुद: अज़ ज़बान हाय मुत्तहिद अल्फ़ाज़ दिलचस्प जुदा नमूद: व दरबाजे इबारात व अल्फ़ाज़ तसर्रुफ़ बकारबुर्द: ज़बाने ताज: सिवाय ज़बान हाय दीगर बहम रसानी दंद व उर्दू मासूम साख्तन्द।'—अर्थात्

'शाहजहानाबाद में खुशबयान लोगों ने एक मत होकर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को जुदा किया और कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेर-फेर करके दूसरी भाषाओं से भिन्न एक अलग नयी भाषा ईजाद की और उसका नाम 'उर्दू' रख दिया।' अतः यह स्पष्ट है कि लोक-भाषा हिन्दी उस भाषा से भिन्न है जो 'उर्दू' कही गयी। इसका एक प्रमाण हमें इंशाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' में मिलता है। प्रतीत होता है कि डाक्टर ताराचन्दजी ने स्वयं इंशाअल्लाखाँ को 'रानी केतकी की कहानी' का दावा नहीं पढ़ा, तभी उन्होंने उन्हें हिन्दी की बुनियाद डालने वाला बना दिया। मौलाना हक जैसे किसी व्यक्ति के कथनों के आधार पर उन्होंने वह बेबुनियाद बात लिख दी; नहीं तो इंशाअल्लाखां ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखते समय यह प्रतिज्ञा की थी 'बाहर की बोली और गँवारी उसके बीच में न हो···हिन्दवीपन भी न निकले और भाखा-पन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते चालते हैं,

ज्यों का त्यों वही सब डोल रहे।' तो 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा बनायी नहीं गयी, न उसे कोई नया रूप दिया गया है, स्वयं लेखक इस बात को मानता है, कि जिस भाषा में वह अपनी पुस्तक लिख रहा है वह भले लोगों के आपस में बोलचाल की भाषा है। यह उर्दू से भिन्न अपने स्वाभाविक प्रवाह से बहती हुई चली आ रही है, यह लोक-भाषा है, यही यथार्थ 'हिन्दी' है। इस लोक भाषा का परिचय आगरा के राजा लक्ष्मणसिंह को भी था, तभी उन्होंने फिर प्रतिज्ञापूर्वक इन्शाअल्लाखाँ की भाँति हिन्दी के स्वाभाविक शुद्ध रूप को शकुन्तला के अनुवाद में स्पष्ट किया। यही कारण था कि ईसाई मिशनरियों ने आरम्भ में अपने धर्म प्रचार के कार्य के लिए उर्दू को न चुनकर 'हिन्दी' को चुना—वह हिन्दी जो स्वभाव से ही संस्कृतनिष्ठ थी और जिसके सम्बन्ध में डॉक्टर ग्रियर्सन को Linguistic Survey of India Vol. IX Part I में लिखना पड़ा था—

"Unfortunately. the most powerful English influence has during this period been of the Sanskritists. Ihis Sanskritized Hindi has deen largely used by missionaries and translations of the Bible have been made into it."

"दुर्भाग्यवश इस काल में अत्यन्त शक्तिशाली अंग्रेजी प्रभाव संस्कृतमयता की ओर रहा। ईसाई मिशनरियों द्वारा संस्कृतमय हिन्दी बहुत अधिक काम में लायी गयी और इसी में बाइबिल के अनुवाद किये गये हैं।"

जिस समय पादरियों को अपना प्रचार-कार्य करना पड़ा उस समय ग्रियर्सन साहब नहीं थे, अन्यथा वे पादरियों के कार्य को दुर्भाग्य नहीं बताते, यथार्थतः उस समय वही लोक-भाषा थी और यदि मिशनरियों को अपने प्रचार में सफलता पानी थी तो उनके लिए दूसरा मार्ग नहीं था। उन्हें जनता में प्रचार करने के लिए जनता की भाषा चाहिए थी। इन सब प्रमाणों से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है, कि हिन्दी लोक-भाषा थी और 'उर्दू' उससे अलग। उसी में कुछ विशेष वर्ग के शब्द प्रचलित शब्दों के स्थान में प्रयोग करके बनाये गये थे।

भला किस विज्ञान, विकास-शास्त्र, भाषाशास्त्र या मन्तक (तर्क शास्त्र) से यह सम्भव हो सकता है कि हजारों वर्ष से चली आने वाली संस्कृत और प्राकृत का यहाँ की लोक-भाषा पर कोई प्रभाव ही न रह जाये, और अरबी फारसी उसे आच्छादित कर ले। ऊपर के प्रमाणों से यह भी अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि लोकभाषा हिन्दी से यह विभेद हिन्दुओं द्वारा आरम्भ नहीं हुआ, न साधारण मुसलमान-जन द्वारा हुआ। यह विभेद मुसलमान विद्वानों द्वारा आरम्भ हुआ। क्यों ऐसा हुआ इसका विस्तृत स्पष्टीकरण पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'भाषा का प्रश्न' में किया है।

डाक्टर ताराचन्दजी ने यह तो माना है कि संस्कृत कुल हिन्द भाषा थी, तो वे यह भी मानेंगे कि उस भाषा ने समस्त भारत की भाषाओं को प्रभावित कर रखा था, और कर रखा है। वे न भी मानें पर आज यदि निष्पक्ष सर्वे किया जाय तो विदित होगा कि भारत की आर्य और अनार्य सभी भाषाओं पर संस्कृत का बहुत गहरा प्रभाव है। ग्राम्य बोलियों में भी अरबी-फारसी के इक्का-दुक्का शब्द मिलेंगे। भारतीय भाषाओं के शब्दों का मूल स्वाभाविक स्रोत संस्कृत रहा है।

डाक्टर ताराचन्दजी ने यही नहीं कि बहुत भ्रामक तर्क दिये हों उन्होंने विद्वेष उभारने वाली गलत बातें भी कही हैं। संस्कृत के साहित्य के सम्बन्ध में यह कहना कि वह एक सम्प्रदाय के द्वारा देववाणी मानी गयी और उसी खास सम्प्रदाय का धार्मिक साहित्य उस संस्कृत भाषा में भरा हुआ है, इसीलिए उसका महत्व है, क्या एक विद्वान के द्वारा ये शब्द! किसी भाषा का किसी धर्म से या सम्प्रदाय से गठबन्धन नहीं हो सकता। फिर संस्कृत का तो ऐसा सम्बन्ध और भी किसी सम्प्रदाय से नहीं माना जा सकता। आस्तिक-नास्तिक, बौद्ध-जैन, धार्मिक-अधार्मिक, चार्वाकी, वाममार्गी सभी ने संस्कृत में अपने भाव व्यक्त किये हैं—और संस्कृत ने कभी किसी का हाथ नहीं रोका। संस्कृत के इतने महान साहित्य को साम्प्रदायिक कहना उपहासास्पद है। संस्कृत का महत्व क्या इसलिए है कि वह एक धर्म की अभिव्यक्ति का माध्यम रही है। क्या जर्मन भाषाविज्ञानविद बॉप ने इसीलिए संस्कृत का अध्ययन किया था, और विश्व की आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया था? क्या

मैक्समूलर ने संस्कृत का अध्ययन इसीलिए किया था कि उसमें धार्मिक और साम्प्रदायिक साहित्य है। क्या विल्सन महोदय ने संस्कृत की साम्प्रदायिकता के कारण ही उसके अध्ययन के लिए प्रेरक संस्थायें स्थापित की थीं। कौन भाषा-वैज्ञानिक नहीं जानता कि पाश्चात्य विद्वानों के समस्त संस्कृत का उद्घाटन ही भाषा-विज्ञान को वह वैज्ञानिकता प्रदान करा सका जो उसे आज मिली है। क्या यह उनकी साम्प्रदायिक सम्मति ही है जिसके कारण इस युग में संस्कृत को इतना महत्व मिला है? हमारे डाक्टर साहब आज पुराने मैकाले साहब से भी बाजी मार ले जाना चाहते हैं। हिन्दी वाले यों कभी अरबी-फारसी के आवश्यक शब्दों के बहिष्कार करने के पक्ष में नहीं रहे। आज भी हिन्दी के बड़े से बड़े लेखक में अरबी फारसी के शब्दों को पाया जा सकेगा। हिन्दी वालों में राष्ट्र और राष्ट्रभाषा का भाव सदा रहा है, वे पाकिस्तान की ओर कभी नहीं झुके। फिर भी यदि यह प्रश्न उठे कि शब्द कहाँ से लिये जांय तो स्वाभाविक बात क्या होगी? आप गङ्गा के किनारे रहते हैं। क्या पीने के लिए "आबे जम जम" ही मंगायेंगे? हिन्दुस्तान के आम के बगीचों में घूम रहे हैं। क्या कोकिल की कूक से अपने कान बन्द कर लीजिएगा? संस्कृत की शब्दावली भारत की प्रत्येक भाषा की रग-रग में समा गयी है, और उसी के शब्द यहाँ की प्रकृति के अनुकूल हैं, फिर उससे शब्द न लेकर क्या अरब की भाषा से और फारसी से लीजियेगा? गङ्गा का पानी पीने वाले को आप किस मन्तक से साम्प्रदायिक कहेंगे? क्योंकि गङ्गा को एक सम्प्रदायवाले पूजते हैं, 'देव नदी' कहते हैं? इसलिए यदि आप उसका जितना ही अधिक पानी पायेंगे, उतने ही अधिक साम्प्रदायिक होते जायगे? क्या अनूठे सिद्धान्त है? कैसी ठोस दलीलें हैं! (ये डाक्टर साहब के शब्द ही दुहराये गये हैं,)। और हमें यह कहते बड़ा दुःख होता है, कि श्री० कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के उन शब्दों की व्याख्या जो उन्होंने जयपुर सम्मेलन के सभापति पद से कहे थे, अत्यन्त ही गलत की गयी, है। मुन्शीजी ने कहा था—

"हमें एक पल के लिये भी न भूलना चाहिए, कि हिन्दी उर्दू का सवाल जो विशेष रूप से देश के सामने है, भाषा का सवाल नहीं

है। वह तो सम्प्रदायी समस्या है, जिसे भाषा के सवाल का रूप दिया गया है।"

जिस रूप में मुन्शीजी ने समस्त प्रश्न रखा है, उससे यह स्पष्ट प्रकट होता है, कि वे हिन्दी को स्वाभाविक राष्ट्रभाषा मानते हैं। उनके उस ऐतिहासिक तर्क को स्वयं डाक्टर साहब ने अपने लेख में संक्षिप्त करके दिया है। तब यह उर्दू का झगड़ा क्या है? उर्दू को हिन्दी के समक्ष झगड़ा करने के लिये प्रस्तुत करने की योजना साम्प्रदायिक है, यह उद्योग हिन्दी वालों की ओर से नहीं, उर्दू वालों की ओर से हुआ है। हिन्दी वालों ने हिन्दी को कभी सम्प्रदाय की भाषा नहीं माना, और उस वाक्य में मुन्शीजी ने यही संकेत किया है कि उर्दू की ओर से जो हिन्दी को साम्प्रदायिकता की ओर घसीटने का उद्योग हो रहा है, उसी से हिन्दी वाले चतन्य रहें और उसे साम्प्रदायिक न बनने दें। वास्तव में लोक-भाषा हिन्दी है, जिसमें हिन्दू-मुसलमान-ईसाई सभी अपना माध्यम बनाते रहे हैं। उर्दू का साम्प्रदायिक भाषा बनाने का उद्योग सर सैयद अहमद खाँ साहब के समय से विशेष चेष्टा से आरम्भ हुआ। उन्होंने असारुस् सनादीद के चौथे बाब में लिखा था, "यह जबान बादशाही बाजारों में मुरव्वज थी। इस वास्ते उसको जबान उर्दू कहा करते थे, और बादशाही अमीर उमरा इसको बोला करते थे। गोया कि हिन्दुस्तान के मुसलमानों की यही जबान थी।" और साम्प्रदायिक भावना को सरकार के द्वारा सदा सहायता मिलती रही। गार्सां द तासी ने स्पष्ट लिखा:—

"ईस्ट इण्डिया कम्पनी की यह हिकमत अमली रही थी, कि उर्दू को हिन्दी से अलहदः तसव्वर किया जाय। चुनांचे उर्दू का जो जदीद अदब उस जमाने में पैदा हुआ, उसमें अरबी, फारसी के अलफाज बराबर इस्तेमाल किये जाते थे, बल्कि उन अल्फाजों को तरजीह दी जाती थी।" एक दूसरे स्थान पर लिखा है:—

"उर्दू की अशाअत में अङ्गरेजी की हुकूमत भी हत्तलमकदूर माली इमदाद कर रही है और हर तरह से उसकी हिम्मत अफजाई में कोशी है।"

विदेशी सरकार की वही हिकमत अमली बराबर रही। राजा शिवप्रसाद का एक दम रुख बदल जाने का भी कुछ कारण इसी

नीति में मिलेगा। भारत के स्वतन्त्र होने से पूर्व तक वैसा ही उद्योग हो रहा था। अतः साम्प्रदायिकता के साथ कूट राजनीति का पुट भी कहीं बहुत पीछे लगा हुआ था। मुन्शीजी ने हिन्दी-उर्दू झगड़े की यही असली बुनियाद बतायी थी। उर्दू जैसी बनावटी भाषा और देश की भूमि से कम सरोकार रखने वाली भाषा आज यों लोक-भाषा हिन्दी से आँखें मिलाने को तैयार है, तो उसका कारण है, कि साम्प्रदायिक जोश ही उसे सम्हाले हुए है। जब स्वाभाविक स्थिति देश में उपस्थित होगी, तो यह निर्विवाद है कि जन सम्पर्क और देश की प्रकृति इस विरोध को दूर कर देगी। भाषा किसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं रखती, भले ही किसी ने उसमें अपने धर्म-ग्रन्थ लिख डाले हों। भाषा बहती हुई नदी है। उसमें से सभी सम्प्रदायों और जातियों को अपनी पिपासा शान्त करने का अधिकार है।

भाषा-विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है, कि हिन्दी उर्दू के निकट है। हम देख चुके हैं कि हिन्दी का जन्म उर्दू से बहुत पहले हो चुका, अतः हिन्दी को उर्दू के निकट बताना घोड़े के आगे गाड़ी जोतने के समान या उल्टी गङ्गा बहाने के समान है। प्राकृत और अपभ्रंश में होकर जो ध्वनियां आयीं वही हिन्दी की अपनी हुईं। उसी प्रकार व्यञ्जन भी। इसी हिन्दी में से उर्दू बना ली गयी। फलतः उर्दू रूपरेखा में हिन्दी से कुछ मिलती है। हिन्दी-वालों ने हिन्दी रूपरेखा सुरक्षित रखी है, जबकि उर्दू वाले उसे फारसी के मुहावरे पर ढाले जा रहे हैं। और बिगाड़ दे रहे हैं। उदाहरण के लिये बहुवचन बनाने की प्रणाली हिन्दी वाले यथावत् पालन कर रहे हैं, पर उर्दू वाले कागज न कह कर 'कागजात' कहते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता कि यथार्थतः हिन्दी ही हिन्दी है, उर्दू बनावटी होती जा रही है, वह अपना व्याकरण भी उधार लेने लगी है। इस विशेषता की ओर डा० ग्रियर्सन ने भी ध्यान दिया था—

The influence of Sanskrit mry have retarded this development, and probably did so in some cases, but it never stopped it, and not one single Sanskrit grammatical form has been added to the living grammars of these languages in the way that Sanskrit

words have been added to vocabularies. Nay more, all these borrowed Tatsams are treated by the vernacular recently as other borrowed foreign words are treated, and very rarely change their forms in the process of grammatical accidence.

संस्कृत के संयुक्त अक्षरों को असंयुक्त करके प्राकृत और अपभ्रंश भाषायें लेती रहीं। वह प्रवृत्ति हिन्दी में है, अब वह तद्भव शब्द लेती है। यही दशा कारकों, लिङ्गों और वचनों की है। व्याकरण या ग्रामरी कायदों में हिन्दी संस्कृत से दूर कितनी ही हो पर वह संस्कृत-प्राकृत के विकास की परम्परा में रही है।

उपरोक्त विचार विमर्श से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दुस्तानी के हिमायतियों के ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक समस्त आरोप इतिहास विरुद्ध हैं तथा तर्क-बुद्धि के लिये असंगत है।

हां, एक बात उन्होंने बहुत साफ कर दी है, वह यह कि 'हिन्दुस्तानी' नाम 'उर्दू' का है, और इसलिए उर्दू ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। अब तक कुछ ही लोग इस रहस्य को समझते थे। पर डाक्टर साहब ने यह रहस्य बिलकुल स्पष्ट कर दिया कि हिन्दुस्तानी का नाम दरअसल 'उर्दू' ही है। रेडियो से भी हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू बोली जाती रही थी, डाक्टर साहब भी हिन्दुस्तानी को 'उर्दू' कहते हैं। निश्चय ही यह हिन्दुस्तानी कभी लोक-भाषा नहीं हो सकती; न राष्ट्रभाषा ही हो सकती है।

हिन्दी का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं है। समस्त हिन्दी-भारत भारतीय राष्ट्रीयता के भावों से ओत-प्रोत है। वह हिन्दी को यथार्थ राष्ट्रभाषा के रूप में यानी देशी रूप में पसंद करता है। किसी भी भाषा विशेष से उसको क्षोभ नहीं। वह जानता है कि हिन्दी उसकी जीवित भाषा है। अतः वह यह भी मानता है कि आवश्यकतानुसार सभी ओर से शब्द लेने चाहिए, वह चाहे अङ्गरेजी हो, फारसी हो, अरबी हो, उन्हें अपना बना लेना चाहिये। अपनी प्रवृत्ति में ढाल लेना चाहिये और यदि नये शब्दों को ढूंढकर लेने की आवश्यकता पड़े, तो यथा सम्भव वे संस्कृत से लिये जाने चाहिये—क्यों? क्यों कि फारसी और अरबी की तुलना में संस्कृत

भारत देश की है। यह कौनसी बुद्धिमानी है कि अपने घर के भंडार में शब्द भरे पड़े हों और मनुष्य दूसरे देशों में जाकर मांगता फिरे, दर-दर भीख माँगता फिरे। ऐसी नीतिका प्रतिपादन [illegible] हैं जिन्हें या तो भारतवर्ष अपना देश नहीं प्रतीत होता [illegible] किसी और देश को अपना देश मानते हैं। ऐसे भूले हुए भारत [illegible] को सही मार्ग पर लाने की चेष्टा होनी चाहिए न कि उन [illegible] के लिए अस्वाभाविक और गलत रास्ता अख्तियार [illegible] या ऐसी नीति का प्रतिपादन वे ही कर सकते हैं जि[illegible] चूपड़ी' मन ललचा आता है—ऐसों से यही कहा जा सकता है कि "देखि पराई चूपड़ी, मत ललचावे जीउ।"

पर 'स्वतन्त्र भारत' में डा० ताराचन्द और हिन्दुस्तानी के हिमायतियों का पलड़ा परिस्थितियों से स्वयं नीचा हो गया है। युक्तप्रान्त ने 'हिन्दी' को अपने प्रान्त का माध्यम घोषित कर दिया है। उसके बाद कई अन्य प्रान्तों ने ऐसा ही किया है। फिर भी 'हिन्दी' राष्ट्रभाषा बनेगी यह सुनिश्चित नहीं।* नयी स्थिति में नई दृष्टि से पुरानी बातें नये अर्थ ग्रहण करने लगी हैं। इस समय तीन अड़चनें हिन्दी के सामने हैं:—

१—एक महात्मा गांधी जी की इच्छा को पूर्ण करने का मोह,

२—प्रान्तीयता का जोश।

३—अंग्रेजी की गुलामी का अवशेष।

---

* जब यह लेख लिखा गया था उस समय तक विधान-परिषद ने राष्ट्र-भाषा सम्बन्धी कोई निर्णय नहीं किया था। किन्तु अब हम सही जानते हैं कि भारत के संविधान में यह स्वीकार कर लिया गया है कि देव नागरी लिपि में लिखी जाने वाली 'हिन्दी' ही राष्ट्र भाषा होगी। किन्तु समस्त देश में इसके प्रचलन के लिए १५ वर्ष का अवकाश दिया गया है। इस अवकाश से लाभ भी हैं और खतरे भी। अतः राष्ट्र-भाषा सम्बन्धी विश्वास हो जाने पर भी बिना उद्योग किये, और बिना दृष्टि को स्पष्ट रखे काम नहीं चल सकता। बम्बई में मिनिष्टरों के भाषण और काका कालेलकर के 'मङ्गल प्रभात की टिप्पणियों से भय की दिशा जानी जा सकती है।

अभी अंगरेजों की गुलामी से मुक्त हुए एक वर्ष दो महीने ही हो पाये हैं, अंग्रेजियत की गुलामी से मुक्त होने में और भी अधिक समय लगेगा। अधिकांश पढ़ा लिखा वर्ग अंग्रेजी और अंगरेजियत में गर्व अनुभव करता था। विश्वविद्यालय के अध्यापक अंगरेजी छोड़ने में भयभीत हो रहे हैं। उन्हें अपने पैरों तले से जमीन खिसकती प्रतीत हो रही है। जिन्हें वे अबतक हिन्दी का 'पण्डत' कहकर एक विनोद की वस्तु समझते रहे थे और प्रोफेसर शब्द के योग्य जिन्हें नहीं समझा जाता था, उनके सामने उनका मुख लटके, यह भयंकर क्षोभ उनके सामने है। वे उसी की रक्षा के लिये तर्क देते हैं कि—

१—हिन्दी में पारिभाषिक शब्द नहीं हैं, हिन्दी अभी असमर्थ माध्यम है।

२—अंग्रेजी ने भारत भर को एकता के सूत्र में बांधा है, और कई शताब्दियों में यह कार्य सम्पादित किया है, हमें उसके इस उपकार को मानना चाहिए और उसे अपदस्थ नहीं करना चाहिये।

३—अंग्रेजी से अन्तर्राष्ट्रीय कार्य में सुविधा है। वह हमारा देश विदेश से सम्बन्ध कराती है। अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान दिलाने में भी यही सहायक हो सकती है; इसी के द्वारा हमारे ज्ञान का क्षितिज विस्तृत हो सकता है।

यथार्थ देखा जाय तो स्वतन्त्र देशों में इन तीनों-तर्कों का कोई अर्थ नहीं रहता। सभी देश अपनी भाषा के बल पर बलवान होते हैं। उसी के माध्यम से वे ऊंचे से ऊंचा ज्ञान उपार्जित करते हैं। और उसी के द्वारा अन्तर्राष्ट्रिय क्षेत्र में कार्य करने की क्षमता भी पाते हैं। भारत एक है और सदा एक रहा है,—अपनी संस्कृति के कारण: विष्णु ब्रह्मा, शिव और राम-कृष्ण के कारण; अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण: हिमालय और समुद्र ने इसे एक बना दिया है; और भाषा और साहित्य की दृष्टि से संस्कृत-भाषा के कारण जो ब्रह्म की भाँति आज भी भारतीय भाषाओं के घट-घट में व्याप्त है। स्वतन्त्र भारत जितना ही बल प्राप्त करता जायगा, उतना ही उसका अंग्रेजी, और उसकी भूमि और उसकी शैली से विच्छेद का व्यवधान बढ़ता जायगा, तब अंग्रेजी भाषा के लिये सम्पति हमें कहां मिलेगी? हमें यदि अपने रूप का विकास करना है तो अपनी ही भाषा को अपनाना

होगा। उसकी कमी को पूरा करना होगा। [illegible] कौनसी भाषा परिपूर्ण है? प्रत्येक भाषा को आवश्यकतानुरूप अपनी समृद्धि करनी पड़ती है। हिन्दी भी कर रही है और करेगी।

'प्रांतीयता के जोश के लिये क्या कहा [illegible] प्रांतीय भाषाओं और बोलियों का अपना स्थान है। उन्हें अपनी [illegible] सीमा को समझ लेना चाहिए। कोई भी राष्ट्र ऐसा नहीं होता [illegible] मात्र एक ही भाषा हो। राष्ट्रभाषा का प्रांत की भाषा से [illegible] नहीं [illegible] प्रांतीय भाषाओं का विशेष पक्ष बंगालियों और [illegible] रहा है। बंगालियों में अपने साहित्य की महत्ता का अभि[illegible] की भावना से हिन्दी को देख कर कहते हैं कि ए[illegible] [illegible] का महत्व हम समृद्ध भाषा के पुजारियों पर स्थापित हो रहा है, और वे बिदक जाते हैं। मद्रास की ओर से सांस्कृतिक भेद की बात कही जाती है। उनमें अब द्राविड़त्व जागृत हो रहा है और आर्यत्व से महानता की चुनौती के लिए वे चेतन्य बनाये जा रहे हैं। हिंदी किसी साहित्य की महत्ता को कम नहीं करती, वह तो मात्र राष्ट्र के माध्यम का स्थान ग्रहण करना चाहती है। क्या अंग्रेजी के आधिपत्य ने किसी भी प्रकार बंगाली को समृद्ध होने से रोका था। परतन्त्रता के युग में राजा की भाषा जो नहीं कर सकी, उसे उन्ही की अपनी भाषा का एक रूप कैसे कर सकता है? और यह समय अहंम्मन्यता में समस्यायें खड़ी करने का नहीं। 'हिन्दी' के द्वारा किसी प्रांत की प्रान्तीयता भी किसी प्रान्त पर हावी नहीं होना चाहता। वस्तुतः 'हिन्दी' नामका कोई प्रान्त नहीं, और 'हिन्दी' किसी भी ऐसे प्रदेश की भाषा नहीं जिसमें किसी प्रान्तीयता का अभिमान हो। राहुलजी के मत से तो 'हिन्दी' मेरठ के ढाई जिलों की ही भाषा है, पर यथार्थ में तो ऐसा भी नहीं, जो हिन्दी है, जिसे कलकत्ता ने उभारा है, काशी ने पोसा है, पंजाब ने जिसकी हिमायत भरी है वह मेरठी बोली का कुछ प्रवृत्तियां को लिये हुए अवश्य है, पर वह मेरठी नहीं। जिसे हिन्दी का प्रांत कहा जाता है, उसमें सब क्षेत्रों में अपनी बोलियां हैं, और ऐसी बोलियां हैं जिनमें सूर, तुलसी, केशव, मीरा से कवि हुए हैं, जिनका साहित्य किसी भी देशी बोली के साहित्य से कम नहीं। अतः हिन्दी के साथ किसी प्रान्त या प्रदेश का वैसा सम्बन्ध नहीं जैसा बङ्गाली का बंगाल, मराठी का महाराष्ट्र आदि से है। यह तो हिन्द